3

आदर्शवाद

(Idealism)

o

आदर्शवाद राजनीतिक दर्शन की एक प्रमुख और प्राचीनतम विचारधारा है। इसे अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता है। सत्तावादी सिद्धान्त (Absolutist theory), दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical Theory), आध्यात्मिक सिद्धान्त (Metaphysical Theory), आदि इसके अनेक नाम हैं। मैकाइवर ने इसे एक और नाम दिया है, और वह है रहस्यवादी सिद्धान्त (Mystical Theory)। वस्तुतः इन सब विभिन्न नामो का कारण है आदर्शवाद की सामान्य से भिन्न, पृथक् और प्रभावशाली विश्लेषण पद्धति और विषय को समझने-समझाने की दृष्टि। आदर्शवाद सशक्त दार्शनिक आधार से युक्त एक विचार है, इसी कारण वह प्रायः नयी मान्यताओ, प्रस्थापनाओं और मूल्यो को विकसित कर सका, उदाहरण के लिए राज्य के प्रति उसके दृष्टिकोण को लिया जा सकता है। सामान्यतः राज्य के सम्बन्ध मे जो विचार व्यक्त किए गए हैं उनमें लगता है कि राज्य एक राजनीतिक सस्था है, अथवा वह उपयोगिता के कारण अस्तित्व मे आया है और इस प्रकार वह एक उपयोगी सस्था है, अथवा वह सविद का परिणाम है, अथवा वह एक वर्ग विशेष के हितो का सरक्षण करने वाली सस्था है, अथवा वह शक्ति का केन्द्र है, अथवा वह समाज मे शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने वाली एक सस्था है। पर आदर्शवाद के लिए उपरोक्त कोई भी मत सत्य नही है, वह इनमे से किसी भी मत का समर्थक नही है, उसके दृष्टिकोण के अनुसार उपरोक्त कोई भी विचार राज्य के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन नही करते और न उसके सही और उचित महत्त्व को प्रकाशित करते हैं। ये सब ऊपरी धरातल पर किये गये निरर्थक और स्थूल विचार हैं। वास्तविकता यह है कि राज्य एक नैतिक सस्था है। बहुत पूर्व प्लेटो ने कहा था कि "राज्य व्यक्ति का बृहद् रूप है।" मनुष्य और राज्य की रचना मूलत: एक-सी है। अरस्तू एक दूसरे रूप मे इसी बात को इस प्रकार कहता है कि "राज्य सभ्य जीवन की प्रथम आवश्यकता है" अर्थात् राज्य के बिना हम सभ्य जीवन को प्राप्त ही नही कर सकते। लगभग इसी विचार को एक दार्शनिक ऊँचाई देते हुए

बोसांके कहता है कि "राज्य एक नैतिक विचार का मूर्त रूप है" (An embodiment of ethical idea)। नैतिक विचार क्या है—स्वय का पूर्ण विकास ; अर्थात् राज्य स्वय के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है। हम राज्य के अभाव मे पूर्ण विकास नही कर सकते। बिना राज्य के मानव आत्मा अपने पूर्ण विकसित स्वरूप को प्राप्त नही हो सकती। इस क्रम मे हीगल का कथन गलत नही है जब कि वह कहता है कि "सामाजिक आचार की उच्चतम कला राज्य मे व्यक्त होती है। राज्य विवेक का सर्वोच्च रूप है और वही यथार्थता का संरक्षक है।" राज्य के प्रति ही आदर्शवाद का ऐसा दृष्टिकोण है, सो बात नही है। मनुष्य और जगत् से सम्बन्धित अन्य प्रश्नो के सम्बन्ध मे भी आदर्शवाद की सुविचारित मान्यताएँ और स्थापनाएँ हैं।

आदर्शवाद अंग्रेजी के आइडियलिज्म (Idealism) शब्द का हिन्दी अनुवाद है। पर 'आइडियलिज्म' शब्द की कुछ विशिष्ट भावगत विशेषताएँ हैं जो हिन्दी के शब्द 'आदर्शवाद' से अलग हैं। अंग्रेजी के आइडियलिज्म शब्द की व्युत्पत्ति आइडिया (Idea) शब्द से हुई है, जिसका मूल अर्थ 'विचार' होता है; अतः आइडियल का अर्थ हुआ विचार-सम्बन्धी। इससे यह स्पष्ट होता है कि विचार ही पूर्ण है अथवा पूर्णता विचारो मे ही सम्भव है। जगत् में यथार्थ रूप मे जो भी हमे दीखता है वह वैसा ही नही होता, वह परिवर्तनशील, अस्थायी और सीमित होता है अतः अपूर्ण होता है। भौतिक रूप मे अथवा पदार्थ रूप में जो भी है वह परम, अनन्त और शाश्वत का पूर्ण प्रकाशन नही कर सकता, अतः वह पूर्ण नही है। फिर पूर्ण क्या है ? पूर्ण वह है जो परम, अनन्त, और शाश्वत हो अथवा उसका पूर्ण प्रकाशन करे। पर इनका पूर्ण प्रकाशन कहाँ हो सकता है ? यह प्रकाशन विचार मे ही सम्भव है, अतः विचार ही पूर्ण है, यथार्थ नही। सत्य शिव सुन्दर को पूर्णतः हम उसके विचार में ही प्राप्त कर सकते हैं। एक उदाहरण लें। हम एक सुन्दर दृश्य देखें—एक सुन्दर सरोवर मे कई सहस्रदल कमल खिल रहे हो। दृश्य बड़ा मनोहारी है, पर सौंदर्य का पूर्ण प्रकाशन इसमें नहीं है। उसका पूर्ण प्रकाशन तो सौन्दर्य के विचार मे ही सम्भव है, जैसे —क्या ही सुन्दर हो यदि दूध का सरोवर हो और उसमे नवनीत के कई सहस्रदल कमल खिल रहे हो। इससे भी पूर्ण एक और विचार है जिसमे सौन्दर्य का पूर्ण प्रकाशन है—अमृत का सरोवर हो और उसी के एक रूप के कई सहस्रदल कमल खिले हो, चन्द्रमा की स्निग्ध चाँदनी अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य को उस पर उँडेल रही हो। कितना मनोहारी और परम सौन्दर्य को उद्घाटित करने वाला वह दृश्य होगा इसका कोई वर्णन नही। पर क्या यह सम्भव है ? यह विचारों मे ही सम्भव है, सौन्दर्य के विचार मे ही सम्भव है, दृश्य जगत् मे नही। एक दूसरा उदाहरण लें—हम कोई सुन्दर रूपवान् चेहरा देखे, पर क्या वह परम सुन्दर है ? नही, उसमे भी कुछ कमी हमको दीखने लगती है। लगता है कि अमुक-अमुक बातें यदि हों तो यह और भी सुन्दर लगे—उससे भी अच्छी सुन्दरता का विचार हम करने लगते हैं। और फिर जब हम उस सौन्दर्य को देखते हुए उसके बारे मे विचार करने लगते हैं तो लगता है कि यह भी

उसी मांस, मज्जा, रक्त ग्रादि का है जिसके कि ग्रन्य रूप हैं। जरा भी यदि छिन गया तो तुरन्त ही मांस निकल ग्राता है, पूरे चेहरे का सौन्दर्य समाप्त हो जाता है ग्रौर चेहरा भद्दा हो जाता है। तब उस चेहरे के प्रति मन मे जो ग्राकर्षण का भाव था वह लुप्त हो जाता है ग्रौर उसके स्थान पर घृणा ग्रौर नफरत पैदा हो जाती है। इन दोनों उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य का पूर्ण प्रकाशन किसी मूर्त वस्तु मे नही ग्रपितु सौन्दर्य के विचार में ही सम्भव है। ग्रर्थात् ग्रादर्श का ग्रर्थ विचारगत तो है ही पर साथ ही उसका लाक्षणिक ग्रर्थ भी है ग्रौर वह है 'पूर्ण' ग्रथवा 'सर्वोत्कृष्ट'। यही कारण है कि ग्राइडियलिज्म का हिन्दी रूपान्तर ग्रादर्शवाद हो गया।

ग्रादर्शवाद दृश्य जगत् ग्रथवा भौतिक पदार्थों की ग्रपेक्षा मूल सत्य को ग्रधिक महत्त्व देता है। इसके ग्रनुसार यह दृश्यमान् जगत किसी परम चेतन सत्ता की सृष्टि है। एक चेतन तत्त्व ही ग्रनेक रूपो मे व्यक्त हुग्रा है, चर-ग्रचर जो भी है उस सब में उसी का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है, जड-चेतन जीवधारी सभी उसके रूप हैं, उसी से इनका विकास होता है ग्रौर ग्रन्त में उसी एक तत्त्व में ये सब लीन होते है। तब नानात्व का संकोच होता है। यह ऐसे ही है जैसे मकडी ग्रपने मे से ही जाले को उद्‌भूत करती है ग्रौर ग्रपने में ही जाले को वापिस ले लेती है।

यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है—यदि चेतना (ग्रात्मा) विकास का मूल है तो उसे जानना ग्रावश्यक है ग्रौर राजनीतिक दृष्टि से यह भी समझना ग्रावश्यक है कि राज्य का उससे क्या सम्बन्ध है ? ग्रर्थात् हमें राज्य का ग्राध्यात्मिक विश्लेषण करके यह सोचना होगा कि उसका ग्रात्मा से ग्रथवा बुद्धि से क्या सम्बन्ध है। ग्रादर्शवाद राज्य की उत्पत्ति के ग्राध्यात्मिक कारण को स्पष्ट करते हुए राज्य का ग्राधार चेतना ग्रथवा ग्रात्मा है इस तथ्य को बतलाता है।

ग्रादर्शवाद ने उपरोक्त तथ्य को कैसे सिद्ध किया है ? ग्रादर्शवादी सिद्धान्त के ग्रनुसार राज्य हमारी नैतिक मनोवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम है। जिस प्रकार हमे शारीरिक ग्रावश्यकताग्रो की पूर्ति के लिए भोजन, वस्त्र ग्रादि चाहिएँ ग्रौर उनको उत्पादित करने वाले समुदाय चाहिएँ, ठीक उसी प्रकार हमे ग्रपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए राज्य ग्रौर उसकी व्यवस्थाएँ (नियम ग्रादि) चाहिएँ। उसके बिना विकास सम्भव नही। ग्रत राज्य कृत्रिम ग्रथवा मनुष्य द्वारा निर्मित सस्था नही है, ग्रपितु यह स्वाभाविक ग्रौर मानव जीवन का ग्रवश्यम्भावी परिणाम है, तभी तो ग्ररस्तू कहता है कि "मनुष्य राजनीतिक प्राणी है।" राज्य मे रहकर ही हम परम मगल को प्राप्त करते हैं ग्रौर ग्रपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकते हैं।

ग्रादर्शवाद का इतिहास

ग्रादर्शवाद की परम्परा काफी प्राचीन है। एक राजनीतिक विचारधारा के रूप मे ग्रादर्शवादी मान्यताग्रो का उल्लेख ईसापूर्व प्लेटो के विचारो मे मिलता है। उसने राज्य की उत्पत्ति ग्रौर विकास को कृत्रिम न मानकर स्वाभाविक ग्रौर प्राकृ-

तिक माना। उसने स्पष्टतः कहा कि राज्य किसी पत्थर अथवा लकड़ी से उत्पन्न नहीं हुआ, अपितु वह मनुष्य के मस्तिष्क की उपज है। राज्य आत्मा का ही बाह्य प्रकट रूप है। जिस प्रकार आत्मा के तीन मुख्य तत्त्व होते है, यथा बुद्धि, साहस, क्षुधा, उस प्रकार राज्य मे भी तीन वर्ग होते हैं—शासक, सैनिक, उत्पादक। अतः प्लेटो कहता है कि राज्य आत्मा का ही बाह्य और बड़ा रूप है। प्लेटो के पश्चात् अरस्तू ने भी राज्य को प्राकृतिक संस्था माना, उसका भी विचार था कि राज्य का विकास हुआ है, निर्माण नही। उसने कहा कि राज्य की उत्पत्ति मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुई है और उसका अस्तित्व जीवन को अच्छा बनाने के लिए बना हुआ है। पहिले व्यक्ति अकेला, फिर परिवार, परिवार का विस्तार होकर ग्राम, और अनेक ग्रामो से मिलकर राज्य, यह विकास क्रम है अर्थात् राज्य का विकास मानव-प्रकृति के विकास के साथ हुआ।

प्लेटो और अरस्तू के पश्चात् सत्रहवी शताब्दी तक आदर्शवाद की कोई परम्परा देखने को नही मिलती। पुनर्जागरण के समय मे टॉमस मूर (Thomas Moore) की पुस्तक यूटोपिया *(Utopia)* मे अवश्य पुनः आदर्शवादी विचार उभरे, अत यदि मूर को छोड दिया जाय तो शताब्दियो तक आदर्शवाद की परम्परा मे कोई उल्लेखनीय प्रगति नही हुई। वस्तुतः मध्ययुग का समय चर्च और राज्य के बीच संघर्ष का युग रहा, अत उस समय की परिस्थितियाँ आदर्शवादी चिन्तन के अनुकूल नहीं थी।

उन्नीसवी सदी के मध्य मे पुन. ऐसी प्रवृत्तियाँ उभरी जो आदर्शवादी थीं। मेक्गवर्न (McGovern) का विचार है कि जब उदारवाद अपने सामने प्रस्तुत प्रत्येक वस्तु को प्रभावित कर रहा था, उस समय राजनीति दर्शन के एक नवीन स्कूल के रूप मे आदर्शवाद उदित हो रहा था।[1]

वर्तमान युग मे आदर्शवाद के उदय के कारण को बतलाते हुये वेपर (Wayper) का कहना है कि अठारहवी सदी के अन्त और उन्नीसवी सदी मे लोग राज्य सम्बन्धी यान्त्रिक अवधारणा से ऊब चुके थे।[2] आधुनिक युग मे आदर्शवाद की विचारधारा का पुनरुत्थान रूसो (Rousseau) के विचारो से हुआ। रूसो का सामान्य इच्छा (General will) का सिद्धान्त आधुनिक आदर्शवाद की आधार-शिला बना। उसका निर्णायक प्रभाव आगे के आदर्शवादियो पर पडा। न केवल जर्मन

[1] And yet at the very time when liberalism seemed to be sweeping everything before it, there was arising a new school of political philosophy, the so called Idealist school, which aimed, very adroitly, at undermining the whole framework of the liberal creed. —McGovern, ***From Luther to Hitler.***

[2] 'Towards the end of the 18th and increasingly throughout the 19th century men became dissatisfied with the theory which regarded the state as a machine.' —Wayper, ***Political Thought***, **p. 130.**

आदर्शवादी, अपितु ब्रिटेन के विचारकों को भी उसने काफी प्रभावित किया तथा आदर्शवाद की परम्परा को शक्तिशाली बनाया।

रूसो के पश्चात् आधुनिक आदर्शवाद दो भागों में बँट गया, एक जर्मन आदर्शवाद, दूसरा ब्रिटिश आदर्शवाद। जर्मनी मे आदर्शवाद को कान्ट (Kant, 1724–1804), फिक्टे (Fichte, 1762–1814) और हेगेल (Hegel, 1770–1831) ने बड़े पाण्डित्यपूर्ण ढग से विकसित किया और सर्वोच्च स्थिति तक पहुँचाया। ब्रिटेन मे इसे एक वर्ग ने आगे बढाया तथा अपनाया जिसे 'आक्सफोर्ड स्कूल' का वर्ग कहा गया, इसमे ग्रीन (Green, 1836–1882), ब्रेडले (Bradley, 1846–1924) तथा बोसांके (Bosanquet, 1848–1923) प्रमुख थे।

इमेनुअल कान्ट (Immanual Kant, 1724–1804)

जर्मन आदर्शवाद का प्रारम्भ कान्ट से हुआ है। वह कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय (Koenigsberg University) मे तर्कशास्त्र और दर्शनशास्त्र का प्राध्यापक था। उसके विचारो पर रूसो और मॉन्टेस्क्यू का गम्भीर प्रभाव पडा। डनिंग (Dunning) का कहना है कि "राज्य के उद्भव और रूप के सम्बन्ध मे कान्ट का सिद्धान्त ठीक वही है जो रूसो का था, और उसे उसने अपनी भाषा में स्वय की तर्कनीति के साथ व्यक्त किया है। इसी प्रकार सरकार का विवेचन करने में वह मॉन्टेस्क्यू का अनुसरण करता है।"[3] कॉन्ट के विचार अनेक पुस्तकों मे मिलते हैं पर उसकी दो पुस्तकें काफी प्रसिद्ध हैं :

(i) *Critique of Pure Reason* (1781)

इसमे तत्वज्ञान और बौद्धिक सवितशास्त्र की विवेचना है।

(ii) *Critiques of Practical Reason* (1788)

इसमे नीति-शास्त्र की मीमासा है।

कान्ट के पूर्व कुछ भिन्न प्रकार की दार्शनिक मान्यताएँ स्थापित हो रही थी। धर्म के प्रति अविश्वास तो जन्म ले ही रहा था, साथ ही ह्यूम का सशोधनवाद विचार-जगत् मे काफी प्रभावशील था। ह्यूम का मत था कि सभी प्रकार का ज्ञान हम इन्द्रियजन्य अनुभव द्वारा प्राप्त करते हैं। इन्द्रियाँ हमारे ज्ञान का स्रोत हैं। पर इन्द्रियजन्य ज्ञान से नित्य सत्य का पता नही चलता, वह ज्ञान सशयात्मक होता है, कारण अनुभव से जो ज्ञान हमे प्राप्त होता है उससे केवल सम्भावनाओ का ही पता चलता है।

[3] "His doctrine as to the origin and nature of the state is merely Rousseau's, put into the garb of Kantian terminology and logic, his analysis of government follows Montesquieu in like manner"

Dunning, *A History of Political Theories From Rousseau to Spencer*, p. 131.

कान्ट ने ह्यूम के इस सिद्धान्त को गलत ठहराया। उसने कहा कि हमें ज्ञान बुद्धि के द्वारा प्राप्त होता है, केवल इन्द्रियो के द्वारा नही। बुद्धिहीन व्यक्ति केवल इन्द्रियो से ठीक ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। जिस ज्ञान को हम इन्द्रियो से प्राप्त करते हैं उसे बुद्धि के द्वारा सुव्यवस्थित किया जाता है, उसके बाद ही हम कुछ समझ पाते हैं।

कान्ट का विचार है कि बुद्धि के दो पक्ष होते हैं—एक शुद्ध बुद्धि (Pure reason) और दूसरा व्यावहारिक बुद्धि (Practical reason)। शुद्ध बुद्धि दृश्य जगत् (Phenomenal world) का निश्चयात्मक ज्ञान कराती है, पर यह बुद्धि देश-काल तथा कार्य-कारण (Causation) की सीमाओं से सीमित होती है। अतः शुद्ध बुद्धि के द्वारा जो भी हम सोचते-समझते हैं वह भी देश-काल, कार्य-कारण की सीमाओं के भीतर ही होता है। इससे हमे दृश्य जगत का ही निश्चयात्मक ज्ञान हो पाता है। शुद्ध बुद्धि मे इससे आगे सोचने की सामर्थ्य नही है। अतः जो दृश्य जगत् से आगे है तथा जो इसके मूल मे है उसका पता हमे शुद्ध बुद्धि से नही हो पाता। दूसरे शब्दों मे आत्मा, परमात्मा अथवा जगत् का वास्तविक स्वरूप क्या है इसका उत्तर शुद्ध बुद्धि नही दे पाती। तब प्रश्न यह है कि इसका उत्तर कौन देगा ? कान्ट के अनुसार इसका उत्तर व्यावहारिक बुद्धि (Practical reason) देती है। व्यावहारिक बुद्धि का दूसरा नाम इच्छा शक्ति (Will) है।

व्यावहारिक बुद्धि से हमे क्या मिलता है ? दृश्य जगत् के मूल मे क्या है यह तो व्यावहारिक बुद्धि हमे बतलाती ही है, पर साथ ही वह हमे कर्त्तव्य-पालन के लिए भी प्रेरित करती है। इस प्रकार निरपवाद कर्त्तव्यादेश (Categorical imperative of duty) व्यावहारिक बुद्धि का मौलिक नियम है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हमें सभी प्रकार के कार्य लाभ-हानि अथवा उपयोगिता के विचार के आधार पर नही करने चाहिएँ अपितु कर्त्तव्य की भावना से करने चाहिएँ। हमें कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य करना चाहिए, चाहे उसके परिणाम कुछ भी क्यो न हो। पर यही कान्ट का दूसरा विचार प्रारम्भ होता है। कान्ट का कहना है कि 'इच्छाशक्ति' (Freedom of will) हो, तभी हम कर्त्तव्य-बुद्धि के अनुसार कार्य कर सकते हैं अन्यथा नही। इसका कारण यह है कि हमारी कर्त्तव्य-बुद्धि स्वतन्त्रता के वातावरण मे ही हमारा सही और सत्य मार्गदर्शन कर सकती है। मनुष्य मे उसी समय सही कार्य करने का विचार आ सकता है जब कि वह स्वतन्त्र हो। कारण, पराधीनता की स्थिति मे उस पर उचित-अनुचित के उत्तरदायित्व का भार नहीं सौंपा जा सकता।

प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रता चाहता है। स्वतन्त्रता मनुष्य को आवश्यक भी है। पर प्रत्येक की स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता के साथ जुड़ी हुई है, ऐसी स्थिति मे यह आवश्यक है कि समाज मे रहने वाले मनुष्यो मे परस्पर सघर्ष न हो। कारण, सघर्ष होने पर स्वतन्त्रता की स्थिति समाप्त हो सकती है। अतः समाज में सभी के बीच सामञ्जस्य और तालमेल बना रहे इसलिए राज्य की आवश्यकता है। अतः राज्य

व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित करने के लिए नही पर उसे अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए है। इस रूप मे राज्य हमारे नैतिक जीवन के लिए परम आवश्यक है। राज्य एक आवश्यक बुराई नही है जैसा कि व्यक्तिवादी कहते हैं, इसके विपरीत राज्य अनिवार्य और श्रेष्ठ सस्था है। और फिर क्योकि वह स्वतन्त्रता का पोषक है तथा स्वतन्त्रता नैतिकता के लिए आवश्यक है, अतः राज्य एक नैतिक सस्था है। पर इतना होने पर भी वह साध्य नही है अपितु श्रेष्ठ नैतिक जीवन का साधन है। व्यक्ति क्योकि राज्य मे रहकर अपनी आत्मा का विकास करता है अत. राज्य आत्म-विकास का साधन है।

इस प्रकार कान्ट ने एक सशक्त धारणा को स्थापित किया जो राज्य को नैतिक और अनिवार्य तो मानती है पर उसके सावयवी रूप (Organic Nature) को अस्वीकार करती है। कान्ट व्यक्ति के स्वतन्त्रता के विचार को भी अक्षुण्ण रखता है, उसके राज्य का श्रेष्ठ और नैतिक रूप स्वतन्त्रता के विरुद्ध नही जाता, उल्टे वह आत्मोन्नति का श्रेष्ठ साधन बन जाता है।

कान्ट ऐतिहासिक तथ्य के रूप मे तो नही अपितु दार्शनिक विचार के रूप मे राज्य के सवित सिद्धान्त को स्वीकार करता है। उसका विचार है कि मनुष्यो ने सभी लोगो की स्वतन्त्रता की रक्षा के विचार से राज्य की स्थापना की। वह यह भी मानता था कि विधि-निर्माण की सर्वोच्च शक्ति जनता मे निहित है, सामान्य इच्छा कानून का स्रोत है।

कान्ट ने राज्य की तीन शक्तियाँ बतलायी हैं—प्रभुत्व-सम्पन्न विधान-मण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका। कान्ट विधान-मण्डल और कार्यपालिका की पृथकता को स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक मानता था।

कान्ट ने राज्य के तीन रूप माने हैं—राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और जनतन्त्र। पर वह मानता था कि सरकार केवल दो प्रकार की होती है—गणतन्त्रात्मक (Republican) जब कि विधान-मण्डल और कार्यपालिका पृथक्-पृथक् हों, और तानाशाही (Despotic) जहाँ विधान-मण्डल और कार्यपालिका पृथक् न हों।

जहाँ तक राज्य के कार्यक्षेत्र का प्रश्न है कान्ट आदर्शवादी विचारक होने के बाद भी राज्य के कार्य-क्षेत्र को सीमित करने का समर्थक था, उसने व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार को स्वीकार किया है। इसी प्रकार वह व्यक्ति के अधिकारों को स्वीकार करता है पर वह उन्हें उनके अनुरूप कर्तव्यो से युक्त कर देता है।

फिक्टे (Fichte, 1762–1814)

जोहान गोटीलेब फिक्टे (Johann Gotilab Fichte) जिना विश्वविद्यालय (Jena University) और बर्लिन विश्वविद्यालय मे दर्शनशास्त्र का अध्यापक था।

फिक्टे ने स्वतन्त्रता के दो पहलू बतलाये—पहिला आन्तरिक, दूसरा बाह्य। आन्तरिक स्वतन्त्रता द्वारा व्यक्ति निजी प्रेरणाओं से मुक्त होता है तथा स्वच्छ विवेक

के अनुसार कार्य करता है, बाह्य स्वतन्त्रता का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के कार्यों में अन्य किसी व्यक्ति का हस्तक्षेप नहीं होता। फिक्टे आन्तरिक स्वतन्त्रता को सच्ची स्वतन्त्रता मानता है।

फिक्टे प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को स्वीकार नहीं करता, वह राज्य की उत्पत्ति को मनुष्य की प्रकृति में ही निहित मानता है। उसने तीन प्रकार के अनुबन्ध बतलाये हैं यथा सम्पत्ति अनुबन्ध, सुरक्षा अनुबन्ध और संघ अनुबन्ध। सम्पत्ति अनुबन्ध का तात्पर्य है 'सीमित क्षेत्र में स्वतन्त्र कार्य करने का अधिकार'। सुरक्षा अनुबन्ध द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अन्यों की सम्पत्ति के सरक्षण का वचन देता है बशर्ते अन्य भी ऐसा ही करें। संघ अनुबन्ध के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ संघ में रहने की अपनी स्वीकृति देता है।

राज्य के कार्य के सम्बन्ध में फिक्टे का दृष्टिकोण यह था कि राज्य का कार्य व्यक्ति की सम्पत्ति की रक्षा करना तथा व्यक्ति को जो कुछ भी उसका है उसे देना है। वह 'निर्बन्ध व्यापार' का विरोधी था। उसने विश्वसंघ के निर्माण का भी विचार किया था।

फिक्टे के विचारों में बाद में परिवर्तन हुआ। वह उग्र राष्ट्रवाद का समर्थक बन गया और इस प्रकार उसने अपने पूर्व के विचारों में गम्भीर परिवर्तन किये।

हीगल (Hegel, 1770–1831)

जार्ज विल्हैम फ्रैड्रिक हीगल (George Wilhelm Friedrich Hegel) आदर्शवाद का प्रमुख और प्रसिद्धतम विचारक है। उसके दार्शनिक विचारों में आदर्शवादी सिद्धान्त अपनी सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त हुए। वह एक विचारक था जिसके दार्शनिक विचारों का और जिसकी मान्यताओं का प्रभाव उसके बाद के विभिन्न विचारों वाले अधिकांश विचारकों और दार्शनिकों पर पड़ा।

हीगल जर्मनी के एकीकरण के विचार से प्रभावित हुआ, और उस समय की वास्तविक समस्या—एक सुदृढ़ और शक्तिशाली राज्य की स्थापना—के हल के लिए उसने एक सशक्त और मौलिक दर्शन का निर्माण किया। उसने इतिहास का नये ढंग से अध्ययन किया और मानव इतिहास में पहिली बार सार्वभौमिक दार्शनिकता की उपयुक्त व्याख्या की। उसकी सबसे बड़ी व्यक्तिगत विशेषता यह थी कि वह सर्वाधिक आत्मविश्वासी दार्शनिक था। राजनीति विज्ञान को उसकी सबसे बड़ी देन है द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectic Method) और राज्य का आदर्शवादी विचार (Idealisation)। सेबाइन का यह कथन सत्य है कि "हीगल के दर्शन का आधार एक नया तर्क था और उसने एक नयी बौद्धिक पद्धति को प्रतिष्ठित किया।[4]

[4] जार्ज एच० सेबाइन, राजनीति-दर्शन का इतिहास, भाग 2, पृ० 583।

हीगल दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर था। वह जीनर, हीडलबर्ग और बर्लिन विश्वविद्यालयों मे अध्यापक रहा। जब वह युवक था तब फ्रास की रक्तक्रान्ति हुई थी जिसका उसने 'शानदार बौद्धिक उषाकाल' कहकर स्वागत किया। उसने ईसा का जीवन-चरित्र लिखा पर यह माना कि ईसाई धर्म एक आध्यात्मिक त्रुटि है। वह ग्रीक दार्शनिको से प्रभावित था। हीगल के दर्शन का अध्ययन श्लाघनीय है। उसके विचार दुरूह और भाषा क्लिष्ट है, उसकी तार्किक शैली रूखी है तथा उसके निष्कर्ष पर्याप्त गूढ हैं, तभी तो वह विचारकों के लिए भी समझने में सरल और सुगम्य नही है, सामान्य व्यक्ति का तो कहना ही क्या। कहते हैं कि स्वय हीगल ने एक शिकायत की थी कि उसके दर्शन को केवल एक ही व्यक्ति समझ सका है और उस व्यक्ति ने भी उसे गलत समझा था। ऐसी ट्रेजेडी अन्य किसी दार्शनिक के साथ कदाचित् ही कभी हुई हो। पर जो भी हो, हीगल उन भाग्यवान् विचारको मे से अवश्य था जो अपने जीवन मे ही यश और ख्याति अर्जित कर सके। 61 वर्ष की अवस्था मे 'दार्शनिको के सम्राट्' हीगल की मृत्यु हुई और उसका शव फिक्टे की कब्र के निकट दफना दिया गया।

हीगल का आदर्शवाद कान्ट से भिन्न था। कान्ट का आदर्शवाद आत्मगत आदर्शवाद (Subjective Idealism) था, हीगल का आदर्शवाद वस्तुगत आदर्शवाद (Objective Idealism) था। इसके अनुसार मनुष्य का मस्तिष्क और वस्तु दोनो ही सर्वव्यापक विचारतत्त्व (Universal Idea or Universal Mind) के प्रतिबिम्ब हैं, तथा उसी से सञ्चालित हैं। हीगल मानता था कि सम्पूर्ण जगत् के मूल मे विश्वात्मा (Universal Spirit or Reason) है। हीगल ने इसे जीस्ट (Geist) कहा है। यह विश्व उसी की लीला का फल अथवा परिणाम है। उसी का विकास यह विश्व है और अन्त मे यह सकुचित होकर उसी में लीन होने को है। पर यह कैसे ? इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है, जैसे मकडी अपना जाला बनाती है ; इस जाले को मकडी अपने अन्दर से ही विकसित करती है और उसका विस्तार करती है, पर दूसरी बार मे ही मकडी उस समूचे जाले को अपने मे पुन समाहित कर लेती है। जाला बुनती मकडी को जरा भी स्पर्श कीजिए, वह पूरे जाले को वापिस अपने मे ले लेगी। बस ऐसा ही कुछ विश्वात्मा के साथ है, वह भी अपनी अन्तर्प्रेरणा से अनेक रूपो और वर्गों मे विकसित और व्यक्त होती है और अन्त मे पुनः अपने मूल और वास्तविक रूप मे आ जाती है। हीगल कहता है कि "विश्वात्मा सदैव सक्रिय रहती है ; ससार का इतिहास विश्वात्मा की यात्रा है, जो विश्वात्मा से प्रारम्भ होता है और विश्वात्मा की ओर होता है।"[5] वाहन का कहना है कि "वस्तुत: विश्वात्मा स्वय को प्राप्त करने के लिए ऐसे जगत् का निर्माण करती है जिसे वह स्वय नष्ट भी कर देती है। यह लगातार उन बाधाओ को नष्ट करता है,

[5] "The history of the world is the journey of Self, from the Self, towards the Self." —Hegel.

जिन्हें स्वयं अपनी शक्तियों को प्राप्त करने के संघर्ष मे विश्वात्मा स्वयं व्यवस्थित करती है।[6]

विश्वात्मा के विकास के अनेक सोपान हैं। इनमे से कुछ आन्तरिक अथवा विचार-जगत् के (Subjective) हैं, और कुछ बाह्य अथवा दृश्य-जगत् के (Objective) हैं। विश्वात्मा के इस विकास मे जीवात्मा विकसित हुई है, पर वह क्योंकि विश्वात्मा से हल्के स्तर की है अत उसका भी उत्तरोत्तर विकास विश्वात्मा की ओर हो रहा है। जीवात्मा का भी विकास आन्तरिक और बाह्य दिशाओं मे हो रहा है, विभिन्न सामाजिक सस्थाएँ जीवात्मा के बाह्य विकास का परिणाम हैं। इनमे राज्य सर्वोच्च और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, अत हीगल उसे विश्वात्मा का पार्थिव स्वरूप (State is a march of God on earth) कहता है।

द्वन्द्वात्मकवाद

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि विश्वात्मा विकसित कैसे होती है ? हीगल का इसके सम्बन्ध मे एक निश्चित मत है। वह कहता है कि मानव सभ्यता का विकास कभी भी एक सरल और सीधे प्रकार से नही हुआ है, अपितु उसका विकास टेढ़ी-मेढ़ी स्थिति मे से होकर हुआ है। उसके अनुसार, *"मानव-सभ्यता की प्रगति एक सीधी रेखा के रूप मे नहीं हुई है। इसकी प्रगति लगभग बवण्डर के झकोरे खाते हुए जहाज के समान हुई है।"*[7] हीगल विकास की इस प्रक्रिया को द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया (Dialectic Method) कहता है। इस प्रक्रिया मे प्रत्येक सोपान वाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis) और सवाद (Synthesis) की त्रयी से बना है। अर्थात् पहिले किसी वस्तु का एक मौलिक रूप होता है, यही वाद (Thesis) है। इसमे स्वय मे अन्त विरोध होता है, अतः कालान्तर मे इसका विकसित रूप इसके मूल रूप से भिन्न हो जाता है, और इसमे विपरीत तत्त्व प्रगट हो जाते हैं, यही प्रतिवाद (Antithesis) है। इसके पश्चात् इन दोनों प्रकार के विपरीत तत्त्वो का मेल तथा सघर्ष होता है, इससे एक तीसरी परन्तु नवीन चीज सामने आती है, यही सवाद (Synthesis) है। यह दोनों के आगे की तथा विकसित स्थिति है। पर महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि यह सवाद अगले विकास के लिए वाद बन जाता है और पुनः वाद, प्रतिवाद और सवाद की क्रिया प्रारम्भ होने लगती है। यही विकास का क्रम है। उदाहरण के रूप मे गेहूँ के दाने का उदाहरण लिया जा सकता है। गेहूँ के बीज

[6] "It is rediscovery of reason by herself in a world which she has supposed herself to have banished. It is the continuous overthrow of barriers which in the struggle to unfold her own energies, she had herself originally set up."
—Vaughan.

[7] "The progress of human civilisation has not been in a positive straight line. It was zig-zig sort of movement like a ship tacking against an unfavourable wind."
—Hegel

की पहिली स्थिति यह है कि उसे बोने पर भूमि की उष्णता और पानी के कारण वह गल जाता है, उसका अस्तित्व मिट्टी मे मिल जाता है, यह वाद है। इसके बाद बीज भूमि को फोड़कर अकुरित होता है और वह बढ़ता है, फूलता है, तथा फलता है तथा उसमें गेहूँ के दाने आ जाते हैं, यह प्रतिवाद है। वाद मे वह सूख जाता है और एक के स्थान पर उसमें अनेक गेहूँ के दाने आ जाते हैं, यह सवाद अर्थात् अगला विकास है। पर विकास-क्रम यही नही रुकता। गेहूँ के इन दानो को पुनः बोया जा सकता है, और वे अगले विकास के लिए वाद मे परिवर्तित हो जाते हैं। अर्थात् सवाद अगले विकास के लिए वाद बन जाता है। यही विकास-क्रम है।

द्वन्द्वात्मक विकास-क्रम सम्बन्धी विचार में एक तथ्य महत्त्व का है और वह यह है कि विकास का पूरा वर्णन और विचार मनुष्य ने अपनी बुद्धि से किया है, बुद्धि ने उसे जैसा पाया या समझा अथवा बुद्धि को जैसा भी आभासित हुआ वैसा ही व्यक्त कर दिया। क्योंकि मनुष्य की बुद्धि सीमित है अतः वह पूर्ण सत्य है ऐसी बात नही है। हुआ यह है कि मानव बुद्धि को सत्य का जैसा आभास हुआ है उसने वैसा ही उसे व्यक्त किया है। मानव जाति के विकास के सम्बन्ध मे यदि सोचे तो सहज रूप से यह लगता है कि पहिले मनुष्य जीवन के अन्दर कोई नियम, व्यवस्थाएँ आदि नही थी, उसका जीवन नियमविहीन, उच्छृङ्खल था। ऐसी स्थिति मे काफी समय बाद यह सोचा गया कि कुछ नियम तो चाहिए ही ; उच्छृङ्खल और अस्थिर जीवन को समाप्त करने के लिए और व्यवस्थित जीवन के लिए कुछ नियम चाहिएँ। अतः कुछ नियम बने, जैसे सत्य बोलो, सद्व्यवहार करो. अमुक प्रकार रहो, अमुक प्रकार चलो, आदि (यह वाद हुआ)। पर इन नियमों मे सत्य पूरा तो था नही, अतः कुछ समय के पश्चात् इनमे कमी दीखने लगी, जैसे सदैव और प्रत्येक परिस्थिति मे सत्य बोलने से काम नही चलता। चोर को यह बता दें कि धन कहां रखा है तो वह ठीक नही। ऐसे समय में स्थिति अत्यन्त कठिन और जटिल हो जाती है। यदि सत्य बोलते हैं तब तो चोर धन ले जावेगा और असत्य कथन नियम का उल्लघन है। अत ऐसी स्थिति में नियमो की आलोचना की जाने लगी तथा नियम निरर्थक और अनुपयोगी लगने लगे। फलत· लोग सोचने लगे कि नियम सब बेकार हैं और जैसा ठीक लगे वैसा करना चाहिए। यह पहिली व्यवस्था के विपरीत था (यह प्रतिवाद हुआ)। पर यह भी पूर्ण सत्य तो था नहीं कारण इसकी भी कुछ कमजोरियाँ थी, उनसे सामाजिक जीवन ही नष्ट होने लगा, लोग मनमानी करने लगे, उच्छृङ्खलता फैलने लगी, अनेक असामाजिक कार्य किये जाने लगे, अतः इस व्यवस्था की भी आलोचना की जाने लगी। व्यक्तियों के मन मे यह भाव तो आया कि नियम तो होने चाहिएँ पर उनका अक्षरशः पालन करने की अपेक्षा नियमो की भावना की रक्षा होनी चाहिए तथा इस प्रकार उनका पालन होना चाहिए (यह सवाद हुआ)। इस सवाद में वाद और प्रतिवाद दोनो के ही जो सत्यांश हैं उनका योग है, अतः यह दोनों से उच्चतर और श्रेष्ठ है

द्वन्द्वात्मक पद्धति से सामाजिक सस्थाओ का भी विकास हुआ है। राज्य का प्रादुर्भाव वस्तुगत आत्मा (वाह्यात्मा—Objective Spirit) की विकास-शृङ्खला मे हुआ। बाह्यात्मा का यह अर्थ है कि आत्मा (Spirit) मानसिक अथवा आन्तरिक जगत् से बाहर निकलकर बाह्य ससार की संस्थाओं और नियमों आदि मे प्रगट होती है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि यह बाह्य जगत्, प्रकृति वाला जगत् न होकर आत्मा द्वारा स्वयं-निर्मित संस्थाओ तथा नियमों वाला जगत् है। राज्य मानव के सामाजिक विकास की अन्तिम अवस्था है।

राज्य कैसे आया ?

सामाजिक सस्थाओ मे परिवार सर्वप्रथम है। इसका आधार प्रेम तथा आत्मत्याग है। परिवार के सदस्यों के हित परस्पर विरोधी नही होते। सभी व्यक्ति अपनी सामर्थ्यानुसार परिश्रम करते हैं, धन अर्जित करते हैं और वस्तुओ का उपयोग करते हैं (यह वाद है)। पर परिवार मे ही किसी व्यक्ति के कार्यों की इतिश्री नही हो जाती। व्यक्ति की शक्तियो का विकास केवल परिवार में ही सम्भव नही। परिवार के बाद समाज आता है, इसकी व्यवस्थायें परिवार से बिल्कुल भिन्न हैं। यहाँ व्यक्ति-सघर्ष और स्पर्धा है, मेरे-तेरे का भाव है। व्यक्ति अपने विकास के लिए दूसरे की चिन्ता नही करता, एक-दूसरे को दबा कर आगे बढना चाहता है (यह प्रतिवाद है)। समाज की ये व्यवस्थायें सघर्ष और वैमनस्य को जन्म देती हैं। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति का विकास रुकता है, अतः इन दोनो से उच्चतर और श्रेष्ठ एक तीसरी चीज का विकास होता है, वह राज्य है (यह सवाद है)। राज्य स्वभावतः और अनिवार्यत· दोनो से अधिक विकसित है तथा वह दोनो मे सन्तुलन बनाये रखता है। राज्य मे व्यक्तियो के लिए पारस्परिक प्रतियोगिता की स्वतन्त्रता तो है पर उसके परिणामो के अधिक गम्भीर और अनुचित होने की सम्भावना नही है। इसके रहते हुए प्रतियोगिता अथवा सघर्ष सृजनात्मक है। राज्य व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता देता है पर वह कमजोर और असहायो की रक्षा भी करता है। इसमे व्यक्ति अपने हितो का सम्पादन करते हैं, पर राज्य सामाजिक हित का भी विचार करता है। इस प्रकार इसमे परिवार और समाज दोनो ही के सत्यांश समाविष्ट हैं। यह एक उच्चतर और पूर्ण स्थिति है।

सरकार के प्रकार

हीगल का विचार है कि राज्य अपने को सविधान, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और विश्व-इतिहास की त्रयी मे प्रकाशित करता है। हीगल ने द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोग सरकार के रूप के निर्धारण मे भी किया है। निरंकुश तन्त्र (Despotism) वाद, प्रजातन्त्र (Democracy) प्रतिवाद और इन दोनों के द्वन्द्व और सत्यांशों से मिलकर सवैधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy) सवाद है; यह दोनो से अधिक विकसित और पूर्ण स्थिति है।

हीगल प्रजातन्त्र का समर्थक नही था, उसका मताधिकार या बहुमत शासन मे विश्वास नही था। उसका विश्वास था कि शासन तो कोई एक व्यक्ति ही भली प्रकार कर सकता है।

व्यक्ति और राज्य

हीगल राज्य और व्यक्ति के हितों मे विरोध को नही मानता। राज्य वाह्यात्मा का उच्चतम प्रकाशन है, अतः उसके व्यक्ति के हितों से विरोध का प्रश्न ही पैदा नही होता। उसका विचार था कि "इतिहास मे राज्य ही व्यक्ति है और जीवन-चरित्र मे जो स्थान व्यक्ति का है, इतिहास मे वही स्थान राज्य का है।"[8] उसका विचार था कि राज्य मे ही स्वतन्त्रता सम्भव है। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति और राज्य के बीच किसी विरोध का प्रश्न ही पैदा नही होता, व्यक्ति पूर्ण आत्मानुभूति राज्य के अग के रूप मे कर सकता है। हीगल का विचार है कि "राज्य आध्यात्मिक और भौतिक दोनों ही जगतो का प्रधान केन्द्र है।" इसका यह तात्पर्य हुआ कि व्यक्ति आध्यात्मिक और भौतिक दोनो प्रकार के उत्कर्ष को राज्य मे ही प्राप्त करता है। राज्य व्यक्ति से श्रेष्ठ और उच्च है, वह स्वय मे साध्य है साधन नही, वह व्यक्ति के अधिकारों और स्वतन्त्रता का जनक है, अत उसका व्यक्ति पर पूरा अधिकार है। राज्य एक स्थायी और नैतिक सस्था है, अत. व्यक्ति को उसकी किसी भी व्यवस्था का उल्लघन करने का अधिकार नही है। जो भी अधिकार हैं राज्य द्वारा प्रदत्त हैं, वह इनको वापिस भी ले सकता है। अधिकारो सम्बन्धी हीगल के विचारो के प्रति सेवाइन का कथन ठीक ही है कि "जर्मनी की राजनीति मे ऐसी चीज बहुत कम थी जो जर्मनो को व्यक्तिगत अधिकारो के विचार के प्रति आकृष्ट करती।"[9] यही बात व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे है। राज्य मे रहकर उसके नियमों और कानून का पालन करने मे ही पूर्ण स्वतन्त्रता है। व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य करे, यह स्वतन्त्रता नही है। वस्तुतः राज्य सम्बन्धी हीगल का दृष्टिकोण अतिवादी है। वह राज्य को 'पृथ्वी पर ईश्वर का आगमन' (March of God on Earth) कहता है।

अन्तर्राष्ट्रीयता एव युद्ध

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के प्रति भी हीगल के विचार पर्याप्त अतिवादी हैं। वह राज्य से बडा और अधिक किसी को मानता ही नही है। एक राज्य अन्य राज्यों से सम्बन्ध-निर्धारण मे पूर्ण स्वतन्त्र है। राज्य किन्ही सन्धियो के अधीन नही होते और न वे उनसे बंधे होते हैं। राज्यो के ऊपर कोई अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता नही होती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो का पालन राज्य के लिए अनिवार्य नही है। यदि राज्यो मे परस्पर कोई सघर्ष होता है तो उसका उचित और अन्तिम

[8] "The state is to history what a given individual is to biography."
—Hegel

[9] सेबाइन, राजनीति-दर्शन का इतिहास, भाग 2, पृ० 610।

निर्धारण युद्ध में होता है। युद्ध त्याज्य नहीं है, उसमें राज्य के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास होता है।

टॉमस हिल ग्रीन
(*Thomas Hill Green, 1836–1882*)

टॉमस हिल ग्रीन इंगलैण्ड का प्रतिनिधि आदर्शवादी विचारक है। वह एक पादरी का लड़का था और बौद्धिक जगत् में बेन्जामिन जोवेट (Benjamin Jowett) के सम्पर्क के कारण आया। वह ऑक्सफोर्ड में दर्शनशास्त्र (Moral Philosophy) का अध्यक्ष था। 'ऑक्सफोर्ड स्कूल' की जिस परम्परा ने आदर्शवाद के दर्शन को नवीन गति और दिशा दी, ग्रीन उस परम्परा का प्रथम विचारक और दार्शनिक था।

ग्रीन के चिन्तन पर विभिन्न विचारकों का प्रभाव पड़ा। उसने राजनीति विज्ञान को प्लेटो और अरस्तू के समान आचारशास्त्र का एक अंग माना। उसने ग्रीक दर्शन का अध्ययन किया और ग्रीक दार्शनिकों की इस मान्यता को स्वीकार किया कि राज्य स्वाभाविक और आवश्यक है। इसके साथ ही उसने जर्मनी के आदर्शवादी दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। वह कान्ट से प्रभावित था तथा उसने कुछ आवश्यक परिवर्तन के साथ कान्ट के दार्शनिक विचारों को नैतिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में अपनाया। उसकी यह धारणा कि "ब्रह्माण्ड एक एकल नित्य क्रिया है" हीगल के उस पर प्रभाव को स्पष्ट करती है। ग्रीन का सम्पूर्ण आध्यात्मिक चिन्तन उस पर हीगल के प्रभाव की स्पष्ट स्वीकृति है। रूसो के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को भी ग्रीन ने स्वीकार किया। वह यह मानता है कि राज्य 'सामान्य इच्छा' पर आधारित है, तथा वह (राज्य) सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। इतना सब होने पर भी वह अपने देश के उदारवादी और व्यक्तिवादी प्रभाव से पूरी तरह अछूता नहीं रहा। स्वतन्त्रता (Freedom) और नैतिकता (Morality) के प्रति ग्रीन के प्रबल आकर्षण का प्रमुख कारण उस पर उदारवादियों के प्रभाव को माना जा सकता है।

ग्रीन के सम्मुख यह एक समस्या थी कि ग्रीक चिन्तन और जर्मन आदर्शवाद की परम्पराओं के साथ ब्रिटिश उदारवादी मान्यताओं और विश्वासों का मेल कैसे बिठाया जाय। इसके लिए उसने एक नये दर्शन को विकसित किया जिसे 'ऑक्सफोर्ड दर्शन' कहते हैं जिसमें आदर्शवाद और उदारवाद का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है।

ग्रीन का आध्यात्मिक सिद्धान्त

ग्रीन के आध्यात्मिक विचारों पर कान्ट का प्रभाव स्पष्ट है। वह यह मानता है कि आगमनात्मक पद्धति (Inductive Method) द्वारा नहीं अपितु विशुद्ध बुद्धि

(Pure reason) द्वारा अन्तिम अथवा परम सत्य को जाना जा सकता है। ग्रीन ने यह माना है कि आत्मा और विश्व मे एक ही तत्त्व व्याप्त है ; यह तत्त्व बुद्धिमय होता है, इसी कारण इसकी जानकारी हो पाती है। हमारे चारों ओर का ब्रह्माण्ड एक बुद्धिगम्य तथ्य है। इसका स्वरूप आध्यात्मिक है। ब्रह्माण्ड का ज्ञान बुद्धि के द्वारा हो सकता है।

परम बुद्धि (The supreme intelligence)—जो मानव बुद्धि के सदृश होती है—ससार की वस्तुओ के मध्य सम्बन्ध स्थापित करती है। इस विचार-सम्बन्ध को स्थापित करने वाली और उसे जीवित रखने वाली परम बुद्धि को ग्रीन ने शाश्वत चेतना (Eternal consciousness) कहा है। यह विश्वव्यापी और सर्व-समावेशक चेतना है। यह एकता और व्यवस्था को स्थापित करने वाला क्रमबद्ध सिद्धान्त है। इस शाश्वत चेतना मे प्रत्येक वस्तु का निवास है और प्रत्येक वस्तु इसकी ओर बढने का और इसमे समाविष्ट होने का निरन्तर प्रयत्न करती है। शाश्वत चेतना सम्बन्धी ग्रीन की धारणा का स्थायी और निर्णायक प्रभाव उसकी नैतिक मान्यताओ और राजनीतिक सिद्धान्तो पर पडा है।

ग्रीन का राजनीतिक दर्शन

राज्य की आवश्यकता

ग्रीन ने राज्य को अनिवार्य माना है। वह राज्य को नैतिक उद्देश्य से पूर्ण एक सस्था मानता है। राज्य की आवश्यकता एव उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उसने सविदावादियो की आलोचना की है। ग्रीन के राज्य सम्बन्धी विचारों को बार्कर (Barker) के इस प्रसिद्ध कथन से भली प्रकार समझा जा सकता है कि "मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है, स्वतन्त्रता मे अधिकार निहित हैं और अधिकारो के लिए राज्य आवश्यक है।"[10]

उपरोक्त कथन की कुछ व्याख्या आवश्यक है। मानव चेतना, जिसे मानव आत्मा भी कहा जाता है, स्वतन्त्रता चाहती है। पर क्यो ? इसलिए कि स्वतन्त्रता उसका धर्म है, स्वभाव है। यह स्वतन्त्रता दो प्रकार की होती है, यथा आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक स्वतन्त्रता अर्थात् अपनी इच्छाओं और मनोवृत्तियो पर विजय पाकर परमशुभ की प्राप्ति का विचार, यह नीतिशास्त्र का विषय है। बाह्य स्वतन्त्रता अर्थात् बाह्य जगत् की स्वतन्त्रता का तात्पर्य है ऐसी बाह्य परिस्थितियो का होना जिसमे प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रगति और वास्तविक हितो के लिए कार्य करने मे स्वतन्त्र हो, तथा उसके मार्ग मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो।

[10] "Human consciousness postulates liberty ; liberty involves rights ; rights demand the state." —Barker.

(इगलैण्ड का राजदर्शन 1848 से 1914 तक पृ० 23)

पर मान लीजिए किसी ने बाधाम्रो को उपस्थित कर दिया, तब क्या हो ? ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपने अधिकारों की माँग करता है, अर्थात् वह चाहता है कि उसे ऐसी परिस्थितियाँ मिलें जिससे वह अपने वास्तविक हितो का सम्पादन कर सके। इस रूप मे अधिकार व्यक्ति की वे शर्तें हैं जिनके अन्तर्गत वह स्वतन्त्रता की प्राप्ति करता है। पर यहाँ पुनः एक प्रश्न पैदा होता है। यदि समाज मे कोई व्यक्ति के अधिकारो को अस्वीकार करे और उनकी अवहेलना करे तो ? ऐसी स्थिति मे अधिकारों के सरक्षण का प्रश्न पैदा होता है। सरक्षण कोई सप्रभु अथवा सर्वोच्च सस्था ही दे सकती है। वह राज्य है। अर्थात् व्यक्ति के अधिकारो के सरक्षण के लिए राज्य आवश्यक है।

इस प्रकार ग्रीन के विचारो का प्रारम्भ मानव चेतना की स्वतन्त्रता से होता है और अन्त राज्य की अनिवार्यता को स्वीकार करने मे होता है। बार्कर के उपरोक्त कथन से प्रकट है कि ग्रीन के राजदर्शन की तीन बातें प्रमुख हैं—(अ) मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है, (ब) स्वतन्त्रता के लिए अधिकार चाहिएँ ; और (स) अधिकारों के लिए राज्य आवश्यक है। इस क्रम मे यह तथ्य सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि राज्य एक आवश्यक और नैतिक सस्था है।

स्वतन्त्रता

ग्रीन की स्वतन्त्रता सम्बन्धी अवधारणा पर कान्ट का प्रभाव स्पष्ट है। कान्ट के अनुसार स्वतन्त्रता स्व-निर्मित सर्वमान्य कर्त्तव्यो का पालन करना है। नैतिक इच्छा ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण इच्छा है। स्वतन्त्रता का तात्पर्य इस नैतिक इच्छा की स्वतन्त्रता ही हो सकता है। स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे ग्रीन का यह प्रसिद्ध कथन है कि "स्वतन्त्रता का अभिप्राय उन कार्यों को करने तथा उपभोग करने की सकारात्मक शक्ति से है जो करने अथवा उपभोग करने चाहिएँ।"[11] ग्रीन के इस कथन से यह स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता हस्तक्षेप का अभाव मात्र नही है, ऐसा होने पर वह केवल नकारात्मक ही रहेगी। व्यक्तिवादियो की स्वतन्त्रता को धारणा ऐसी ही है। वह मनमानी करने की छूट भी नही है। यदि ऐसा है तब तो स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता हो जायेगी। ग्रीन के अनुसार स्वतन्त्रता करने योग्य कार्यों को ही करने की सुविधा है, अर्थात् वह सकारात्मक है। ये करने योग्य कार्य वे हैं जो हमारी आत्मोन्नति और मानव चेतना के विकास मे सहायक हो और विधिसम्मत हों। स्वतन्त्रता केवल शुभ इच्छा की ही स्वतन्त्रता हो सकती है। बार्कर का कहना है कि ग्रीन की स्वतन्त्रता के दो लक्षण हैं—प्रथम यह कि वह सकारात्मक है, और द्वितीय यह कि वह निश्चयात्मक है, अर्थात् यह निश्चित (उचित) कार्यों को ही करने की होती है, मन-

[11] Liberty is a passive power of capacity of doing or enjoying something worth doing or enjoying. —Green.

माने कार्यों को करने की नही होती । इस रूप मे स्वतन्त्रता ,आत्म-सन्तुष्टि की नही, आत्मोन्नति की सहायक है । स्वतन्त्रता का राज्य की सत्ता से कोई विरोध नही ।

अधिकार

ग्रीन ने व्यक्ति के अधिकार के विचार को स्वीकार किया है । उसकी स्वतन्त्रता की भावना स्वय अधिकारयुक्त है । ग्रीन अधिकारो को वे शर्तें मानता हैं जिनके *द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है । इस रूप मे अधिकार व्यक्ति के आन्तरिक* विकास के लिए आवश्यक बाह्य परिस्थितियाँ हैं । इनका प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि व्यक्ति एक नैतिक प्राणी के नाते, अपने विकास के लिए कुछ सुविधाओ की माँग करता है, साथ ही वह यह भी स्वीकार करता है कि ऐसी सुविधायें जो मुझे चाहिए अन्यो को भी आवश्यक हैं, तथा उनको भी ये सुविधाएँ उसी प्रकार प्राप्त होनी चाहिएं जैसे कि मुझे प्राप्त हैं। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति की इन माँगो के पीछे समाज की स्वीकृति तैयार हो जाती है, कारण वे माँगें उचित और नैतिक होती हैं । ऐसी स्थिति मे जब उनको समाज की स्वीकृति मिल जाती है तब वे माँगें अधिकार बन जाती हैं । इस प्रकार अधिकार के निर्माण मे दो तत्त्व होते हैं—(अ) व्यक्ति की माँग अथवा शर्तें, और (ब) समाज द्वारा उस माँग की स्वीकृति । यदि इनमे से एक भी तत्त्व का अभाव है तब वह अधिकार नही हो सकता ।

अधिकार की धारणा मे सामाजिक स्वीकृति का विचार महत्त्वपूर्ण है । बिना सामाजिक स्वीकृति के अधिकारो का विचार ही नही किया जा सकता ।

ग्रीन का विचार है कि ऐसे अधिकार जिन्हे समाज की नैतिक चेतना स्वीकार करती है, पर जिन्हे राज्य की स्वीकृति नही मिलती वे अधिकार प्राकृतिक अधिकार कहलाते हैं । वे अधिकार जिन्हे राज्य की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है अर्थात् जिन्हें कानून का सरक्षण मिल जाता है वे कानूनी अधिकार कहलाते हैं । यह सम्भव है कि प्राकृतिक अधिकार कानूनी अधिकारो मे बदल जावें । पर कैसे ? इसका एक क्रम है । जो *अधिकार आज प्राकृतिक अधिकार मात्र हैं, यदि कल उनको राज्य की* स्वीकृति मिल जाय और कानून का सरक्षण मिल जाय तो वे ही अधिकार कानूनी अधिकारों मे बदल जावेंगे ।

प्राकृतिक अधिकार से ग्रीन का क्या तात्पर्य है, इसकी *और व्याख्या आव*श्यक है । प्राकृतिक अधिकार प्राकृतिक इस अर्थ मे नही हैं कि वे मनुष्य को राज्य से पूर्व प्राकृतिक अवस्था मे प्राप्त थे तथा जो राज्य से सर्वथा स्वतन्त्र हैं और राज्य जिनमे हस्तक्षेप नही कर सकता, जैसा कि सामाजिक समझौते के विचारक मानते हैं । ग्रीन का यह अभिप्राय बिल्कुल नही है । उसका कहना है कि "प्राकृतिक अधिकार अर्थात् एक ऐसा अधिकार जो कि समाजहीन प्राकृतिक अवस्था मे पाया जाता है,

शब्दों का परस्पर विरोध है ।"[12] ग्रीन के मत मे प्राकृतिक अधिकार वे अधिकार हैं जो समाज की दृष्टि मे व्यक्ति को प्राप्त होने चाहिएँ, अर्थात् ये वे अधिकार हैं जो व्यक्ति के आत्म-विकास के लिए आवश्यक हैं। इन अधिकारों मे परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है। प्राकृतिक अधिकार नैतिक अधिकार (Moral right) हैं।

व्यक्तिगत-सम्पत्ति

प्रचलित रूप से यदि विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के सम्बन्ध मे ग्रीन के विचार न तो पूर्णत: व्यक्तिवादी हैं, और न पूर्णत: समाजवादी। ग्रीन ने एक अलग ही दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर विचार किया है। ग्रीन व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन इस आधार पर करता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति मनुष्य के विकास के लिए अनिवार्य है। सम्पत्ति व्यक्ति के स्वाधीन जीवन के अधिकार की उपसिद्धि (Corollary) है। पर ग्रीन किसी भी स्थिति मे अनियन्त्रित धन-सञ्चय की प्रवृत्ति को उचित नही मानता। उसने इस प्रवृत्ति की आलोचना की है। *ग्रीन राज्य द्वारा जमींदारी प्रथा पर नियन्त्रण को आवश्यक मानता है।*

राज्य का आधार

राज्य अति प्राचीन सस्था है। इसके *सम्बन्ध मे यह* एक स्वाभाविक प्रश्न है कि अन्तत. राज्य का आधार क्या है? अनेक ऐसे विचारक हैं, जो इस बात को स्वीकार करते हैं कि राज्य का आधार शक्ति है। ग्रीन इस बात को अस्वीकार करते हुए कहता है कि राज्य का आधार शक्ति नही अपितु इच्छा है। (Will and not force is the basis of the state)।

ग्रीन यह तो स्वीकार करता है कि समाज में अधिकार और कर्तव्य की सामान्य प्रणाली की रक्षा के लिए एक बन्धनकारी शक्ति आवश्यक है, परन्तु वह यह स्वीकार नही करता कि यह बन्धनकारी शक्ति ही राज्य का आधार है। शक्ति अधिकारों की रक्षा का साधन हो सकती है, पर वह उनको जन्म नही दे सकती। इसी प्रकार हो सकता है कि शक्ति राज्य के लिए आवश्यक हो, परन्तु यह राज्य का आधार अथवा उसका मूल तत्त्व नही हो सकती, जैसा कि कोकर का कथन है कि "सामान्य *अधिकारो की सुरक्षा के लिए राज्य द्वारा शक्ति प्रयोग समुचित है,* आवश्यक भी है, परन्तु राज्य की यह शक्ति ही सर्वोत्तम नही है। शक्ति अधिकारों को सुरक्षित रख सकती है परन्तु उन्हे जन्म नही दे सकती।" शक्ति उन नागरिको को जिनमे *नागरिक भावना का समुचित विकास नही हुआ होता और* जो *संख्या* में *काफी कम* होते हैं, {नियन्त्रित रखने के लिए आवश्यक हो सकती है, पर वह राज्य का

[12] Natural right, as right in a state of nature which is not a taste of society, is a contradiction in terms. —Green.

आधार नहीं हो सकती। जब राज्य नागरिकों के विश्वास को खो देता है, नागरिकों की सामान्य इच्छा जब राज्य के साथ नहीं रहती तब राज्य का अन्त निकट ही है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पैदा होता है। सामान्यतः प्रजातान्त्रिक राज्य मे तो यह दीख सकता है कि राज्य का आधार सामान्य इच्छा है, पर क्या यह स्वीकार किया जाए कि निरकुश और अत्याचारी राज्यो का भी आधार सामान्य इच्छा है ? ग्रीन का उत्तर स्पष्ट है। पहली बात तो यह है कि ऐसे राज्य, राज्य नहीं होते अपितु 'विकृत राज्य' होते हैं। और फिर जब तक ऐसा राज्य स्थापित है तब तक यह मानना ही पड़ेगा कि राज्य को सामान्य इच्छा का समर्थन प्राप्त है, फिर चाहे वह किसी भी रूप मे क्यो न हो।

ग्रीन राज्य मे सम्प्रभुता को स्वीकार करता है। सम्प्रभुता का राज्य मे निवास कहाँ है ? उसका उत्तर है कि 'सामान्य इच्छा' ही सम्प्रभु है। बाह्य रूप मे हमे सम्प्रभुता किसी व्यक्ति विशेष अथवा किसी संस्था विशेष मे दिखलाई पड़ती है, जैसा कि ऑस्टिन का मत है। पर वैसे सम्प्रभुता का निवास 'सामान्य इच्छा' मे होता है। ग्रीन इन दोनों विचारो मे कोई विरोध नहीं देखता। राज्यो मे कोई व्यक्ति अथवा संस्था जिसमे सम्प्रभुता का निवास होता है, वह वास्तव मे सामान्य इच्छा के अनुचर मात्र हैं। जैसे ही उन्हे सामान्य इच्छा का समर्थन समाप्त हो जाता है वैसे ही निश्चित मानव अधिकारियो की सत्ता समाप्त हो जाती है।

राज्य के कार्य

राज्य की प्रकृति, उसकी आवश्यकता और उसके आधार पर विचार करने के पश्चात् स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न पैदा होता है कि राज्य के कार्य क्या हैं ? ग्रीन का कहना है कि "राज्य का कार्य बाधाओं को बाधित करना है।" (To act as a hindrance to hindrances against good life.) इस एक वाक्य में ग्रीन द्वारा प्रतिपादित राज्य के कार्यों की सम्पूर्ण प्रकृति आ जाती है। ये बाधाएँ क्या हैं, और राज्य उन्हें कैसे बाधित करे इसका सम्पूर्ण विचार इस प्रकार है।

यद्यपि राज्य का उद्देश्य मनुष्य के पूर्ण नैतिक विकास मे सहायता पहुँचाना है, तथापि ग्रीन के अनुसार राज्य मनुष्य को यह सहायता प्रत्यक्ष रूप से नहीं पहुँचा सकता। ग्रीन राज्य को यह अधिकार नहीं देता कि वह व्यक्तियों के नैतिक विकास के लिए किसी नियम अथवा कानून को बनाए और मनवाए। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। ग्रीन यह मानता है कि राज्य के द्वारा नैतिकता की प्रत्यक्ष उन्नति नहीं हो सकती। क्यो ? इसका भी एक कारण है। राज्य किसी भी कार्य को अन्ततः बल प्रयोग के द्वारा करवाता है पर नैतिकता की उन्नति बल-प्रयोग द्वारा नहीं हो सकती। नैतिकता का सम्बन्ध व्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणा से है। वह व्यक्ति नैतिक है जो किसी कार्य को कर्तव्य बुद्धि द्वारा सोचकर करता है। स्पष्ट है कि कोई बाह्य

शक्ति व्यक्ति को कर्तव्य बुद्धि से कार्य करने के लिए प्रेरित नही कर सकती। ऐसी स्थिति मे प्रगट है कि राज्य की अपनी सीमाएँ हैं।

इतना होने पर भी एक बात अवश्य है—राज्य एक कार्य कर सकता है—राज्य व्यक्ति के नैतिक जीवन के मार्ग की बाधाओं को दूर कर सकता है। उदाहरणार्थ निरक्षरता, जुआ, मद्यपान और अस्वास्थ्य व्यक्ति के नैतिक जीवन के मार्ग की बाधाएँ हैं। राज्य इन बाधाओं को दूर करने के लिए प्रयत्न कर सकता है। विधि और दण्ड-व्यवस्था के द्वारा इन बाधाओं को दूर किया जा सकता है। इस क्रम मे राज्य उन परिस्थितियों और साधनों को जुटा सकता है जिनमे व्यक्ति नैतिक बन सके। कोकर के अनुसार "राज्य व्यक्ति को नैतिक कार्य करने के लिए प्रोत्साहित कर सकता है और दूसरों के आचरणो मे बलपूर्वक हस्तक्षेप कर, उसके आत्मविकास के मार्ग मे बाधाओं को हटा सकता है।"[13]

ग्रीन ने जो राज्य के कार्य बतलाए हैं उनमे एक बात प्रमुख है। देखने मे ग्रीन के उपरोक्त कार्य नकारात्मक प्रतीत होते हैं, तथापि वे पूर्णतः सकारात्मक हैं। स्पष्टतः ग्रीन ने राज्य को सीमित और मर्यादित कार्य दिये हैं। पर उसका राज्य इस कारण ही गरिमामय है।

राज्य के प्रतिरोध का अधिकार

ग्रीन एक आदर्शवादी विचारक था। एक आदर्शवादी विचारक व्यक्ति के राज्य के प्रतिरोध के अधिकार की बात सोचे और उसे स्वीकार करे यह सहज लगता नही। पर इस प्रश्न पर ग्रीन ने ब्रिटिश परम्परा से प्रभावित होकर विचार किया, उग्र जर्मन आदर्शवादी परम्परा से प्रभावित होकर नहीं। ग्रीन नागरिक के 'राज्य के प्रतिरोध' के अधिकार को स्वीकार करता है। उसका विचार है कि राज्य साधन है, साध्य नही है। राज्य नैतिक जीवन की प्राप्ति का साधन है। यदि राज्य इस उद्देश्य की पूर्ति नही कर सकता तो व्यक्ति भी उसके कानूनो को मानने के लिए बाध्य नही है। यदि राज्य की कोई विधि व्यक्ति की नैतिक इच्छा के प्रतिकूल है, तब व्यक्ति राज्य का प्रतिरोध कर सकता है।

पर राज्य का प्रतिरोध करने के अधिकार के उपयोग पर ग्रीन ने पर्याप्त प्रतिबन्ध लगाए है। ग्रीन के अनुसार राज्य का प्रतिरोध करने के पूर्व यह सोचना चाहिए कि क्या राज्य की विधि का विरोध करना जनहित मे आवश्यक है? क्या समाजहित के लिए यह आवश्यक है? यदि उत्तर हाँ मे आये तब विरोध करना व्यक्ति का कर्त्तव्य है, पर राज्य की सम्पूर्ण सत्ता का नहीं, उस एक विधि का जिसके बारे में उत्तर हाँ मे आया है। विरोध करने के पूर्व जनमत जानना भी आवश्यक है। यह निश्चित करना भी आवश्यक है कि सामान्य इच्छा विरोध करने वाले के साथ है

[13] "It can on one hand render services, which encouarage him to impose duties upon himself and it can, on the other hand, by forcible interference in the conduct of others, remove obstacles to his self-realisation." —Cocker.

या नहीं। यदि है तब तो विरोध करना उचित है अन्यथा नहीं। व्यक्ति को अपने निजी हित के लिए विरोध करने का अधिकार नहीं है।

स्पष्ट है कि ग्रीन व्यक्ति के इस अधिकार को स्वीकार करने के पश्चात् उसके प्रयोग पर पर्याप्त प्रतिबन्ध लगाता है। इससे ऐसा लगता है कि प्रतिरोध के अधिकार को न्यायसगत मानने के पश्चात् भी ग्रीन ने उसके प्रयोग को असम्भव-सा बना दिया है।

राज्य और अन्य समुदाय

ग्रीन ने राज्य को 'समुदायों का समुदाय' (An association of associations) कहा है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि समाज मे राज्य के अतिरिक्त वह अन्य समुदायों की सत्ता को स्वीकार करता है, उदाहरणार्थ, परिवार, चर्च, आर्थिक सगठन, आदि। मनुष्य का इन सगठनों से सम्बन्ध आता है, वह इनका सदस्य भी होता है। ये संगठन राज्य के द्वारा निर्मित नहीं होते हैं। जिस प्रकार राज्य की एक व्यवस्था होती है, उसी प्रकार इन समुदायो की भी अपनी पृथक्-पृथक् व्यवस्था होती है। प्रत्येक समुदाय अपनी पृथक् प्रणाली का नियामक होता है। राज्य की तरह ये समुदाय भी व्यक्ति की प्रगति मे सहायक होते हैं।

ग्रीन यह सब स्वीकार करता है पर वह बहुलवादी नहीं है। उसने राज्य को अन्य समुदायो से बडा माना है। राज्य का यह महत् कार्य है कि वह विभिन्न समुदायों के बीच अधिकारो और कर्तव्यो की व्यवस्थाओं मे सामञ्जस्य बनाये रखे। राज्य विभिन्न समुदायों का सरक्षक है। यद्यपि राज्य विभिन्न समुदायो का स्थान नहीं ले सकता और यह आवश्यक भी नहीं है तथापि वह उनसे बड़ा और सम्प्रभु अवश्य है।

अन्तर्राष्ट्रीयता एवम् युद्ध सम्बन्धी विचार

अन्तर्राष्ट्रीयता एवम् युद्ध के सम्बन्ध मे ग्रीन हीगल के उग्र आदर्शवादी विचारो मे सहमत नहीं है। वह स्पष्टतः अन्तर्राष्ट्रीयता का समर्थक, शान्ति का उपासक और युद्ध का विरोधी है।

ग्रीन मानवता की एकता में विश्वास प्रगट करता है, उसका मत है कि सम्पूर्ण विश्व, विश्व बन्धुत्व की स्थिति पर आ गया है, अत अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता स्वीकार की जानी चाहिए। मैकुगवर्न (McGovern) के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे ग्रीन राज्य से अधिक विस्तृत समाज को मानता है, समाज के वृत्त मे राज्य की स्थिति है न कि राज्य के वृत्त मे समाज की।"[14]

ग्रीन अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को स्वीकार करता है। अन्तर्राष्ट्रीयता और राज्य की स्थिति के सम्बन्ध मे ग्रीन की भावना को वेपर के इन शब्दों मे अच्छी

[14] "In international matters Green also feels the society ranks higher than the state."
McGovern.

प्रकार व्यक्त किया जा सकता है, "यदि ग्रीन का राज्य अपने भीतर के कम बड़े समाजों के अधिकारों की रक्षा करता है तो इसे अपने से बाहर के बड़े समाजों के अधिकारों का सम्मान करना चाहिए ।"[15]

ग्रीन युद्ध को मानवता का विरोधी मानता है। युद्ध वास्तविक बुराई है। यह 'जीवन एवम् स्वतन्त्रता' के अधिकार को समाप्त करता है, अतः अनुचित है।

युद्ध अपूर्ण राज्य का चिह्न है, जो सभ्यता के विकास के साथ स्वतः लुप्त हो जायगा, जैसे-जैसे राज्य पूर्ण होंगे और उनमे पारस्परिक सामञ्जस्य उत्पन्न होगा वैसे ही वैसे राज्यो की युद्धलिप्सा भी समाप्त हो जायेगी। ग्रीन युद्ध को कभी भी एक पूर्ण अधिकार (Absolute Right) नही मानता, वह एक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाते हुए युद्ध को अधिक से अधिक सापेक्षिक अधिकार (Relative Right) मानता है। सापेक्षिक इस रूप मे कि यदि कोई देश किसी दूसरे देश पर आक्रमण कर दे तो अपने देश की रक्षा के लिए युद्ध किया जा सकता है और इस स्थिति मे युद्ध एक अनुचित कार्य को रोकने के लिए दूसरा अनुचित कार्य है। इसका औचित्य केवल इसी स्थिति तक है। युद्ध के समर्थन मे हीगल के सभी तर्कों को ग्रीन ने अस्वीकार किया है।

मूल्यांकन

ग्रीन एक नये ब्रिटिश राजदर्शन—ऑक्सफोर्डदर्शन—का प्रवर्त्तक था, उसका सबसे बड़ा मूल्यांकन यही है कि उसने जर्मन आदर्शवाद को ब्रिटिश वातावरण के अनुकूल बनाया। उसमे हीगलवाद, व्यक्तिवाद और उदारवाद का अद्भुत और अपूर्व मिश्रित रूप देखने को मिलता है।

ग्रीन ने राजनीति-विज्ञान को नवीन मान्यताएं एवम् नवीन दृष्टिकोण दिया। राज्य की प्रकृति, उसकी अनिवार्यता, नैतिक जीवन की प्राप्ति एवम् आत्म-विकास मे राज्य की भूमिका का उचित विचार ग्रीन ने दिया। यद्यपि ग्रीन के राजदर्शन की कुछ प्रमुख कमजोरियाँ हैं, वह कुछ रूढ़िवादी जैसा तथा खोखले उदारवाद की *मान्यताओ* को *ग्रहण करता हुआ-सा लगता है,* उसका राज्य के कार्यो के सम्बन्ध मे दृष्टिकोण कुछ नकारात्मक-सा है, तथापि उसका चिन्तन उच्च कोटि का और सन्तुलित है।

आदर्शवाद के मुख्य सिद्धान्त

आधुनिक युग में आदर्शवाद की परम्परा का विकास दो वर्गों मे होकर हुआ, कुछ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पहलुओ तथा प्रश्नों पर दोनो वर्गों की मान्यताएं और स्थापनाएं परस्पर विरोधी थी। इतना होने पर भी कुछ ऐसे मूलभूत सिद्धान्त हैं जिन पर प्रायः सभी आदर्शवादी विचारक एकमत हैं। वे सिद्धान्त निम्न हैं।

[15] "And if Green's State must preserve the rights of the lesser community within it, it must respect the rights of the larger community outside it." —C. L. Wayper, *Political Thought*, p. 186.

1. **राज्य एक नैतिक सस्था है**—सामान्य विचार यह है कि राज्य व्यक्तियों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रमुख साधन है। इस रूप मे वह एक उपयोगी संस्था है। आदर्शवादी विचारक राज्य को इतना ही नही मानते, इससे अधिक वे राज्य को एक नैतिक सस्था मानते हैं। अरस्तू का कहना था कि "राज्य सभ्य जीवन की प्रथम आवश्यकता है और जिनको राज्य की आवश्यकता नही होती वे केवल देवता या जानवर ही होते हैं।" आज का कोई भी आदर्शवादी विचारक अरस्तू की उपरोक्त मान्यता को अस्वीकार नही करता। बोसांके ने अरस्तू के इस कथन को और भी अधिक दार्शनिक ऊँचाई देते हुए कहा है कि "राज्य एक नैतिक विचार का मूर्त रूप है" (An embodiment of ethical idea)। आदर्शवादी विचारक इस बात को मानते है कि राज्य हमारे जीवन के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है। हम उसके अभाव मे पूर्णता को प्राप्त नही कर सकते। इस प्रकार राज्य एक नैतिक सस्था है। बोसांके का कथन है कि "राज्य विश्वव्यापी सगठन का एक अग न होकर समस्त नैतिक ससार का अभिभावक है।"[16] ऐसा ही विचार हीगल का भी था। वह मानता था कि सामाजिक आचार की उच्चतम कला राज्य मे व्यक्त होती है।

2. **राज्य एक अनिवार्य सस्था है**—आदर्शवादियो की यह मान्यता पहिली मान्यता का स्वाभाविक परिणाम है। क्योकि राज्य एक नैतिक सस्था है और वह हमारे नैतिक जीवन के लिए आवश्यक भी है, अतः स्वाभाविक रूप से वह अनिवार्य भी है। "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है" ऐसा कहकर अरस्तू ने इसी तथ्य को स्वीकार किया था। हम राज्यविहीन समाज का विचार कर नही सकत, उसके अभाव मे अव्यवस्था, हिंसा और असामाजिकता विकसित होगी। व्यक्तियों मे जो पशुत्व छिपा है वह प्रबल होगा, और वे चरित्रहीन स्थिति मे पशुवत् आचरण करेंगे। समाज का सौन्दर्य जो मर्यादा के कारण स्थिर है और मानव जीवन की सम्पूर्ण श्रेष्ठता लुप्त हो जाएगी। अतः सुसस्कृत और सभ्य जीवन राज्य के अभाव मे सम्भव है ही नही। अतः राज्य एक अनिवार्य संस्था है।

3. **राज्य सर्वशक्तिमान है**—राज्य के अन्दर जितनी भी अन्य सस्थायें और सगठन हैं, वे सब राज्य से छोटे हैं। इसी प्रकार राज्य से बाहर भी राज्य से बड़ा और उसे प्रभावित करने वाला कोई अन्य संगठन नही है। हीगल तो यहाँ तक कहता है कि 'राज्य स्वयम् ईश्वर है, वह पृथ्वी पर स्थित दैवीय विचार है' (The state is God itself. It is the divine idea as it exists on earth.) हीगल ने अपने इस विचार को

[16] "State is the guardian of the whole moral world and not a factor within an organised moral world." —Bosanquet.

और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि "राज्य पृथ्वी पर साक्षात् ईश्वर का आगमन है, वह एक ऐसी दैवी इच्छा है जो विश्वव्यापी व्यवस्था मे वास्तविक रूप से प्रगट होती है।"[17] अनिवार्यतः इस प्रकार का राज्य सर्वाधिकारवादी, निरकुश और कठोर होगा।

4. राज्य का अपना व्यक्तित्व तथा उद्देश्य होता है—आदर्शवाद की यह *धारणा व्यक्तिवाद के विरुद्ध है जो 'आणविक सिद्धान्त' पर विश्वास करता है।* आदर्शवादी राज्य के स्वतन्त्र एवम् पृथक् व्यक्तित्व को स्वीकार करते हैं। *वे यह भी स्वीकार करते हैं कि राज्य की पृथक् इच्छा होती है। उनका यह भी* विश्वास है कि राज्य का पृथक् और निश्चित उद्देश्य होता है, जिसे प्राप्त करने के *लिए वह प्रयत्नशील रहता है।*

5 राज्य सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है—*समाज की अन्य सस्थाएँ छोटे-छोटे हितो और वर्ग-विशेष अथवा क्षेत्र-विशेष की इच्छा का* प्रतिनिधित्व करती हैं, इसके विपरीत राज्य 'सामान्य इच्छा' (General *will) का प्रतिनिधित्व करता है। सामान्य इच्छा का सिद्धान्त जो आधुनिक* आदर्शवाद का केन्द्र विचार है रूसो की देन है। राज्य हमारी अन्तर्चेतना *अथवा वास्तविक इच्छा की अभिव्यक्ति होने के कारण सामान्य इच्छा का प्रतीक* है। राज्य उन कार्यों को ही करता है जिनको हमारी अन्तर्चेतना कहती है।

6. राज्य व्यक्ति का सच्चा मित्र है—*व्यक्तिवाद व्यक्ति और राज्य मे* परस्पर विरोध मानता है, इसी कारण वह राज्य की शक्ति के विस्तार का विरोधी *है। आदर्शवाद का विचार इसके विपरीत है, वह व्यक्ति और राज्य मे परस्पर* कोई विरोध मानकर नही चलता। 'व्यक्ति बनाम राज्य' (State versus *the individual) के विचार को वह अस्वीकार करके चलता है।* उसका विश्वास है कि व्यक्ति और राज्य दो परस्पर विरोधी नही अपितु एक और समान *लक्ष्य को लेकर चलने वाले हैं। राज्य व्यक्ति का सच्चा साथी, मित्र और सलाहकार* है। सामान्य इच्छा जो राज्य का आधार है और जिसके अनुसार राज्य कार्य करता है, और सद्इच्छा जो व्यक्ति मे होती है, मे कोई विरोध नहीं है, अतः राज्य और व्यक्ति मे विरोध का प्रश्न ही पैदा नही होता।

आदर्शवाद की आलोचना

आदर्शवादी विचारधारा की विभिन्न आधारो पर आलोचना की गई है। आधुनिक राजनीतिक विचारकों ने इस विचारधारा के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की है। इनमे हॉबहाउस, मैकाइवर, लास्की और जोड प्रमुख हैं। कुछ आलोचनाएँ निम्न हैं।

[17] "The state is the march of God on earth. It is the divine will unfolding itself to the actual shape and organisation of the world" Hegal

1. ऐसा कहा जाता है, और है भी, कि आदर्शवाद पूर्णतः अव्यावहारिक राजनीतिक विचारधारा है। आदर्शवाद का राज्य प्रत्येक नागरिक की नैतिक इच्छा पर आधारित है, पर ऐसा राज्य व्यवहार मे तो देखने मे नही आता, हाँ उसका अस्तित्व या तो व्यक्ति की कल्पना मे अथवा स्वर्ग मे ही सम्भव हो सकता है।

आदर्शवाद जिस राज्य का विचार करता है वह पूर्ण राज्य है। पूर्ण राज्य अपूर्ण व्यक्तियो में स्थापित नही हो सकता। मनुष्य अपूर्ण है, अत मनुष्य द्वारा निर्मित सस्थाएँ भी, चाहे वे कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, उतनी ही अपूर्ण होगी जितना कि मनुष्य अपूर्ण है। राज्य इस नियम का अपवाद नही है।

2. आदर्शवाद राज्य को सर्वोच्च और समाज-रचना का केन्द्र मानकर चलता है, इसमे व्यक्ति को कोई महत्त्व नही है। व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यक्तित्व राज्य की सत्ता मे निमग्न हो जाता है। व्यक्ति व्यक्तित्वहीन, असहाय प्राणी-सा रह जाता है। समाज-रचना मे उसकी स्थिति नगण्य रहती है। बार्कर का कथन ठीक ही है कि "आदर्शवाद पूर्णतः राज्य को केन्द्र मान कर चलता है, व्यक्ति को नही। यह विचारधारा व्यक्ति के लिए सामाजिक व्यवस्था स्थापित नही करती वरन् सामाजिक व्यवस्था मे व्यक्ति के स्थान एव कर्त्तव्य का निर्धारण करती है।"[18]

3. समाज-सुधार की दृष्टि से आदर्शवाद की कुछ प्रमुख कमजोरियाँ है। आदर्शवाद मे किसी आदर्श की सृष्टि नही अपितु प्राय. प्रस्थापित अपूर्ण समाज की वस्तुस्थिति को ही तर्क द्वारा आदर्श रूप देने का प्रयत्न दिखलाई देता है। यही कारण था कि अरस्तू ने इस समय मे प्रचलित दास प्रथा का विरोध नही किया, हीगल ने निरकुश जर्मन राजतन्त्र का समर्थन किया और उदार आदर्शवादी विचारक ग्रीन ने भी अपने समय मे पूँजीवाद का विरोध नही किया। ये सब विचार आदर्शवादी राज्य की मूल अवधारणा से कहाँ तक मेल खाते हैं यह कहना अत्यन्त कठिन है। वस्तुत· इन सबका आदर्शवादी राज्य से कोई तर्कपूर्ण सम्बन्ध नही बिठाया जा सकता। यही कारण है कि हाब्सन जैसे विचारक ने आदर्शवाद को 'रूढिवादियों की चालें' (Tactics of Conservatism) कहा है।

4. आदर्शवाद मे व्यावहारिक चिन्तन नही है। आदर्शवाद राज्य के आध्यात्मिक आधारो की विवेचना मे ही लगा रहा है। इसका एक अप्रिय परिणाम यह हुआ है कि आदर्शवाद के पास वर्तमान भौतिक परिस्थितियो मे सुधार की कोई योजना नही है। असमानता, अशिक्षा, गरीबी, आदि जैसी मूल बुराइयों को दूर करने के लिए आदर्शवाद के पास कुछ भी नही है। इन प्रश्नो के प्रति आदर्शवाद उदासीन है।

[18] "Instead of starting from a central individual for whom the social system is supposed to be adjusted, the idealist starts from a central social system, in which the individual must find his appointed orbit of duty." —Barker.

5. हॉबहाउस (Hobhouse) ने आदर्शवाद की कटु आलोचना की है। उसने तो यहाँ तक कहा है कि आदर्शवाद निरकुशता, अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता और युद्ध का समर्थक है। वस्तुतः हीगल जैसे आदर्शवादी दार्शनिक के विचारो से एक ओर नाजी और फासीवाद ने प्रेरणा ली तो दूसरी ओर साम्यवाद ने भी प्रेरणा ली, दोनो ही लोकतन्त्र विरोधी और निरकुश तन्त्र के समर्थक हैं। यह आदर्शवाद की अप्रिय राजनीतिक फलश्रुति है।

6. हॉबहाउस ने एक अन्य आधार पर भी आदर्शवाद की आलोचना की है। उसके मतानुसार 'सामान्य इच्छा' का सिद्धान्त गलत है। उसका कथन है कि "इच्छा सामान्य नही हो सकती, और यदि वह सामान्य है भी तो वह इच्छा नही है।"[19] इस प्रकार हॉबहाउस ने आदर्शवाद के मूल सिद्धान्त को ही अस्वीकृत कर दिया।

7. आदर्शवाद निरा बुद्धिवादी सिद्धान्त है। विलियम जेम्स इसे 'शुद्ध बौद्धिक सिद्धान्त' कहता है। यह इसकी विशेषता भी है और कमजोरी भी। आदर्शवादी यह समझ ही नही पाये कि व्यक्ति सर्दैव बुद्धि से ही कार्य नही करते, अपितु उनके अनेक कार्य अबौद्धिक प्रवृत्तियो द्वारा नियन्त्रित होते हैं। मैक्डूगल (McDougall) का तो यह निश्चित मत है कि भाव और भावनाएँ (जो पूर्णतः अबौद्धिक है) व्यक्तिगत आचरण के समान सामूहिक आचरणो को भी निर्धारित करती हैं। ग्राहम वालस (Graham Wallas) ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य पर जोर दिया है कि बुद्धि नही अपितु "भावना, आदत, सकेत एव अनुकरण की अचेतन प्रक्रियाएँ ही राजनीति को निर्धारित करती हैं।"[20] ग्राहम वालस का तो दृष्टिकोण ही बुद्धि विरोधी है।

मूल्यांकन

आदर्शवादी विचारधारा का मूल्याकन इस रूप मे किया जा सकता है कि आदर्शवाद की दो मान्यताएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उपयोगी हैं; वे हैं :—

1. आदर्शवाद ने राज्य की सावयव एकता पर जोर दिया और इस प्रकार व्यक्तिवाद के कृत्रिम विरोध को जो उसने राज्य और व्यक्ति के बीच पैदा किया था समाप्त किया।

2. आदर्शवाद ने इस बात को सिद्ध किया कि वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य मे रहकर ही सम्भव हैं, राज्य के अभाव मे सम्भव नही है। राज्य और स्वतन्त्रता मे कोई मौलिक विरोध नही है। राज्य स्वतन्त्रता का सरक्षक और पोषक है।

आदर्शवाद ने गम्भीर चिन्तन और स्थायी मूल्य का राजनीतिक चिन्तन दिया।

[19] "If it is will, it cannot be general, and if it is general it cannot be will." —Hobhouse.

[20] "Politics is largely a matter of subconscious processes of habit and instinct, suggestion and imitation." —Graham Wallas.

सहायक पुस्तकें

McGovern	*From Luther to Hitler*
W. A. Dunning	*A History of Political Theories from Rousseau to Spencer,* Chapter VI
Bradley	*Philosophical Theory of the State* (English and Hindi)
C. E. M. Joad	*The Modern Political Theory*
McIver	*The Modern State*
Foster	*Masters of the Political Thought,* Vol. III
सर अर्नेस्ट बार्कर	इंगलैण्ड का राजदर्शन 1848 से 1914 तक
फ्रांसिस डब्ल्यू० कोकर	आधुनिक राजनीतिक चिन्तन

4

समाजवाद
(Socialism)

सामान्यत: ऐसा कहा जाता है कि समाजवाद आधुनिक युग की एक प्रभावशाली विचारधारा है। जागतिक कल्याण के उद्देश्य को सामने रखकर, वैषम्य, उत्पीडन और शोषण का अन्त करने के लिए एव समाज मे समानता की स्थापना करने के लिए, समाजवाद आधुनिक युग का एक आकर्षक और सशक्त दर्शन है।

समाजवाद अंग्रेजी के सोशलिज्म (Socialism) का पर्यायवाची हिन्दी शब्द है। सोशलिज्म शब्द की उत्पत्ति सोशियस (Socious) शब्द से हुई है जिसका अर्थ 'समाज' होता है। इस रूप मे समाजवाद का सम्बन्ध समाज और उसके सुधार से है।

समाजवाद शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1827 ई० मे ओ० नाइट कोआॅपरेटिव मैग्जीन[1] मे व्यक्तिवादी और उदारवादी विचारों और व्यवस्थाओं के विरुद्ध भावों को प्रदर्शित करने के लिए हुआ था। इसके पश्चात् 1930 में इङ्गलैण्ड और फ्रास मे रॉबर्ट ओवेन (Robert Owen), सेन्ट साइमन (Saint Simon) और चार्ल्स फोरियर (Charles Fourier) के सामाजिक विचारो की व्याख्या के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया। 1835 मे रॉबर्ट ओवेन की अध्यक्षता मे एक समाज (Society) की स्थापना की गई थी जिसका नाम 'एसोसियेशन ऑफ ऑल क्लासेस ऑफ ऑल नेशन्स' रखा गया था। इस समाज मे परस्पर वार्ता के समय अनेक बार 'समाजवाद' और 'समाजवादी' शब्द का प्रयोग होता रहा था। इसके पश्चात् तो 'समाजवाद' शब्द आम और बहुप्रयुक्त हो गया।

राजनीतिक विचार और मान्यता के रूप मे समाजवाद का उदय औद्योगिक क्रान्ति तथा उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियो के कारण हुआ। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप एक नई आर्थिक व्यवस्था ने जन्म लिया जिसे पूंजीवादी व्यवस्था कहते हैं। उस समय की अनेक आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एव

[1] यह पत्रिका रॉबर्ट ओवेन (1771–1858) के विचारो का प्रचार करने के लिए प्रारम्भ की गई।

मानवीय कठिनाइयों एवं समस्याओं का कारण यही पूँजीवादी व्यवस्था थी । उद्योग, व्यापार, उत्पादन के तरीके, वितरण की प्रणालियां, सभी पर चन्द लोगो का व्यक्तिगत स्वामित्व था । समाज का बहुत बडा वर्ग इन सब के लाभ से अछूता था। अर्थतन्त्र पर कुछ लोगो के अधिकार के कारण समाज दो असमान वर्गों मे बँट गया था। एक ओर श्रमिक लोगो का वर्ग था, जो सख्या मे कई गुना अधिक था पर जो निर्धन, असहाय और गरीब था, दूसरी ओर पूँजीपति वर्ग था, जो सख्या मे कम पर बहुत अधिक सम्पत्ति का स्वामी और शक्तिशाली था। इस व्यवस्था मे धनिक वर्ग धनी होता जा रहा था और निर्धन वर्ग निर्धन होता जा रहा था, परिणामस्वरूप समाज मे दो प्रकार के जीवन जिये जा रहे थे एक ओर विलासिता का जीवन था तथा दूसरी ओर व्यक्ति जीवित रहने के लिए खून को पसीना बनाकर बहा रहा था, एक ओर वैभव और ऐश्वर्य की प्रतीक ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ थी, दूसरी ओर रात व्यतीत करने के लिए झोपडियो की भी कमी थी, एक ओर असीमित और अपरिमित धन सचय हो रहा था, दूसरी ओर लोग ककाल मात्र रह गये थे। विपमता, दारिद्र्य, शोपण, अभाव और उत्पीडन से युक्त जीवन समाज का बहुत बडा वर्ग जी रहा था। समाज मे मजदूरी के आधार पर जीविका निर्वाह करने वालो की सख्या बढ रही थी और उनको पूँजीपति कम से कम दामो पर खरीद रहे थे। स्थिति इतनी बदतर थी कि उस समय सुकुमार बच्चे इतना अधिक समय तक काम करते थे जितना कि आज एक वयस्क भी नहीं करता।

इङ्गलैण्ड मे खनन उद्योग की जांच करने के लिए जो राजकीय आयोग नियुक्त किया गया था, 1841 म उसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट ने सारे इङ्गलैण्ड को हिला दिया। इसने बताया कि खानो म कितनी निर्दयता बरती जाती है, बच्चो और स्त्रियों के रोजगार की दशाएँ कितनी खराब हैं, मजदूरो को कितनी-कितनी देर तक काम करना पडता है, सुरक्षा के साधनो की कितनी कमी है और अनाचार तथा गन्दगी का कितना बोलबाला है।[2]

आउटन चार्लटन ने 1860 मे नोटिघम के एक सभा-भवन मे बोलते हुए कहा था कि "......नौ-नौ, दस-दस बरस के बच्चो को सुबह के चार बजे या रात के दो या तीन बजे उनके गन्दे बिस्तरो से उठाकर रात के दस, ग्यारह या बारह बजे तक काम करने के लिए मजबूर किया जाता है, और उसके एवज म उनको सिर्फ इतने पैसे दिए जाते हैं, जिससे वे मुश्किल से अपना पेट भर पाते है। इन बच्चो के अग दुर्बल होते जाते हैं, उनके ढांचे मानो छोटे और चेहरे खून की कमी से एकदम सफेद हो जाते हैं तथा उनकी मानवता का एक ऐसी पत्थर जैसी निद्रावस्था म सर्वथा लोप होता जाता है जिसके बारे म सोचने से भी डर लगता है...।"[3] 1863

[2] सेवाइन, राजनीति दर्शन का इतिहास, भाग २, पृ० 658।
[3] कार्ल मार्क्स, पूँजी, खण्ड पहिला, पृ० 275।

मे 'बाल सेवायोजन आयोग' की पहिली रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट मे उस समय के मजदूरो के जीवन की वास्तविक जानकारी मिलती है। रिपोर्ट मे स्टेफर्ड-शायर के अस्पताल के एक डॉक्टर जे० टी० आर्लेज का एक कथन है। वह इस प्रकार है, "एक वर्ग के रूप मे, मिट्टी के बर्तन बनाने वाले—स्त्रियाँ और पुरुष दोनो—शारीरिक दृष्टि से और नैतिक दृष्टि से ह्रास-ग्रस्त लोग हैं। आम तौर पर उनका शारीरिक विकास रुक गया है, आकृति भोडी हो गई है और उनका वक्ष अक्सर बहुत ही कुरूप होता है। वे लोग वक्त से पहिले बूढे हो जाते हैं; और इसमे तो तनिक भी सन्देह नही कि उनकी उम्र बहुत ही छोटी होती है। इन लोगो मे कफ की ज्यादती और खून की कमी होती है, और बार-बार होने वाला मन्दाग्नि का हमला, जिगर और गुर्दे की बीमारियाँ और गठिया रोग उनके शरीर की दुर्बलता को पूर्णतया स्पष्ट कर देते हैं। लेकिन जितनी बीमारियाँ हैं, उनमे वे सबसे ज्यादा वक्ष-रोगो—निमोनिया, राजयक्ष्मा, श्वासनली-दाह और दमे के शिकार होते हैं।"[4] यह सब गलत आर्थिक नीतियो तथा व्यवस्थाओ का परिणाम था। ऐसे दुखपूर्ण समय मे राजनीतिक मान्यता यह थी कि "वह सरकार अच्छी है जो *कम से कम शासन करती है।"* गैटिल के शब्दो मे *"सरकार से स्वतन्त्रता,* न कि सरकार के द्वारा स्वतन्त्रता, उस काल का मुख्य आदर्श था।"[5] अर्थात् राज्य शोषण और अनाचार को दूर करने के लिए और मजदूरों को एक अच्छा जीवन दिलाने के लिए आर्थिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप नही करता था। मजदूर नारकीय जीवन व्यतीत कर रहे थे और राज्य एक दर्शक की भाँति यह सब देख रहा था। वस्तुत. यह व्यक्तिवाद का उग्र और प्रतिवादी रूप था। स्पेंसर के जीवशास्त्रीय सिद्धान्तो पर आधारित व्यक्तिवादी धारणाओं ने व्यक्तिवाद को और भी अधिक क्रूर कर दिया था। इससे अनेक सामाजिक विकृतियो ने जन्म ले लिया था। ऐसी स्थिति मे उसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक थी। लोग सोचने लगे कि समाज का स्वस्थ विकास रिकार्डो या माल्थस के आर्थिक सिद्धान्तों अथवा मिल और स्पेंसर की राजनीतिक मान्यताओं के आधार पर नही हो सकता वरन् इसके लिए एक नवीन, आर्थिक प्रणाली और स्वस्थ सामाजिक दर्शन की आवश्यकता है, जो केवल व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के आग्रह को लेकर ही न चले पर सामाजिक कल्याण एव सामाजिक साम्य का विचार भी लेकर चले जिससे वैषम्य दूर किया जा सके और शोषण का अन्त हो सके। यह सब उनको समाजवाद मे मिला। अत. व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया के रूप मे समाजवाद अस्तित्व मे आया।

इस प्रकार समाजवाद उस आर्थिक एव राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया है जो व्यक्तिवाद और पूँजीवाद का परिणाम थी। यह 'मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण' के विरुद्ध उत्पादन के स्रोतो एव वितरण की प्रणालियो पर कुछ लोगो के

[4] वही, पृ० 276–277।

[5] गैटिल, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ० 397।

व्यक्तिगत स्वामित्व के विरुद्ध, राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित करने के विरुद्ध, व्यक्ति की एकाधिकारी प्रवृत्ति के विरुद्ध, एक सगठित और बहुत बडे वर्ग की आवाज है।

यह समाजवाद के आगमन की पृष्ठभूमि है। यही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि समाजवाद क्या है ? उसका निश्चित स्वरूप और सिद्धान्त क्या है ? पर यही सबसे कठिन और जटिल कार्य है। कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर समाजवादियो मे परस्पर मतभेद हैं। आज समाजवादी विचारक इसके स्वरूप, कार्यक्रम एव सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे एकमत नही हैं। समाजवाद की एक सुनिश्चित और सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन और दुरूह है। यह स्थिति वर्तमान मे उपस्थित हुई ऐसा ही नही है अपितु उन्नीसवी सदी मे भी उपस्थित थी, आज असुविधा यह और है कि यह शब्द इतना अधिक प्रचलित एव बहुस्वीकृत हो गया है कि इसकी व्याख्यायें ही विभिन्न हो रही हैं। इस बात का अन्दाज हम इसी तथ्य से लगा सकते हैं कि डॉन ग्रिफिथ्स (Don Griffiths) ने समाजवाद क्या है ? नामक अपनी रचना मे समाजवाद की लगभग 263 परिभाषाएँ सग्रहीत की थी। 1892 मे ही पेरिस के एक पत्र ली फिगारो (*Le Figaro*) ने विभिन्न लोगो द्वारा विभिन्न समयो पर दी गई समाजवाद की लगभग 600 परिभाषाये दी थी।[6] आज के परिवर्तित समय मे जब कि अनेक सामाजिक मूल्य एव राजनीतिक स्थितिया बदल गई हैं समाजवाद की परिभाषाओ मे वृद्धि ही हुई है कमी नही। प्रसिद्ध विचारक कोकर के अनुसार, "समाजवाद का अभिप्राय सम्पत्ति के सभी आधारभूत साधनो पर नियन्त्रण से है। यह नियन्त्रण समाज के किसी वर्ग द्वारा न होकर स्वय समाज के द्वारा होगा एव धीरे-धीरे व्यवस्थित ढग से स्थापित किया जाएगा।" सेलर्स नामक विचारक का मत है कि "समाजवाद एक ऐसा प्रजातान्त्रिक आन्दोलन है, जिसका उद्देश्य समाज के ऐसे आर्थिक सगठन को प्राप्त करना है, जो न्याय तथा स्वतन्त्रता की यथासम्भव मात्रा प्रदान करेगा।" ब्रिटेन के प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेन्ड रसल के अनुसार, "यदि हम इसका अर्थ भूमि तथा सम्पत्ति के सामुदायिक स्वामित्व से लें तो हम इसके सार के अधिक निकट पहुँच सकेंगे।" लास्की ने समाजवाद की परिभाषा इस प्रकार की है, "समाजवाद एक आदर्श है और एक साधन भी। इसका आदर्श एक ऐसे समाज की स्थापना करना है जहाँ उत्पादन के साधनों तथा वितरण पर सामाजिक नियन्त्रण होने के कारण विभिन्न सामाजिक वर्गों को मिटा दिया जाएगा। इस आदर्श की प्राप्ति के हेतु यह अपना साधन एक सामाजिक क्रान्ति मानता है जिसके फलस्वरूप सर्वहारा-अधिनायकत्व स्थापित किया जा सके।"[7] समाजवाद पर विचार करते समय एक बात का ध्यान आवश्यक रूप से रखना चाहिए और वह यह कि प्राय लोग हर उस व्यवस्था को जो व्यक्तिवाद-विरोधी

[6] अम्बादत्त पन्त, राजनीतिशास्त्र के आधार, द्वितीय भाग, पृ० 221।
[7] H. J. Laski, *Communism*, 1927, p 11

होती है समाजवादी मानने लगते हैं। लोग व्यक्तिवाद विरोधियो को समाजवाद के साथ जोड देते हैं पर ऐसा नही है। व्यक्तिवाद का विरोधी समाजवादी हो ऐसा अनिवार्य नही है। उदाहरणार्थ उन्नीसवी सदी के अन्तिम समय मे जर्मनी मे अध्यापको का वह वर्ग जिसने व्यक्तिवाद की 'यद् भाव्यम नीति' का विरोध किया वह समाजवादी नही था, पर लोगों ने उसे समाजवाद के साथ जोड दिया। यही चीज फ्रान्स मे भी हुई जहाँ Solidarist लोगो ने पूँजीवादी व्यवस्था को अस्वीकार अवश्य किया एव उसे प्रकृति मे अधिकाधिक कोआँपरेटिव (जनसहकारी) बनाने की बात कही पर उनके आर्थिक, सामाजिक एव न्यायिक विचारो मे कुछ भी समाजवाद नहीं था।

समाजवाद की परिभाषाओं की अधिकता और उनके मध्य किसी तालमेल के अभाव के कारण समाजवाद की एक सुनिश्चित परिभाषा कर पाना कठिन-सा है। इस कठिनाई को प्रसिद्ध विचारक रापोपोटे ने काफी गम्भीरता से अनुभव किया। अत. उनका कहना है, "यदि मुझसे पूछा जाए कि 'क्या मै स्वय एक समाजवादी हूँ ?' तो मुझे स्पष्ट रूप से यह उत्तर देने के लिए विवश होना पड़ेगा कि इन सब बातों का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि कोई व्यक्ति समाजवाद से क्या समझता है।"

"समाजवाद के बडे भवन मे बहुत-से छोटे घर हैं। मैंने समाजवाद की भिन्न-भिन्न चालीस के लगभग परिभाषाएं उद्धृत की हैं तथा मैंने कभी यह प्रगट नही किया कि मेरी सूची विस्तृत है। यदि समाजवाद का अर्थ न्याय, समता, वास्तविक प्रजातन्त्र, मनुष्यता से प्रेम, दूसरो का उपकार करना, सहनशीलता तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, उच्च नैतिक आदर्श, शान्ति तथा सद्भावना है, तब मैं यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि मैं एक समाजवादी हूँ। दूसरी ओर, यदि समाजवाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को पीसता और दबाता हो, यदि वह सेना का केन्द्र-स्थान है, यदि वह अत्याचार, निर्दयता तथा विनाश का पक्षपाती है, तब मैं समाजवाद का शत्रु हूँ। यदि समाजवाद का वास्तविक उद्देश्य लोगो मे विद्यमान सम्पत्ति की अत्यधिक विषमता को बदलना है, इस प्रकार की समानता करना कि उन लोगो से, जिनके पास बिना परिश्रम किये ही अत्यधिक है, लेकर, उन लोगो को देना, जिनके पास कठिन परिश्रम करने पर भी बहुत कम है, तब मुझे अवश्य यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि मैं हृदय से एक समाजवादी हूँ। किन्तु, यदि समाजवादी एक ऐसी लूट की भावना से प्रेरित किए जा रहे हों, जिससे वे कठिन परिश्रम करने वाले कुछ लोगों की जेबो पर हाथ मारने पर तुले हो, तथा उन लोगों की जेब भरने पर अग्रसर हो, जिन्होने कुछ भी कार्य नही किया, तब मैं एक समाजवादी नही। यदि समाजवाद का अर्थ मनुष्य के द्वारा मनुष्य पर किये जा रहे अत्याचार तथा दुरुपयोग को समाप्त करना है, समाज को न्याय तथा ममता की भावना से बदलना है, दण्डविधान, हत्याकाण्ड तथा भाई-बहिनों की हत्या करने वाले

युद्धो की शासन-पद्धति अथवा राज्य-क्रम को उड़ाना अथवा हटाना है, एक शब्द मे, यदि यह एक आदर्शपूर्ण प्रगति है, तब मुझे इस बात का गर्व है कि मेरी गणना समाजवाद की भारी सेना के सैनिकों में की जाए। किन्तु यदि समाजवाद का उद्देश्य श्रेणी युद्ध को आरम्भ करना, धनिक श्रेणियों का नाश करना तथा तानाशाही राज्यो की स्थापना करना है, किसी भी रूप मे, यदि यह भौतिक, नास्तिक तथा सैनिक दृष्टिकोण वाला है तथा अधिकार और न्याय, आचार तथा नीतिशास्त्र का ध्यान नहीं रखता, तो मैं निश्चित रूप से एक समाजवादी नही। यदि समाजवाद के तरीके प्रेरणापूर्ण हैं *तथा शक्ति पर आधारित नही, यदि* इसके *नीति-वाक्य* शान्ति पर आधारित है, जो व्यक्ति मे श्रेष्ठतम तथा सौजन्यपूर्ण गुणो के प्रति सबका ध्यान आकर्षित करते है, जिससे कि विश्व मे शान्ति, न्याय तथा समता के युग का प्रारम्भ हो, *तब मुझे एक समाजवादी* होने मे प्रसन्नता है। *किन्तु यदि समाजवाद* के नीतिशास्त्र युद्ध के नीतिशास्त्र हैं, यदि इसके साधन ऐसे हैं, जहां शिकारी पक्षियो को स्वतन्त्रता के अण्डे हथियाने मे प्रयुक्त किया जाता है तथा दृष्टिकोण इस बात का रहता है कि शान्ति के कबूतर को उत्पन्न किया जाए, तब मैं इस प्रकार के साधनों की निन्दा करता हूँ। न्याय, समता, सामाजिक सम्पत्ति का अधिक समतापूर्ण उपायो से बँटवारा, विषमताओं, शोषण तथा दु खो को दूर करना—ये ऐसे आदर्श हैं, जिनकी मैं बहुत प्रशसा करता हूँ तथा उनके लालन-पालन अथवा पोषण का पक्षपाती हूँ। किन्तु दूसरी ओर मैं विनाश, हिंसा तथा तानाशाही पद्धतियो को घृणा की दृष्टि से देखता हूँ।"[8] ब्रिटेन के प्रसिद्ध लेखक रैम्जे म्योर ने समाजवाद के सम्बन्ध मे बडी रोचक बात कही है, उनका कहना है कि "समाजवाद गिरगिट के समान एक विश्वास है। यह अपना रग परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। गली के कोने तथा सभाकोष्ठ के लिए यह अपने ऊपर वर्ग-युद्ध का प्रज्वलित अगूरी (लाल) रग ओढे रहता है। बौद्धिक लोगो के लिए यह भूरे रग से युक्त लाल गोली है। भावुक व्यक्तियों के लिए यह कोमल, गुलाबी गुलाब का फूल है, तथा वर्कर्ओ के क्षेत्र मे यह निर्मल सफेद वर्ण धारण कर लेता है, जिसमे उदार महत्वाकाक्षाओ के मन्द प्रवाह का स्पर्श है।" समाजवाद के सम्बन्ध मे एक रोचक विचार सी० ई० एम० जोड का भी है। उनके अनुसार "समाजवाद एक टोपी है जिसकी शक्ल बदल गई है क्योकि प्रत्येक व्यक्ति इसे पहिनता है।"[9] जोड के इस कथन की कुछ व्याख्या अपेक्षित है।

हम देख चुके हैं कि समाजवाद केवल एक विचारधारा या दर्शन ही नही है *अपितु एक आन्दोलन भी है। इस आन्दोलन को भी एक निश्चित दिशा नहीं है।*

[8] विद्याधर महाजन की पुस्तक **आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ** मे उद्धृत, पृ० 1–2।

[9] "Socialism is just like a hat which has lost its shape because everybody wears it" —C E M Joad, *Recent Political Theories*, p 40.

विश्व में यह विविध रूपों मे है। कही यह आन्दोलन प्रजातन्त्रात्मक पद्धति द्वारा सचालित है और कही यह पूर्णतः उग्र और प्रजातन्त्र विरोधी है ; इतना ही नही, तो कही यह हिंसक क्रान्ति द्वारा प्रस्थापित पद्धति को बदलना चाहता है, कही यह अराजक समाज की स्थापना का लक्ष्य लिये है। सक्षेप मे, समाजवादी मान्यताओं के आधार पर समाज और उसकी व्यवस्थाओ को सव्यूहित करने का समाजवादी तरीका एक और निश्चित नही है।

यही स्थिति वैचारिक दृष्टि से समाजवाद की कही जा सकती है। समाजवाद वैचारिक एव सैद्धान्तिक दृष्टि से अनेक रूपो मे बँटा हुआ है। राज्य के प्रति, प्रेरणा के प्रति एव न्याय के प्रति दृष्टिकोण के आधार पर समाजवाद को विभिन्न वर्गों मे बाँटा जा सकता है। यदि हम प्लेटो और उसके बाद के समाजवादियो को छोड भी दें तो भी आधुनिक वैज्ञानिक समाजवाद की कई धाराएँ हैं। सघवाद, राज्य समाजवाद अथवा समष्टिवाद, फेबियनवाद, श्रेणीमूलक समाजवाद, अराजकतावाद, आदि अनेको रूपो मे समाजवादी सिद्धान्त विकसित हुए हैं। वर्ग-सघर्ष मे विश्वास समाजवाद का प्रमुख सिद्धान्त है, पर यह भी नही कहा जा सकता, कारण समष्टि-वादी विचारक वर्ग-समन्वय तथा वर्ग-सहयोग मे विश्वास करते हैं। समाजवाद को साम्यवाद की पहिली सीढी कहा जाता है, पर समाजवाद विशुद्ध प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था भी है, जिसका साम्यवाद से कोई सरोकार नही है। सघवाद हिंसक तरीकों मे, तोड-फोड़ मे, विध्वसात्मक पद्धति मे विश्वास रखता है, जबकि राज्य समाजवाद शनै-शनै प्रजातन्त्रीय वैधानिक साधनो से समाजवाद की स्थापना का समर्थक है।

समाजवाद की व्यवस्थाओं में देश, काल, परिस्थिति, राष्ट्रीयता की भावना तथा साधन के रूप मे स्वीकृत माध्यमों—कार्य-पद्धति—के कारण विभिन्न हैं। यही कारण है कि समाजवादी देशों के लक्ष्य और व्यवस्थायें प्राय विभिन्न प्रकार की हैं।

पर बात इतनी ही नही है। एक ही देश में अनेक प्रकार के समाजवादी आन्दोलन और विचार हैं। ये सब अपने को समाजवादी कहते हैं पर साथ ही परस्पर एक-दूसरे के घोर विरोधी भी हैं। हम इसके लिए भारत का उदाहरण ले सकते हैं। यही स्थिति अन्य देशो की भी है। अत एक निश्चित समाजवादी प्रणाली और सिद्धान्त का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन और जटिल है।

अत यह कहा जा सकता है कि समाजवाद की कोई निश्चित परिभाषा न कर *पाने का एक कारण यह है कि समाजवाद* अपने स्वरूप, सिद्धान्त, कार्यक्रम और कार्य-पद्धति मे सभी स्थानों पर एक-सा नही है। इसका एक सुनिश्चित स्वरूप स्थिर नही किया जा सकता। यह एक राजनीतिक व्यवस्था है, पर साथ ही, सामाजिक मूल्यो के प्रति नया दृष्टिकोण, नवीन आर्थिक प्रणाली का प्रस्थापक, नवीन नैतिक मूल्यो का उन्नायक, जागतिक एकता का नवीन आधार-खोजी, साहित्य का नया

प्रयोग, कला का नया प्रकार, एक विचार और एक आन्दोलन और नवीन जीवन-दृष्टि भी है।

समाजवाद का इतिहास

यद्यपि एक शब्द के रूप में समाजवाद शब्द का प्रयोग काफी बाद में हुआ और एक विचारधारा के रूप में समाजवाद मूलत आधुनिक युग की विचारधारा है तथापि एक व्यापक अर्थ मे—'मनुष्य की समानता' के अर्थ में—समाजवादी चिन्तन के तत्त्व ईसापूर्व के विचारकों मे भी मिलते हैं ; और तब से अब तक यह विचार किसी न किसी रूप में कई विचारको के चिन्तन का मूल रहा है। राबर्ट व्हान पोलमैन (Robert Von Pohlmann) का कहना है कि 6ठी सदी ई०पू० में समाजवाद का प्रवेश हो चुका था और 4थी सदी ई०पू० से यह ग्रीस का प्रमुख विचार बन चुका था। ईसापूर्व सामाजिक विषमता और अन्यायपूर्ण स्थिति को समाप्त कर न्याय एव समानता से पूर्ण समाज की रचना का विचार करने वाले अनेक विचारक हुए जिनमे होशिया (Hosea), एमोस (Amos), जर्मिया (Jeremiah) आदि प्रमुख हैं, पर ये सब विचारक मूलत. समाजवादी ही थे ऐसा नही है। लैडलर (Laidler) का यह कथन सत्य है कि ये सब विचारक 'नैतिकता-धर्म-प्रधान, स्वप्नलोकीय विचारक' थे समाजवादी नही।[10] ग्रीक चिन्तको के समाजवादी विचार मूलत धार्मिक और आध्यात्मिक परिवेश की उपज थे। उस समय औद्योगिक क्रान्ति, पूँजीवादी शोषण और मजदूर वर्ग का आविर्भाव नही हुआ था।

प्लेटो (428–348 ई०पू०) ने रिपब्लिक नामक पुस्तक मे 'आदर्श राज्य' की प्रस्थापना के लिए साम्यवाद की योजना प्रस्तुत की है उसके आदर्श राज्य की व्यवस्था कठोर, अनुशासित और आत्मसयम पर आधारित थी। प्लेटो प्रथम विचारक था जिसने साम्यवाद की योजना प्रस्तुत की। उसकी योजना मात्र काल्पनिक एव स्वप्नलोकीय नही थी वरन् ग्रीस की तद्जन्य परिस्थितियो के विरुद्ध बुद्धिवाद का क्रान्तिकारी प्रयत्न था। पर उसके साम्यवाद का वर्तमान साम्यवाद से कोई मेल नही। प्लेटो का साम्यवाद पूर्णत आध्यात्मिक एव नैतिक था जबकि वर्तमान साम्यवाद ऐसा नही है। आज प्लेटो के साम्यवाद की राजनीतिक आदर्श के रूप में ही स्मृति शेष है।

प्लेटो के बाद भी, मध्ययुग मे अनेक ऐसे विचारक हुए जिन्होंने सामूहिक स्वामित्व की बात कही जो आज के समाजवाद से मिलती-जुलती है। ऐसे विचारकों मे कवि वर्जिल (Virgil), सेनेका (Seneca), जोसेफस (Josephus) आदि प्रमुख हैं। सन्त ऑगस्टीन (Saint Augustine, A.D 354–430) ने भी धार्मिक स्वप्नलोकीय कल्पनायें की थी।

[10] Harry W Laidler *A History of Socialist Thought*, sixth printing, pp. 4-9 अम्बा दत्त पन्त आदि, राजनीति शास्त्र के आधार, भाग दो पृ० 223 में उद्धृत।

काफी समय बाद सर टामस मूर (1478–1535) की प्रसिद्ध साहित्यिक रचना यूटोपिया (*Utopia*) जो लैटिन में प्रकाशित हुई तथा काफी समय बाद जिसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ, सामने आयी। मूर पर नव-जागरण (Renaissance) एवं मानवतावाद का काफी प्रभाव पड़ा था। उसके समय में बड़े-बड़े जागीरदारों ने खेती की भूमि की सीमाबन्दी करके भेड़-पालन का व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया था। इसके परिणामस्वरूप किसानों की दशा काफी बिगड़ गई थी। मूर पर इसका गम्भीर प्रभाव पड़ा। उसका मन यह सब देख कर विचलित हो गया, परिणामस्वरूप उसने यूटोपिया नामक पुस्तक में उस समय के इंगलैण्ड की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं की हँसी उड़ाई तथा एक आदर्श समाज की कल्पना की जिसमें किसी भी प्रकार का दुःख, दारिद्र्य एवं सन्ताप न था। मूर के द्वारा प्लेटो की मृत्यु के लगभग 1900 वर्ष बाद पुनः एक 'काल्पनिक समाज' की भूमिका तैयार की गई।

मूर ने जिस काल्पनिक नगर का विचार किया वह 2 मील चौड़ा और चन्द्रकला (Crescent) के समान होना था। उसमें 54 नगर होने थे। कृषि मुख्य व्यवसाय था। प्रत्येक व्यक्ति को 6 घण्टे कार्य करना था। उत्पादन किया हुआ सब माल नगर के गोदाम में एकत्रित किया जाना था जिसमें से प्रत्येक अपनी आवश्यकतानुसार ले सकता था। इस प्रकार वितरण में पूर्णतः साम्य था। सोना, हीरा, जवाहरात आदि का कोई मूल्य नहीं था। घरों में ताले नहीं लगने थे, प्रति दस वर्ष बाद घर लाटरी से बदले जाने की व्यवस्था थी। उस काल्पनिक नगर में परिवार अलग-अलग होने थे पर भोजन सब मिलकर करेंगे ऐसी व्यवस्था थी। शासन-कार्य में सब भाग लेंगे। शिक्षा का रूप व्यावहारिक होगा।

मूर की राज-व्यवस्था भी सुन्दर और सुखद थी। प्रत्येक तीस परिवार एक मजिस्ट्रेट को चुनते जो फिलार्क कहलाता। प्रति दस मजिस्ट्रेट एक आर्क-फिलार्क को चुनते। ये आर्क-फिलार्क एक नरेश को चुनते जो जीवन-पर्यन्त लोगों पर राज्य करता। पर मूर की इतनी सुन्दर कल्पना, केवल कल्पना बन कर ही रह गयी, उसका मूल्य व्यवहार ने कुछ नहीं चुकाया।

सर टामस मूर के पश्चात् फ्रांसिस बेकन (Francis Bacon) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक न्यू ऐटलांटिस (*New Atlantis*) में उस समय की सामाजिक व्यवस्था की आलोचना करते हुए एक 'आदर्श राज्य' का चित्र प्रस्तुत किया और इस प्रकार टामस मूर के लगभग 100 वर्ष पश्चात् पुनः एक आदर्श राज्य की कल्पना देखने को मिलती है। फ्रांसिस बेकन ने दक्षिणी समुद्र में स्थित एक द्वीप की कल्पना की जहाँ की जनता काफी सुखी और प्रसन्न है। इस द्वीप में बेकन ने एक कालेज की भी कल्पना की जिसे वह 'सलोमन हाउस' (Salo non's House) कहता है। इसमें नित्य वैज्ञानिक प्रयोग हुआ करेंगे। फ्रांसिस बेकन स्वयं विज्ञान-प्रेमी था।

आधुनिक समाजवादी विचार प्रच्छन्न रूप से इगलैण्ड मे चार्ल्स के समय डिगर्स (The Diggers) लोगों की मान्यताओं में मिलते है। चार्ल्स व जनता के बीच जब विवाद हुए तो जनता मे एक वर्ग बना जिसको 'डिगर्स' नाम से पहिचाना गया क्योकि इन लोगो ने उस समय (1649) खुली जमीन को लेकर खेती करने की कोशिश की तथा यह विचार किया कि उस जमीन से होने वाली उपज गरीब जनता में बाँट दी जायेगी। अत इनका डिगर्स नाम पड गया। इन लोगों मे गेरार्ड विस्टेन्ले (Gerard Winstanley) नामक एक विचारक भी हुआ जिसे मैक्स बीर (Max Beer) ने साम्यवादी कहा है। उसका मत था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति सभी प्रकार की सामाजिक बुराइयों और भ्रष्टाचारों का मूल कारण है। विस्टेन्ले का कहना था कि भूमि साझे की रहे। उसका उत्पादन एक साझे के स्टोर मे रखा जाय जहाँ से सब लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार चीजें ले सकें।" ये सभी विचार आधुनिक समाजवाद के काफी निकट हैं।

उपरोक्त सभी स्थितियों मे राज्य अथवा प्रस्थापित शासन-व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया मूलत भावुक और धार्मिक थी न कि राजनीतिक, इस कारण उसका विकास भी काल्पनिक था, परन्तु मध्ययुग के पश्चात् अठारहवी शताब्दी मे यह प्रतिक्रिया राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर हुई। इस प्रतिक्रिया मे आधुनिक समाजवाद की अनेक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। वस्तुत अठारहवी सदी मे भाप तथा उससे चलने वाले यन्त्रो का आविष्कार हुआ जिसने औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया। इसके परिणामस्वरूप एक नयी सभ्यता और नये सामाजिक मूल्य विकसित हुए। इन सबके परिणामस्वरूप लोगों के विश्वास और मान्यतायें बदलने लगी। समाज मे एक नये वर्ग 'मजदूर वर्ग' का धीरे-धीरे आविर्भाव हो चला, धन का असमान वितरण होने लगा, व्यक्तिगत स्वामित्व बढने लगा, जिसके कारण समाज मे अन्याय, शोषण और दारिद्र्य की वृद्धि हुई। इन परिस्थितियों मे यूरोप के अनेक देशो म तद्जन्य परिस्थितियों के विरुद्ध विचार विकसित होने लगे। ये विचार फ्रास, इगलैण्ड, जर्मनी, आदि देशो मे विशेष रूप से सामने आये।

फ्रान्स की रक्तक्रान्ति के पश्चात् ऐसी आशा की गई थी कि कोई नवीन सामाजिक और राजनीतिक पद्धति विकसित होगी जिसमे सभी को सामाजिक न्याय तथा महत्त्व मिलेगा। पर क्रान्ति के पश्चात् भी कोई सन्तोषजनक सामाजिक प्रणाली विकसित नही हुई। इस क्रान्ति मे कृषकों को अवश्य कुछ लाभ मिला पर शहरो का जीवन अप्रभावित-सा रहा। क्रान्ति मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन किया गया अत पूँजीपतियो की सम्पत्ति का अधिकार सुरक्षित रहा। ऐसी स्थिति मे व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार (Right of Private Property) की गम्भीर आलोचना की जाने लगी। सभी बुराइयो का कारण उसमे दीखने लगा। बैबुफ व बैबेट ने 'पूर्ण समानता' के सिद्धान्त को स्वीकार किया। बैबुफ का कहना था कि

"समाज का उद्देश्य सबको सुखी बनाना है जिसका अर्थ है सब समान हों।" समानता सम्बन्धी इन विचारो का आगे काफी प्रभाव हुआ। लास्की आदि विचारकों का तो यहाँ तक कहना है कि बँबुफ के पूर्व वस्तुत फ्रान्स मे क्रान्ति के पश्चात् सही अर्थों मे कोई समाजवादी हुआ ही नही। लगभग यही से उन्नीसवी सदी का समाजवादी चिन्तन प्रारम्भ होता है। उन्नीसवी सदी का समाजवाद अपनी विशेषताओ और प्रवृत्तियों मे, अठारहवी सदी के समाजवाद और बाद के मार्क्सवादी समाजवाद, दोनों से भिन्न था। यह अनिवार्यत: अपने पूर्व के समाजवादी विचारो से आगे था, पर मार्क्स के समाजवादी दृष्टिकोण की तुलना मे नही। यह मार्क्स के समाजवाद से इन अर्थों मे भी भिन्न था कि इसका दृष्टिकोण सहानुभूति और विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सहयोग पर टिका था। कुल मिलाकर यह तद्जन्य परिस्थितियो के विरुद्ध बुद्धिवाद की प्रतिक्रिया थी। इसमे सन्देह नही कि उनके सकल्प महान् थे पर उनके विचारो के आधार कुछ परम्परागत नैतिक मूल्यो पर टिके थे। वे विशुद्ध वैज्ञानिक नही थे, वे अपने नवीन विचारो को यथार्थ की भूमि पर खडा नही कर सके, अत: ऐन्जिल्स अपनी पुस्तक **सोशलिज्म : यूटोपियन एण्ड साइन्टिफिक** मे इस प्रकार के समाजवाद को भी 'स्वप्नलोकीय समाजवाद' मानता है। उसका कहना है कि "प्रारम्भिक दिनों के समाजवाद ने निश्चित रूप से उत्पादन के स्थापित पूँजीवादी तरीकों और उनके परिणामों की कटु आलोचना की, पर वे उनकी व्याख्या नही कर सके और इस कारण वे सफल नही हो सके। वे उसे बुरा कह कर केवल अस्वीकृत कर सके।"[11] इस युग के प्रमुख समाजवादी—काल्पनिक, समाजवादी—विचारकों मे सेन्ट साइमन (St. Simon), चार्ल्स फोरियर (Charles Fourier) रॉबर्ट ओवेन (Robert Owen), आदि प्रमुख हैं। उनके राजनीतिक विचारों का अध्ययन आवश्यक है।

सेन्ट साइमन (St. Simon, 1760–1825)

सेन्ट साइमन एक ऐसा विचारक था जिस पर फ्रान्स की क्रान्ति का गम्भीर प्रभाव पडा था। फ्रान्स की क्रान्ति के समय उसकी उम्र 30 वर्ष से भी कम थी। वह पहिले पादरियो के सम्पर्क मे रहा, फिर सेना मे भर्ती हो गया। क्रान्ति के समय उसने अपने कुलीन पद (Nobility) का त्याग किया। बाद मे उसने सेना से त्याग-पत्र दे दिया और एक विचारक के रूप मे प्रगट हुआ।

सेन्ट साइमन के युग मे समाजवादी युग समाप्त हो रहा था तथा औद्योगिक युग का विकास हो रहा था। धर्म तिरोहित हो रहा था। अन्न प्रश्न यह था कि औद्योगिक समाज मे जो धर्मरहित-सा था शान्ति कैसे स्थापित हो और सुख कैसे

[11] "The socialism of earlier days certainly criticised the existing capitalistic mode of production and its consequences. But it could not explain them, and, therefore, could not get the mastery of them It could only simply reject them as bad" —Engels, *Socialism · Utopian and Scientific*, p 49.

मिले ? साइमन ने इसका उत्तर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक दि क्रिश्चियनिज्म (*The Christianism*) में दिया है। उसका विचार था कि आधुनिक समाज के विकास के लिए विज्ञान, उद्योग तथा पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता है। उसने वर्ग-सघर्ष का अथवा पारिश्रमिक समानता का प्रतिपादन नहीं किया।

सेन्ट साइमन ने यह विचार व्यक्त किया कि राजनीति उत्पादन का विज्ञान है। *राजनीतिक परिवर्तनों का आधार आर्थिक या उत्पत्ति के साधनो में होने* वाले परिवर्तन ही हैं। उसने यह भी कहा कि आगे जाकर राजनीति अर्थशास्त्र मे समा जायगी और 'राजसत्ता का उन्मूलन' हो जायगा। अपनी पुस्तक **दि रिआर्गनाइजेशन ऑफ यूरोपियन सोसाइटी** (*The Reorganisation of European Society*) मे वह ऐसे समाज के निर्माण के लक्ष्य को घोषित करता है जिसमें कि प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर द्वारा प्राप्त क्षमता के आधार पर स्थान मिले और कार्य के अनुसार पारिश्रमिक मिले। उसने उत्तराधिकार की प्रणाली का विरोध किया तथा उत्पादन पर राज्याधिकार का समर्थन किया।

सेन्ट साइमन ने एक वर्गविहीन समाज की योजना रखी। उसमे प्रमुख अधिकारी राजा होना था। व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एव न्यायपालिका की शक्तियाँ ससद् के तीन सदनो मे विभक्त होनी थी। प्रथम सदन मे इजीनियर, चित्रकार आदि, द्वितीय सदन मे गणितज्ञ, वैज्ञानिक, दार्शनिक, एव तृतीय सदन मे उद्योगपति होने थे। इसमे व्यवस्था यह थी कि प्रथम सदन प्रस्ताव करे, द्वितीय सदन उनकी जाँच करे और तृतीय सदन उनको स्वीकार करे। उसने यूरोपियन ससद् की स्थापना का विचार किया।

सेन्ट साइमन के विचार उच्च और आदर्शवादी थे पर इनको व्यावहारिक रूप कैसे दिया जाय वह यह न बता सका। उसके विचारो का प्रभाव अवश्य दूरगामी हुआ। विचारक उसमे 'सर्वहारा की प्रथम अभिव्यक्ति' के तथ्य को देखते हैं।

चार्ल्स फोरियर (Charles Fourier, 1772–1837)

चार्ल्स फोरियर दूसरा फ्रान्सीसी विचारक था जो विश्व के उच्चकोटि के *व्यग्य लेखकों मे से एक था।* उसने फ्रान्स की क्रान्ति के *पश्चात् उत्पन्न अनाचार* और अनास्था का चित्रण किया है।

फोरियर ने एक आदर्श समाज की योजना बनाई। उसका विचार था कि इसे स्वीकार करने पर पृथ्वी पर 70 हजार वर्ष तक 'स्वर्णिम युग' की स्थापना हो सकेगी। उसने समाज के नये प्रकार के सगठनों का सुझाव दिया जिन्हे उसने फैलाग (Phalanges) सज्ञा दी। उसका यह भी विचार था कि प्रत्येक सगठन की सख्या 1600 से 2,000 तक हो। इनमे प्रत्येक परिवार चार-चार व्यक्तियो का हो। प्रत्येक फैलाग मे तीन प्रकार के वर्ग के लोग होंगे—1 श्रमजीवी, 2 उद्योगपति, 3 कुशल श्रमिक। ऐसे समाज का प्रमुख व्यवसाय कृषि होगा, जीवन-यापन

के लिए आवश्यक धन सभी परिवारों को मिलेगा। फोरियर मूलतः एक सहकारवादी था जो विकेन्द्रीकरण का समर्थक था।

रॉबर्ट ओवेन (Robert Owen, 1791–1858)

रॉबर्ट ओवेन ब्रिटिश समाजवाद के संस्थापकों में प्रमुख और अपने समय का प्रभावशाली विचारक था। यद्यपि वह पूंजीपति था तथापि उसका विश्वास मानव प्रकृति के सद्गुणों में था। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप मजदूरों की जो दयनीय स्थिति हो रही थी ओवेन उससे दुखी था। व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण को देखकर उसने कहा, "मैंने बहुत जल्दी ही यह जान लिया कि निर्जीव मशीनों की देखभाल कितनी सावधानी से की जाती है और किस तरह उन मशीनों की उपेक्षा होती है जो प्राणवान् (मजदूर) हैं।" उसका विचार था कि मानव स्वभाव अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख प्राप्त करना चाहता है। परन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति में निजी सम्पत्ति, धर्म और विवाह प्रथा बाधायें हैं, अत उसने जो आदर्श योजना तैयार की उसमें इनको कोई स्थान नही दिया। रॉबर्ट ओवेन पहिला व्यक्ति था जिसने समाजवाद शब्द का प्रयोग किया। ओवेन के विचारों को उसकी दो पुस्तकें ए न्यू व्यू ऑफ सोसाइटी (*A New View of Society*) तथा दि बुक ऑफ दि न्यू मॉरल वर्ल्ड (*The Book of the New Moral World*) भली प्रकार प्रदर्शित करती हैं।

ओवेन ने मजदूर वर्ग के लिए काफी कार्य किये। उसका विचार था कि रोजगार दिलाने के लिए एक श्रम कार्यालय (Labour Bureau) स्थापित किया जाय। उसने संसद् से मांग की कि कार्य करने का अधिकतम समय 12 घण्टे निश्चित किया जाय तथा कारखानों एवं मिलों में 10 वर्ष से कम के बच्चों को नौकर न रखा जाय। उसने स्वयं मजदूरों की दशा सुधारने के लिए कुछ प्रयोग किये थे। उसने उत्तरी अमेरिका के इण्डियाना राज्य में भूमि खरीद कर 'न्यू हारमनी' (New Harmony) नामक सहकारी समुदाय की स्थापना की। यह समाजवादी पद्धति से बसाई गई थी, हालांकि वह सफल नहीं हुआ। इसी प्रकार 1800 से लेकर 1829 तक स्कॉटलैंड में उसने 'न्यू लानार्क मिल' (New Lanark Mill) का प्रबन्ध किया। यहाँ ओवेन ने काफी सुधार किये और नया स्वस्थ वातावरण बनाया। यहाँ के 2,500 कर्मचारी एक आदर्श परिवार में बदल गये। यहाँ न्यायालय, पुलिस आदि की कोई आवश्यकता नहीं रही। एक बार जब रुई के अभाव में कारखाना चार माह बन्द रहा तो भी मजदूरों को बाद में चार माह का वेतन दिया गया।

यहाँ तक तो ठीक, पर बाद में ओवेन कल्पनावादी हो चला। उसने विचार दिया कि छोटे-छोटे गाँव बसाये जावें, इनमें अधिकतम दो हजार व्यक्ति रहें। वहाँ खेती व उद्योग दोनों हो। रहने के सुविधाजनक मकान हों। बच्चों का प्रबन्ध समाज करे। प्रत्येक समुदाय आत्मनिर्भर हो। उसने स्वयं ऐसे प्रयोग किये पर वह सफल न हुआ।

ओवेन ने 1833 में प्रथम श्रमिक कांग्रेस की अध्यक्षता की। इगलैंड के

फैक्ट्री एक्ट को बनवाने का श्रेय ओवेन को है। उसने लेबर एक्स्चेन्ज (Labour Exchange) स्थापित किया, इसमें उत्पादक अपना सामान देंगे तथा इसके बदले में उनको लेबर नोट्स (Labour Notes) मिलेंगे। इन नोटों से वे इनके मूल्य के बराबर की वस्तुयें खरीद सकेंगे।

रॉबर्ट ओवेन की मृत्यु के पश्चात् इगलैंड मे और भी समाजवादी विचारक हुए। इनमे विलियम थाम्सन तथा टामस हाज्स्किन प्रमुख हैं। यह परम्परा और भी आगे चली और काल्पनिक समाजवादियो ने अनेक विचारको को प्रभावित किया। इगलैंड की भाँति अमेरिका मे भी काल्पनिक समाजवादी हुए जिनमे अलबर्ट ब्रिस्बेन (Albert Brisbane) तथा चार्ल्स डैना (Charles Dana) प्रमुख थे। इतना ही नही तो समाजवाद के वैज्ञानिक रूप को ग्रहण करने के पश्चात् भी काल्पनिक समाजवादियो की परम्परा समाप्त नही हुई। इस क्रम मे विलियम मोरिस की प्रसिद्ध रचना **न्यूज फ्राम नोव्हैयर** (*News From Nowhere*) और एच० जी० वैल्स की **मॉडर्न यूटोपिया** (*Modern Utopia*) प्रमुख हैं। वस्तुत समाज के अमानवीय व्यवहारो और उसकी दु खपूर्ण स्थिति से क्षुब्ध होकर एक नये स्वप्निल फेनिल जगत् की कल्पना कई विचारको ने की है। 19वी सदी मे तो यह एक प्रमुख और प्रभावशाली तरीका रहा है जैसा कि फ्रेड्रिक एन्जिल्स ने कहा है, "19वी सदी मे विचारो के स्वप्निल तरीको ने काफी लम्बे समय तक समाजवादी विचार का पथ-प्रदर्शन किया है और अभी भी वह उनमे से कुछो के मार्ग का प्रदर्शन कर रही है।"[12]

वैज्ञानिक समाजवाद

समाजवाद के ऐतिहासिक विकास-क्रम मे उसकी अनेक मान्यताये विकसित हो चुकी है पर समाजवाद को एक वैज्ञानिक रूप मे प्रस्तुत करने का कार्य कार्ल मार्क्स ने पूरा किया। कार्ल मार्क्स का दृष्टिकोण अनिवार्यत अन्य पूर्वकालीन समाजवादियो की अपेक्षा पूर्णत वैज्ञानिक था, इसका प्रमाण यह है कि जहाँ पहिले के समाजवादी विचारको ने तद्जन्य समाज एव उसकी व्यवस्थाओं से क्षुब्ध होकर स्वप्निल जगत् की स्थापना की कल्पनायें की और सामाजिक अन्याय, शोषण व उत्पीडन के अन्त के लिए काल्पनिक और आदर्श राज्य की स्थापना का विचार किया वहाँ मार्क्स ने समाज की परिचालिका शक्ति का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिशीलन किया और समाज मे व्याप्त शोषण, उत्पीडन आदि को दूर करने के लिए व्यावहारिक उपाय बतलाये। समाज की दुरवस्था से क्षुब्ध होकर उसने पलायनवादी अथवा काल्पनिक दृष्टिकोण नही अपनाया अपितु उसने इसी जगत् मे कार्य करने का और इस दुरवस्था को सतत सघर्ष द्वारा दूर करने का सघर्षशील मार्ग बतलाया। कोकर का कहना है कि समाजवाद के एक सश्लिष्ट और व्यवस्थित रूप का निश्चित

[12] "The Utopian's mode of thought has for a long time governed the socialist idea of the nineteenth century, and still governs some of them"
—Frederick Engels, *Socialism Utopian and Scientific*, p 41

रूप से विकास, जो आज उसे प्राप्त है, अनिवार्यतः 19वीं सदी के मध्य में कार्ल मार्क्स की रचनाओं में हुआ। वस्तुतः इसका एक यह भी कारण है कि प्रत्येक विचार को पूर्णतः परिपक्व होने के लिए उस विचार के अनुरूप वातावरण और ऐतिहासिक स्थितियों की आवश्यकता होती है। वातावरण के अभाव में विचार परिपक्व नहीं हो पाते, जैसा कि ऐंजिल्स का कहना है कि "अपरिपक्व समाज में केवल अपरिपक्व सिद्धान्तों का ही जन्म हो सकता है।" मार्क्स को अपने विचारों को विकसित करने के लिए एक परिपक्व समय और ऐतिहासिक स्थितियाँ मिल चुकी थीं। औद्योगिक क्रान्ति और पूँजीवादी समाज ने उसकी भूमिका अच्छी तरह तैयार कर ली थी। औद्योगिक सर्वहारा वर्ग संख्या में काफी अधिक और अन्य वर्गों से काफी बड़ा हो चुका था। उसका स्वतन्त्र संगठन और प्रेस विकसित हो चला था। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या—चाहे वह पूरी तरह सही न हो—और अतिरिक्त-मूल्य का सिद्धान्त जो पूँजीवाद के विकास के रहस्य पर भली प्रकार प्रकाश डालता है खोज लिया गया था। इनके परिणामस्वरूप समाजवाद को एक वैज्ञानिक रूप लेना ही था।

मार्क्स ने जगत् और उसके व्यापार को समझने की एक नयी दृष्टि दी जिसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) कहा गया। समाजवादी चिन्तन का यह दार्शनिक आधार बना। यह दृश्य जगत् को वास्तविक और सत्य मानता है। इसी आधार पर मार्क्स ने अनेक व्यावहारिक मत स्थापित किये। उसने मानव इतिहास की गतिविधियों के मूल में इसी भौतिक तत्त्व को पाया। उसका कहना था कि भौतिक अवस्थायें हमारे कार्यों की गति और दिशा को निश्चित करती हैं। इन भौतिक अवस्थाओं में सर्वाधिक प्रभावी अवस्था 'उत्पादन प्रणाली' है, अतः हमारे कार्यों और सम्बन्धों के निर्धारण में 'उत्पादन प्रणाली' का काफी महत्त्वपूर्ण स्थान है। समाज में वर्ग आर्थिक आधार पर बनते हैं। समान आर्थिक हितों के लोग स्वाभाविक रूप से एक वर्ग को जन्म देते हैं। प्रारम्भ में अभी तक समाज मूलतः इसी आधार पर वर्गों में बँटा हुआ है।

कार्ल मार्क्स का कहना है कि औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् समाज प्रमुख रूप से पूँजीपति और मजदूर वर्ग में बँट गया है। पूँजीपति वर्ग सम्पत्ति का स्वामी है, उसके अधीन कल, कारखाने एवं फैक्ट्रियाँ हैं। वह संख्या में कम है। इसके विपरीत मजदूर वर्ग के पास कुछ भी नहीं है, उसके पास उसका शारीरिक श्रम है, वह सर्वहारा है तथा संख्या में पूँजीपति वर्ग से कहीं अधिक है। दोनों के हित और दोनों के लक्ष्य परस्पर विरोधी हैं। दोनों ही अपने-अपने हितों की रक्षा करना चाहते हैं, अतः दोनों में संघर्ष होता है। यही वर्ग-संघर्ष है। मार्क्स ने इसे स्वीकार किया कि यह वर्ग-संघर्ष अति प्रारम्भिक काल से है। समाज में जब से आर्थिक हितों के आधार पर वर्ग बने तभी से वर्ग-संघर्ष भी है।

मार्क्स पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना करता है। यह पूँजीवादी व्यवस्था क्या है? पूँजीवादी व्यवस्था वह व्यवस्था है जिसमें उत्पादन तथा वितरण के साधन

कुछ ही लोगों की सम्पत्ति हैं, तथा उनका प्रयोग वे अधिक से अधिक धन कमाने के लिए करते हैं। इस व्यवस्था मे पूँजीपति वह है जो सम्पत्ति को किसी उद्योग मे लगाता है तथा उस उद्योग मे मजदूरो को नौकरी पर रखता है तथा उत्पादन से लाभ कमाता है। मार्क्स का कहना है कि यह पूँजीवाद 18वी सदी मे हुई औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम है। इस व्यवस्था मे वे अनेक दोप हैं जिनका विचार पहिले किया जा चुका है।

ऐसी स्थिति मे क्या किया जाना चाहिये ? मार्क्स का उत्तर सरल और निश्चित है। वह कहता है कि अन्य व्यवस्थाओ के समान पूंजीवादी व्यवस्था मे भी अपने विनाश के तत्त्व मौजूद हैं। अत पूँजीवाद का अन्त अवश्यम्भावी है। पूँजीवाद के पश्चात् जो व्यवस्था आयेगी वह समाजवाद की व्यवस्था होगी। इस समाजवादी व्यवस्था मे आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक मान्यतायें बिल्कुल विपरीत होगी अर्थात् समाजवाद मे उद्योगों पर समाज का स्वामित्व होगा। उत्पादन और वितरण के साधनों पर भी सामाजिक स्वामित्व होगा। सभी सम्पत्ति समाज की होगी। समाज मे पूंजीपति और मजदूर दो प्रकार के वर्ग नही होगे। यह एक सुन्दर और सुखद व्यवस्था होगी।

इस स्थिति को प्राप्त कैसे किया जायेगा ? मार्क्स का उत्तर है कि इसे साम्यवाद की स्थापना करके प्राप्त किया जायेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह दुनिया के मजदूरों को एक होने का आह्वान करता है। उसका कहना है, "दुनिया के मजदूरो, एक हो जाओ...तुम्हारे पास खोने के लिए जजीरो के अलावा और कुछ नही है। सम्पूर्ण दुनिया तुम्हारे जीतने के लिए पडी है।"[13] मार्क्स का विचार है कि पूंजीपति सख्या मे कम हैं और मजदूर वर्ग सख्या मे अधिक है। पुन पूंजीपति सगठित नही है, कारण सभी के स्वार्थ अलग-अलग हैं, जब कि मजदूर वर्ग एक है। अत इस सघर्ष मे मजदूर वर्ग की जीत निश्चित है। सघर्ष के लिए वैधानिक तरीके उचित नही हैं। मार्क्स का कहना है कि हिंसक तरीको से सफलता प्राप्त होगी। उसका विचार है कि नये समाज का जन्म हिसा रूपी दाई की सहायता से ही होता है।

सघर्ष के बाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होगी और उसके बाद साम्यवाद की स्थापना होगी। यह इतिहास की अन्तिम और स्वर्णिम व्यवस्था होगी। इसमे राज्य पर सर्वहारा वर्ग का अधिकार होगा। बाद मे राज्य भी समाप्त हो जायेगा। राज्यहीन समाज स्थापित होने पर, ऐन्जिल्स के शब्दो मे, मनुष्यों का मनुष्यों पर शासन न रह कर वे सभी वस्तुओ की व्यवस्था तथा उत्पादन प्रक्रिया को नियमित करेंगे।

राज्य के सम्बन्ध मे मार्क्स के विचार महत्त्वपूर्ण है। उसका कहना है कि

[13] "Workers of all countries, unite The proletarians have nothing to lose but their chains They have a world to win "

—K Marx and F Engels, *Manifesto of the Communist Party* p 94

आदिमकालीन साम्यवाद (*Primitive Socialism : Communism*) में राज्य नाम की कोई संस्था नहीं थी। यह संस्था बाद में विकसित हुई। राज्य शक्तिशाली वर्ग के हितों की रक्षा करता है। पूँजीवादी व्यवस्था में वह पूँजीपतियों के हितों की रक्षा करता है। राज्य वर्ग संघर्ष को बनाये रखता है। पर समाजवाद की स्थापना के बाद ऐसा नहीं होगा। समाजवाद में राज्य समाजवाद की स्थापना का एक साधन बनेगा। राज्य की शक्ति समाजवाद में सर्वहारा वर्ग के हाथ में आ जायेगी। तब राज्य के स्वामित्व में कल-कारखानों के होने का तात्पर्य समाज के स्वामित्व में कल-कारखानों का होना होगा क्योंकि उस समय केवल एक ही वर्ग बचेगा। वह होगा सर्वहारा वर्ग और उसी का प्रतिनिधि होगा राज्य। मार्क्स इस व्यवस्था को संक्रमण-काल के लिए ही स्वीकार करता है।

यहाँ एक बात का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। मार्क्स ने केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही नहीं दिया अपितु उसे व्यावहारिक रूप देने के लिए उसने अपने जीवन में कार्य भी किया। उसने मजदूरों के संगठन स्थापित किये। संसार के मजदूरों को एक करने के लिए इण्टरनेशनल वर्किंग मेन्स एसोसियेशन (International Working Men's Association) स्थापित की जिसे संक्षेप में इण्टरनेशनल (International) कहते हैं।

कार्ल मार्क्स और ऐन्जिल्स ने वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों का प्रतिपादन सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों आधारों पर किया। दोनों की मृत्यु के पश्चात् समाजवादी आन्दोलन कई भागों और खेमों में बँट गया। अगले अध्यायों में हम उनमें से कुछ का अध्ययन करेंगे।

समाजवाद के आवश्यक तत्त्व

समाजवाद ने अपने लम्बे ऐतिहासिक और वैचारिक क्रम में निश्चित रूप से विभिन्न प्रकार की प्रणालियों और मान्यताओं का प्रतिनिधित्व किया, परन्तु इसके मूलभाव सदैव अविचल और समान रहे हैं। समाजवाद के हर रूप, प्रकार और अवस्था ने इन भावों को व्यक्त किया। इस प्रकार उनमें मौलिक एकता देखने को मिलती है। समाजवाद के वे तत्त्व जिन पर सभी समाजवादी एकमत हैं, निम्न हैं[14] :—

1 सभी समाजवादी मानते हैं कि "समाज का वर्तमान ढाँचा जर्जर है और इसमें परिवर्तन की आवश्यकता है।"

वर्तमान समाज का ढाँचा पूँजीवादी किस्म का है। इसने सम्पत्ति के वितरण में काफी विषमताएँ ला दी हैं। राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा भाग कुछ ही पूँजीपतियों के पास रह जाता है। वे राजसत्ता पर अधिकार करके उसका प्रयोग अपने

[14] समाजवाद के इन तत्वों पर *Encyclopaedia of Social Sciences* में पूर्ण विचार किया गया है।

हितो की पूर्ति के लिए करते हैं। समाज की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय है। पूँजीपति वर्ग मानवता और सामाजिक न्याय के प्रति पूर्णत: उदासीन रहता है। उनका हित ही मानवता है और वही न्याय है। समाज मे शोषण हो रहा है, उत्पीडन बढ रहा है। बहुत-से लोगो की जिन्दगी कुछ लोगों की खुशहाली के लिए तबाह हो रही है। समाजवादी मानते हैं कि हालत मे परिवर्तन की आवश्यकता है। समाज के बहुत छोटे वर्ग को बहुत बडे वर्ग का शोषण करने का कोई नैतिक और मानवीय अधिकार प्राप्त नही है। राजसत्ता का प्रयोग अब कुछ ही लोग अपने स्वार्थ के लिए नही कर सकते। यह स्थिति बदलनी ही चाहिए। समाज मे उपेक्षित, शोषित और निम्न समझे जाने वाले वर्ग को उसका उचित स्थान देना ही होगा। न्याय और सामाजिक समता से पूर्ण समाज स्थापित करना ही होगा।

2 समाज मे परिवर्तन लाने से पूर्व जिन नवीन आदर्शों पर उसे सगठित किया जाना है, उनका प्रतिष्ठापन पहिले से ही किया जाना आवश्यक है। इसका कारण स्पष्ट है। यदि समाज मे परिवर्तन करने के लिए क्रान्ति की गई और क्रान्ति करने से पूर्व आदर्शों को स्पष्ट नही किया गया तो समाज मे अराजकता पैदा हो जायेगी। समाज पुराने को ध्वस्त अवश्य कर देगा, पर नवीन का निर्माण नही कर पायेगा। कारण, नवीन के निर्माण का स्वरूप उसके सामने स्पष्ट नही होगा। अत आवश्यकता इस बात की है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए सक्रिय होने के साथ ही समाजवादी समाज जिन मूलभूत आदर्शों पर सगठित किया जाना है, उन आदर्शों का प्रतिष्ठापन और उनके प्रति विश्वास की स्थापना पहिले से ही की जाय। यह इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि आदर्शों की प्रतिष्ठा की प्रेरणा सघर्षरत व्यक्ति को पलायनवादी नही बनाती। उसके अभाव मे व्यक्ति पलायन कर जाता है। अत समाजवादी इस बात से सहमत हैं कि सामाजिक परिवर्तन के पूर्व नये समाज के सगठन के मूलभूत आदर्शों के प्रति समाज को समझा दिया जाय और उसकी स्थापना कर दी जाय।

3 समाजवादियो का मत है कि उनके द्वारा निर्धारित आदर्श व्यावहारिक है तथा उनको प्राप्त किया जा सकता है।

वैज्ञानिक समाजवादी विचारक मार्क्स के पूर्व के स्वप्नलोकीय समाजवादियो से इस बात मे अलग है कि जहाँ स्वप्नलोकीय समाजवादियो के सिद्धान्त निरे काल्पनिक और अव्यावहारिक थे, वहाँ वैज्ञानिक समाजवादियो के सिद्धान्त पूर्णत व्यावहारिक और यथार्थ हैं। इसका एक कारण यह भी है कि समाजवादी मान्यताओ का निर्धारण समाज के यथार्थ स्वरूप को समझने के पश्चात् किया गया है। वे ऊपर से ही थोपी हुई अथवा बिना सामाजिक परिस्थितियो को समझे ही नही बनाई गई हैं। उनका समाज से बडा सम्बन्ध है। वे व्यावहारिक हैं।

4. समाजवाद का विश्वास है कि सामाजिक विषमता व्यक्तियो ने पैदा की है। अत व्यक्ति ही इसे दूर करेंगे।

सामाजिक वैषम्य को ईश्वर ने पैदा नही किया है। आदिम कालीन अवस्था

मे समाज के अन्दर किसी भी प्रकार का वैषम्य नही था। ऐसी स्थिति मे शोषण, असाम्य और उत्पीडन का प्रश्न नही था। समाज मे सभी सानन्द रहते थे। बाद की परिवर्तित स्थिति मे व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रवृत्ति पनपी। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक वैषम्य प्रारम्भ हो गया। आज की यह वैषम्यपूर्ण स्थिति ऐसे चन्द लोगो ने पैदा की है जिनका सम्पत्ति के बहुत बडे भाग पर अधिकार हो गया है। ऐसी स्थिति मे हम सामाजिक न्याय अथवा सामाजिक साम्य की स्थापना का विचार नही कर सकते। *जब तक वैषम्य रहेगा, तब तक न्याय नही स्थापित हो सकता।* अत. समाजवादियो का विश्वास है कि उस वैषम्य को जिसको समाज मे चन्द व्यक्तियो ने अपने स्वार्थ के लिए जन्म दिया है, समाजवादी व्यवस्था दूर कर देगी। प्रत्येक प्रकार के भेदभाव को समाप्त करना ही होगा। कारण, वैषम्य समाज की एकता को नष्ट करता है और समाज के स्वरूप को विकृत करता है। यह शोषण को जन्म देता है। यह अन्याय है।

5 समाजवाद का विश्वास है कि केवल आदर्श नही पर कार्य अपेक्षित है।

समाजवाद केवल सिद्धान्त नही है अपितु कार्य भी है। केवल शिवम् सोचने से ही कल्याण नही हो जाता। सुन्दरम् के विचार से ही उसकी स्थापना नही हो जाती। किसी सत्य की प्रस्थापना के लिए प्रयत्न आवश्यक होता है। सिद्धान्त उस समय फलीभूत होते है जबकि उनके पीछे कठोर परिश्रम एव कार्य होता है। समाजवादियो का विश्वास है कि केवल सोचने मात्र से अथवा उच्च और महान् सिद्धान्तो की *उद्घोषणा मात्र से ही समाजवाद नही आ जायेगा, पर उसके लिए सगठित प्रयत्न* आवश्यक है। केवल कहने से पूंजीपति लोग अपने अधिकारो को नही त्याग देंगे। इसी प्रकार से विचार मात्र से ही समानता और न्याय की स्थापना अथवा शोषण का अन्त नही हो जायेगा परन्तु उसके लिए कठोर कार्य करने की आवश्यकता है। दृढ सकल्प और उसे साकार कर सकने का व्यवहार आवश्यक है।

6. समाजवाद एक जीवन-दर्शन है।

समाजवादी विचारको का मत है कि समाजवाद जीवन का एक दर्शन है। यह एक विशिष्ट जीवन-प्रणाली है। समाजवाद केवल राजनीतिक पद्धति अथवा आर्थिक व्यवस्था मात्र नही है, अपितु व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पक्ष का समाधानकारक विचार है। समाजवाद का एक दर्शन है। इस जगत् को समझने और देखने की उसकी एक दृष्टि है। प्रकृति के गुह्यतम रहस्यो को पहिचानने की एक दार्शनिक प्रक्रिया है। *वह केवल एक भावुकता अथवा मात्र व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया नहीं है।* एक नकारात्मक विचार नही है अपितु इससे अधिक यह एक व्यापक जीवन दर्शन है। इसकी कुछ मान्यतायें है। इनके कुछ भौतिक प्रतिमान हैं। समाजवाद की कुछ भावगत विशेषतायें हैं। यह भौतिकवादी दर्शन पर आधारित है जिसमे धर्म, रूढियो और परम्पराओ को कोई महत्त्व नही है।

समाजवाद के सामान्य सिद्धान्त

1. समाजवाद पूंजीवाद का विरोधी है। समाजवादियो की दृष्टि मे पूंजीवाद वर्तमान समय की सभी विषमताओ और असमानताओ का मूल कारण है। पूंजीवादी श्रमिक और मालिक दोनो के प्रयत्न से प्राप्त लाभ को हजम कर जाते हैं। *समाजवाद पूंजीवाद को समाप्त करेगा। वह पूंजीवाद के दोषो को बतलाकर* यह सिद्ध करता है कि यह मजदूरो का शत्रु है। पूंजीवादी समाज मे ईर्ष्या और असन्तोष का वातावरण सदैव बना रहता है। यह व्यवस्था सम्पूर्ण समाज की प्रगति की ओर मानवता की उन्नति की किसी भी प्रकार से कारण नही बन सकती। इस व्यवस्था मे सामाजिक विचार ही समाप्त हो जाते हैं। पूंजीवाद का कभी भी सामाजिक उद्देश्य नही होता। अत इस व्यवस्था को तो बदलना ही है।

2. (अ) समाजवाद व्यक्ति और समाज मे, समाज पर अधिक जोर देता है। व्यक्ति की तुलना मे समाज बडा है। बूल्जे के अनुसार, "कुछ थोडे ही व्यक्ति बातो की गम्भीरता मे उतरते हैं। समाजवाद की शक्ति—जिसके कारण उसे भारी जनता पर प्रभावशाली अधिकार प्राप्त होता है—तर्क नही अपितु समता की मांग है।"

सामाजिक लाभ के सामने व्यक्तिगत लाभ का कोई महत्त्व नही है। सभी योजनाएँ और सभी प्रकार के प्रयत्न समाज-प्रधान होने चाहिएँ। समाज के बिना व्यक्ति का कोई मूल्य नही है। समाज मे सावयव एकता होती है, इस अर्थ मे *नही कि समाज एक सावयव रचना है, पर वस्तुत इस अर्थ मे कि मनुष्य मे मूलत* सामाजिक भावना होती है और समाज के बिना उनका कोई महत्त्व नही। अत उत्पादन समाज की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखकर ही किया जाना चाहिए, *जिसका मूल लक्ष्य समाज का अधिक से अधिक लाभ है।*

(ब) समाजवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता की अपेक्षा समानता पर अधिक जोर देता है। हालांकि ये व्यक्ति भी स्वतन्त्रता की बात को स्वीकार करते है, पर इनका विचार है कि समानता के वातावरण मे ही स्वतन्त्रता की प्राप्ति सम्भव है और इस प्रकार स्वतन्त्रता को हासिल करने के इनके तरीके व्यक्तिवादी तरीके से भिन्न हैं। सी० ई० एम० जोड का कहना है कि "दीर्घकालीन दृष्टि से समाजवादियो और व्यक्तिवादियो के लक्ष्यो मे कोई अन्तर नही है, दोनो का लक्ष्य व्यक्ति को अधिकतम स्वतन्त्रता देना है।" वस्तुत समाजवाद द्वारा व्यक्ति को दी जाने वाली स्वतन्त्रता के तरीके म अन्तर है। व्यक्तिवादी यह सोचते हैं कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित किया जाना आवश्यक है। उनके लिए स्वतन्त्रता बन्धनो के अभाव मे ही सम्भव है। बन्धनो के अभाव को ही स्वतन्त्रता कहते हैं। राज्य को व्यक्तियो के पारस्परिक व्यवहारो मे किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नही करना चाहिए, पर समाजवाद स्वतन्त्रता की प्राप्ति के इन तरीको को गलत और हानि-

मे समाज के अन्दर किसी भी प्रकार का वैषम्य नही था। ऐसी स्थिति मे शोषण, असाम्य और उत्पीडन का प्रश्न नही था। समाज मे सभी सानन्द रहते थे। बाद की परिवर्तित स्थिति मे व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रवृत्ति पनपी। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक वैषम्य प्रारम्भ हो गया। आज की यह वैषम्यपूर्ण स्थिति ऐसे चन्द लोगो ने पैदा की है जिनका सम्पत्ति के बहुत बडे भाग पर अधिकार हो गया है। ऐसी स्थिति मे हम सामाजिक न्याय अथवा सामाजिक साम्य की स्थापना का विचार नही कर सकते। जब तक वैषम्य रहेगा, तब तक न्याय नही स्थापित हो सकता। अत. समाजवादियो का विश्वास है कि उस वैषम्य को जिसको समाज मे चन्द व्यक्तियो ने अपने स्वार्थ के लिए जन्म दिया है, समाजवादी व्यवस्था दूर कर देगी। प्रत्येक प्रकार के भेदभाव को समाप्त करना ही होगा। कारण, वैषम्य समाज की एकता को नष्ट करता है और समाज के स्वरूप को विकृत करता है। यह शोषण को जन्म देता है। यह अन्याय है।

5. समाजवाद का विश्वास है कि केवल आदर्श नही पर कार्य अपेक्षित है।

समाजवाद केवल सिद्धान्त नही है अपितु कार्य भी है। केवल शिवम् सोचने से ही कल्याण नही हो जाता। सुन्दरम् के विचार से ही उसकी स्थापना नही हो जाती। किसी सत्य की प्रस्थापना के लिए प्रयत्न आवश्यक होता है। सिद्धान्त उस समय फलीभूत होते हैं जबकि उनके पीछे कठोर परिश्रम एव कार्य होता है। समाजवादियो का विश्वास है कि केवल सोचने मात्र से अथवा उच्च और महान् सिद्धान्तो की उद्घोषणा मात्र से ही समाजवाद नही आ जायेगा, पर उसके लिए सगठित प्रयत्न आवश्यक है। केवल कहने से पूंजीपति लोग अपने अधिकारो को नही त्याग देंगे। इसी प्रकार से विचार मात्र से ही समानता और न्याय की स्थापना अथवा शोषण का अन्त नही हो जायेगा परन्तु उसके लिए कठोर कार्य करने की आवश्यकता है। दृढ सकल्प और उसे साकार कर सकने का व्यवहार आवश्यक है।

6. समाजवाद एक जीवन-दर्शन है।

समाजवादी विचारको का मत है कि समाजवाद जीवन का एक दर्शन है। यह एक विशिष्ट जीवन-प्रणाली है। समाजवाद केवल राजनीतिक पद्धति अथवा आर्थिक व्यवस्था मात्र नही है, अपितु व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पक्ष का समाधानकारक विचार है। समाजवाद का एक दर्शन है। इस जगत् को समझने और देखने की उसकी एक दृष्टि है। प्रकृति के गुह्यतम रहस्यो को पहिचानने की एक दार्शनिक प्रक्रिया है। वह केवल एक भावुकता अथवा मात्र व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया नही है। एक नकारात्मक विचार नही है अपितु इससे अधिक यह एक व्यापक जीवन दर्शन है। ...की कुछ मान्यतायें हैं। इसके कुछ भौतिक प्रतिमान हैं। समाजवाद की कुछ भावगत ...एँ हैं। यह भौतिकवादी दर्शन पर आधारित है जिसमे धर्म, रूढियों और ...ओ को कोई महत्त्व नही है।

समाजवाद के सामान्य सिद्धान्त

1. समाजवाद पूँजीवाद का विरोधी है। समाजवादियो की दृष्टि मे पूँजीवाद वर्तमान समय की सभी विषमताग्रो ग्रौर ग्रसमानताग्रो का मूल कारण है। पूँजीवादी श्रमिक ग्रौर मालिक दोनो के प्रयत्न से प्राप्त लाभ को हजम कर जाते है। समाजवाद पूँजीवाद को समाप्त करेगा। वह पूँजीवाद के दोषो को बतलाकर यह सिद्ध करता है कि यह मजदूरो का शत्रु है। पूँजीवादी समाज मे ईर्ष्या ग्रौर ग्रसन्तोष का वातावरण सदैव बना रहता है। यह व्यवस्था सम्पूर्ण समाज की प्रगति की ग्रोर मानवता की उन्नति की किसी भी प्रकार से कारण नही बन सकती। इस व्यवस्था मे सामाजिक विचार ही समाप्त हो जाते हैं। पूँजीवाद का कभी भी सामाजिक उद्देश्य नही होता। ग्रत इस व्यवस्था को तो बदलना ही है।

2 (ग्र) समाजवाद व्यक्ति ग्रौर समाज मे, समाज पर ग्रधिक जोर देता है। व्यक्ति की तुलना मे समाज बडा है। बूल्जे के ग्रनुसार, "कुछ थोडे ही व्यक्ति बातो की गम्भीरता मे उतरते हैं। समाजवाद की शक्ति—जिसके कारण उसे भारी जनता पर प्रभावशाली ग्रधिकार प्राप्त होता है—तर्क नही ग्रपितु समता की मांग है।"

सामाजिक लाभ के सामने व्यक्तिगत लाभ का कोई महत्त्व नही है। सभी योजनाएँ ग्रौर सभी प्रकार के प्रयत्न समाज-प्रधान होने चाहिएँ। समाज के बिना व्यक्ति का कोई मूल्य नही है। समाज मे सावयव एकता होनी है, इस ग्रर्थ मे नही कि समाज एक सावयव रचना है, पर वस्तुत इस ग्रर्थ मे कि मनुष्य मे मूलत सामाजिक भावना होती है ग्रौर समाज के बिना उनका कोई महत्त्व नही। ग्रत उत्पादन समाज की ग्रावश्यकताग्रो को ध्यान मे रखकर ही किया जाना चाहिए, जिसका मूल लक्ष्य समाज का ग्रधिक से ग्रधिक लाभ है।

(ब) समाजवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता की ग्रपेक्षा समानता पर ग्रधिक जोर देता है। हालांकि ये व्यक्ति भी स्वतन्त्रता की बात को स्वीकार करते हैं, पर इनका विचार है कि समानता के वातावरण मे ही स्वतन्त्रता की प्राप्ति सम्भव है ग्रौर इस प्रकार स्वतन्त्रता को हासिल करने के इनके तरीके व्यक्तिवादी तरीके से भिन्न हैं। सी० ई० एम० जोड का कहना है कि "दीर्घकालीन दृष्टि से समाजवादियों ग्रौर व्यक्तिवादियो के लक्ष्यो मे कोई ग्रन्तर नही है, दोनो का लक्ष्य व्यक्ति को ग्रधिकतम स्वतन्त्रता देना है।" वस्तुत समाजवाद द्वारा व्यक्ति को दी जाने वाली स्वतन्त्रता के तरीके मे ग्रन्तर है। व्यक्तिवादी यह सोच्ने * कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित व्यक्ति क ग्रावश्यक है। उनके लिए स्वतन्त्रता बन्धनो के ग्रभाव मे ही म मे निमग्न बन्धनो के ग्रभाव को ही स्वतन्त्रता कहते हैं। राज्य को न का कोई पारस्परिक व्यवहारो मे किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नही मान्यता नहीं पर समाजवाद स्वतन्त्रता की प्राप्ति के इन तरीको को स कि स्थिति ऐसी

पर समाज का विचार करते समय स्थिति इतनी सरल नही होनी जितनी कि व्यक्ति के सम्बन्ध मे विचार करते समय होती है । इसका कारण स्पष्ट है । समाज की रचना सश्लिष्ट होती है । उसमे विभिन्न प्रकृति के, दृष्टिकोण के और अभिलाषाओ वाले व्यक्ति रहते हैं, वे सब अपना-अपना हित सम्पादित करना चाहते हैं, पर इस क्रम मे यह भी सम्भव है कि एक का हित दूसरे का अहित हो, ऐसी स्थिति मे क्या होगा ? निश्चित ही समाज के सभी वर्ग और व्यक्ति अपने कुल हितो अथवा कुल सुखो की प्राप्ति नही कर सकते । सम्पूर्ण व्यक्तियो के सम्पूर्ण सुख को प्राप्त करना कठिन ही नही, असम्भव भी है । ऐसी स्थिति मे क्या किया जाय ? बैंथम ने इसके लिए एक सूत्र दिया है । यह सूत्र बहुत बडे सैद्धान्तिक धरातल को तो स्पर्श नही करता पर अत्यन्त व्यावहारिक एव औचित्यपूर्ण कसौटी को अवश्य उपस्थित करता है । वह सूत्र है 'अधिकतम लोगो का अधिकतम सुख' अर्थात् राज्य को इस प्रकार की व्यवस्था बनानी चाहिए तथा सरकार को इस प्रकार के कानून बनाने चाहिएँ कि उसमे समाज मे रहने वाले 'अधिकतम लोगो के अधिकतम सुख' की सिद्धि की जा सके । किसी भी देश की व्यवस्थापिका को कानून बनाते समय इस दृष्टिकोण को सामने रखना चाहिए और तदनुसार ही कानून बनाने चाहिएँ । यदि किसी देश की व्यवस्थापिका ऐसा नही करती तो यह निश्चित है कि वह 'अधिकतम लोगो के अधिकतम सुख' के कल्याणकारी सकल्प को प्राप्त नही कर सकती ।

समाज के कल्याण अथवा समाज के मगल को प्राप्त करने का यह एक स्वस्थ और व्यापक आधार है । इस आधार पर किए जाने वाले कार्यों का परिणाम कभी भी किसी वर्ग या सम्प्रदाय के हित-साधन मे न होकर समाज के हित-साधन मे ही होता है । बैंथम ने 'अधिकतम लोगो के अधिकतम सुख' के सूत्र के माध्यम से उपयोगिता के व्यक्तिगत विचार को समाज-कल्याण की प्राप्ति के एक व्यावहारिक और योग्यतम आधार के रूप मे बदल दिया । इससे राजनीति, समाज-सुधार और विधि-निर्माण के क्षेत्र मे एक नवीन आधार दृष्टि और व्यावहारिक चेतना विकसित हुई ।

यह कहा जाता है कि 'अधिकतम लोगो का अधिकतम सुख' का सिद्धान्त मूलत बैंथम की खोज नही है । बैंथम के पूर्व के विचारको ने भी इसका प्रतिपादन किया है । इग्लैंड मे इसका प्रतिपादन डेविड ह्यूम और प्रीस्टले ने किया, इटली मे बेकेरिया ने किया और फ्रान्स मे हैल्वीटियस ने इसका प्रतिपादन किया । स्वय बैंथम ने इस बात को स्वीकार किया है कि उसने प्रीस्टले की प्रसिद्ध पुस्तक **शासन पर निबन्ध** *(Essay on Government)* पढते समय जब 'अधिकतम लोगो के अधिकतम सुख' के सूत्र को पढा तो वह इतना अधिक आह्लादित और आनन्दोन्मादित हुआ कि वह ऐसे ही चिल्लाया जैसे कि आर्कीमिडीज (Archimedes) अपनी खोज के परिणाम को देखकर चिल्लाया था । स्वय उसी के शब्दो मे "उस पुस्तिका (Pamphlet) और उसके इस वाक्य विशेष के कारण व्यक्तिगत नैतिकता एव सार्वजनिक सदाचार के विषय मे मेरे सिद्धान्त निर्धारित हुए । इस पुस्तिका के उस

विशिष्ट पृष्ठ से ही मुझे उन शब्दो और वाक्यो की प्रेरणा मिली जिनका महत्व सारे सुसस्कृत मानव समाज मे सर्वमान्य है। उसे देखते ही मुझ पर मानो एक आत्मिक उन्माद छा गया और तरल पदार्थ सम्बन्धी शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त की खोज करने पर आर्कीमिडीज जिस प्रकार चिल्लाया था, उसी प्रकार मैं भी चिल्लाया 'यूरेका'।"

उस समय कितनी भावपूर्ण और पुलकित अवस्था हुई होगी बेंथम की ! इसकी सहज कल्पना उपरोक्त वाक्य से की जा सकती है। पर इतना होने पर भी एक बात निश्चित है और वह यह कि यद्यपि उपरोक्त सूत्र की उद्भावना बेंथम ने नही की तथापि उसे एक सुव्यवस्थित और व्यापक रूप बेंथम ने ही दिया। बेंथम ने उसको नवीन गति और नवीन प्रणाली दी, इससे भी अधिक उसने इसे नवीन सज्जा दी जो केवल उस समय ही नही अपितु सदैव-सदैव के लिए जनहितकारी कार्यों का मापदण्ड हो गई। बॉयल ने ठीक ही कहा है कि बेंथम ने "18वी सदी की भावना को 19वी सदी के राजनीतिक विचार का रूप देने का प्रयास किया।"

सुख दुःख का मापक यन्त्र—सुखवाद की इस मान्यता को अनिवार्यतः सभी सुखवादी विचारको ने दुहराया है कि *व्यक्ति सुख की प्राप्ति के लिए कार्य करता है और दु ख से छुटकारा पाना चाहता है।* पर किसी ने यह नही बतलाया कि सुख-दुःख की माप कैसे की जाय। बेंथम ने इस बात को भी सुलझाया है। वह सुखो की परिगणना मे विश्वास करता है। उसने सुख-दु.ख को नापने की माप दी है। वह कहता था कि "सुख-दु.ख को तौनो, दोनो की तुलना से ही सत्-असत् का प्रश्न हल हो जावेगा।" बेंथम की माप ऐसी ही है, जैसे गणित के अको की होती है। दुःख-सुख का माप करने की विधि को ही सुख-दु ख का मापक यन्त्र कहते है। इसमे बेंथम ने सुख-दुःख के स्रोत, उसके प्रकार, मात्रा व उद्देश्य आदि सबका विश्लेषण किया है।

कई बार ऐसी स्थितियाँ उपस्थित होती हैं जबकि हम अनेक सुखो मे से किसी को प्राप्त करते हैं और अन्यो को छोड देते हैं। उस समय यह प्रश्न उपस्थित होता है कि *विभिन्न कार्यों से उत्पन्न सुख-दुःख की तुलना और माप कैसे की जाय ?* क्योंकि ऐसा करने के बाद ही तो यह निश्चय किया जा सकता है कि अमुक सुख को प्राप्त करना चाहिए और अमुक को छोड देना चाहिए। पर बिना मापक यन्त्र निर्धारित किए हम यह सब नही कर सकते। पर यही एक और प्रश्न उपस्थित होता है और वह है सुखो का माप करते समय उनके (सुखो के) प्रकार का प्रश्न। अर्थात् यदि सुख एक ही प्रकार के हुए, तब तो उनका माप करना सम्भव है, पर यदि उनमे गुणात्मक अन्तर हुआ और कुछ सुख श्रेष्ठ एव शेष हीन प्रकार के हुए तो उनके माप का प्रश्न ही पैदा नही होता। बेंथम की मान्यता है कि सुखो मे गुणात्मक अन्तर (Difference of Quality) नही होता। वह नही मानता कि एक सुख श्रेष्ठ और

दूसरा हीन होना है। पर बेंथम यह मानता है कि सुखों मे मात्रा का भेद (Difference of Quantity) होता है। कोई सुख अन्य सुखों की अपेक्षा मात्रा की दृष्टि से अधिक या कम होता है। बेंथम का कहना है कि मात्रा के समान होने पर एक सुख उतना ही अच्छा है जितना कि दूसरा। उसके अनुसार "सुख के परिमाण समान होने पर, पुश-पिन का खेल भी उतना ही अच्छा है जितनी कि कविता" (Quantity of pleasure being the same, pushpin is as good as poetry)।

ऐसी स्थिति मे जबकि सुखो के मूल्यांकन मे एक मात्र मापदण्ड परिमाणात्मक ही है, सुखों के विविध रूपो का सहज अंकन किया जा सकता है। सुखो मे निम्न सात कारणों से अन्तर आता है —

1. तीव्रता (Intensity), 2 अवधि (Duration), 3. निश्चिन्तता (Certainty), 4. निकटता (Propinquity), 5. उर्वरता (Fecundity), 6. शुद्धता (Purity), और 7. विस्तार अथवा व्यापकता (Extent), अर्थात् उससे प्रभावित होने वाले व्यक्तियों की संख्या। दो सुखो मे से वह सुख वरणीय है जो अधिक समय तक रहने वाला हो। जो सुख निश्चित है उसकी प्राप्ति की निश्चिन्तता अधिक है, वह सुख उससे अधिक वरणीय है जो अनिश्चित है। अन्य स्थितियो के समान होने पर जो सुख निकट है वह उस सुख से अधिक वरणीय है जो दूरस्थ हैं। कई सुख ऐसे होते हैं जो अनेक अन्य सुखो को पैदा कर सकने की क्षमता रखते है। यही उनकी उर्वरता होती है। ऐसे सुख उनकी तुलना मे अधिक वरणीय हैं जो अन्य सुखो को पैदा नही कर सकते। शुद्धता दुःख का अभाव है। ऐसे सुख जिनमे दुःख की मात्रा कम होती है, उन सुखों की तुलना मे वरणीय हैं जिनमे दुःख की मात्रा अधिक रहती है। यहाँ तक का सम्पूर्ण विचार व्यक्तिगत सुख के निर्धारण का विचार है; इसके आगे बेंथम एक तत्त्व और जोड देता है, वह है व्यापकता का। इससे सार्वजनिक सुख का अनुमान लगाया जा सकता है। इस दृष्टि से वह सुख वरणीय है जो अधिक व्यापक होता है और जो अधिकतम लोगो का होता है, अपेक्षा उसके जो सीमित होता है अथवा केवल व्यक्ति विशेष का होता है।

उपरोक्त आधारो पर किसी भी कार्य की उपयोगिता की मात्रा का अंकन किया जा सकता है।

बेंथम इतना ही विचार नही करता। उसका सुखवादी चिन्तन काफी विशाल है, उसने 14 प्रकार के साधारण सुख बतलाये हैं, जैसे इन्द्रिय-सुख, सम्पत्ति-सुख, मित्रता का सुख, यश का सुख, आदि। इसी प्रकार 12 प्रकार के दुःख भी गिनाये हैं यथा इन्द्रिय-दुःख, शत्रुता का दुःख, दुष्कर्म का दुःख आदि। इनके अलावा कुछ मिश्रित (Compound) सुख और दुःख भी होते हैं। इन सबके साथ ही 31 प्रकार की ऐसी परिस्थितियाँ भी होती हैं जो मनुष्य की संवेदनाओ (Sensibility) को प्रभावित करती हैं। जैसे शिक्षा, सरकार, नैतिक व धार्मिक विश्वास, स्वास्थ्य, चरित्र, आदि। जब हम सुख-दुःख की याद करते हैं, तो हमे इन सबका विचार करना

पडता है । इन सब स्थितियो को गिनना पडता है । इसके पश्चात् ही सुख और दु ख के योग को निकाल सकते हैं । यह प्रक्रिया निश्चित रूप से काफी जटिल है, पर इसके आधार पर सुख-दु ख का माप हो सकता है । उपरोक्त सभी प्रकार के आधारों के सहारे सुख और दु ख के अंकों को जोड लेना चाहिए । इसके पश्चात् जिसके अंक ज्यादा हो उसमें से कम अंकों को घटा देना चाहिए । शेष जो भी आयगा वह परिणाम को प्रदर्शित करेगा । उसके अनुसार ही हमें अपने कार्यों का निर्धारण करना चाहिए । स्वय बैंन्थम ने उपरोक्त आधार पर अनेक सुख-दु:ख के माप-चक्र बनाये थे ।

कानून-निर्माण और उपयोगितावाद—कानून-निर्माण का उपयोगितावादी आधार 'अधिकतम लोगो का अधिकतम सुख' का सिद्धान्त है । यही राज्य के कार्यों की उचित कसौटी है । पर केवल राज्य के कार्यों से ही काम नही चलता । राज्य के अनुरूप ही प्रत्येक व्यक्ति को भी अपने आचरण को पर-हित को ध्यान मे रखकर निश्चित करना चाहिए । पर यदि व्यक्ति ऐसा न करे तो ? क्योंकि सुखवादी धारणा के अनुसार तो व्यक्ति स्वार्थी प्राणी है । वह दूसरो का हित क्यों सोचे ? ऐसी स्थिति मे व्यक्ति को समाज-विरुद्ध कार्य करने से कैसे रोका जाय ? दूसरे शब्दों मे व्यक्ति समाज मे रहकर सामान्य सुख की वृद्धि के लिए कैसे प्रयत्नशील हो ? बैंन्थम का विचार है कि व्यक्ति के विभिन्न कार्यों के साथ सुख-दु ख की सम्भावित स्थिति को जोडकर उन्हें अमुक कार्य को करने अथवा अमुक कार्य को न करने के लिए कहा जा सकता है और उनके व्यवहार को निश्चित किया जा सकता है ।

पर कार्यों के साथ इस प्रकार सुख-दु ख की धारणा को जोडना वस्तुतः वाह्य अथवा कृत्रिम प्रयत्न है, अत बैंन्थम इनको वाह्य दबाव या दण्ड-भय (Sanction) कहता है । ये चार प्रकार के हैं, यथा—1. प्राकृतिक—प्रकृति हमारे कार्यों की नियन्त्रिका है । हम उसकी आज्ञा के अनुरूप कार्य करें तो वह हमें पुरस्कृत करती है अन्यथा वह हमे दण्डित करती है, जैसे सन्तुलित भोजन स्वास्थ्यवर्द्धक है, पर असन्तुलित भोजन से बीमारी का भय रहता है । 2 सामाजिक—अच्छे कार्य सामाजिक प्रशसा को दिलाते है । यदि हम बुरे और निन्दनीय कार्य करें तो समाज-निन्दा और समाज वहिष्कार का डर रहता है । 3 धार्मिक—पुण्य-पाप का विचार तथा स्वर्ग-नरक की धार्मिक मान्यता हमारे कार्यों को प्रभावित करती है । और 4 राजनीतिक—अपराध अथवा कानूनोल्लघन करने पर सजा का भय ।

इनमे राजनीतिक भय सर्वाधिक प्रभावी होता है । कारण, राज्य मे रहने वाले सभी नागरिक अपराधियो को दण्डित होते हुए, यहाँ तक कि फाँसी पर भी लटकते हुए देखते है । अत इसका भय उनको सर्वाधिक रहता है और फिर राज्य की पुलिस कानून के भय को बनाये रखती है । व्यक्ति धार्मिक दबाव की अवहेलना कर सकता है, वह समाज की उपेक्षा भी सह सकता है, पर राज्य के दण्ड से बचना और उसे सहना अत्यन्त कठिन है ।

बेंथम के सुधार—बेंथम एक महान् सुधारवादी विचारक था । इस दृष्टि से उसका स्थान शीर्षस्थ है । डेविडसन ने कहा है कि "बेंथम की दृष्टि मे एक सजीव तथा कार्यशील उद्देश्य था ।"

उसने उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उच्च और काल्पनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन नही किया अपितु समाज-सुधार के मूलभूत व्यावहारिक तन्त्र को विकसित किया । हेनरी मेन का यह कहना कि "इंग्लैण्ड मे कदाचित् ही कोई ऐसा सुधार हो, जिस पर बेंथम का प्रभाव न पडा हो" अक्षरशः सत्य है । बेंटिंक ने भारत का गवर्नर-जनरल बनने के बाद बेंथम को लिखा था कि "वस्तुत भारत का गवर्नर-जनरल मैं नही बल्कि आप (बेंथम) होकर जा रहे हैं ।"

इसका मूल कारण बेंथम की सुधारवादी योजनाएं और उनकी व्यावहारिक उपयोगिता ही है । वास्तविकता तो यह है कि यूरोप के अन्य देशो मे यहाँ तक कि विश्व मे भी बेंथम के व्यावहारिक सुधारवादी दृष्टिकोण की कद्र की गई थी । बेंथम द्वारा प्रतिपादित सुधारो की सख्या बहुत अधिक है। 'अधिकतम लोगो का अधिकतम हित' इस सूत्र के आधार पर उसने समाज के प्रत्येक क्षेत्र मे सुधार की व्यावहारिक योजनाओ को प्रस्तुत किया । पर यहाँ हम कुछ का ही विचार करेंगे ।

अधिकार—बेंथम के समय मे प्राकृतिक अधिकार का सिद्धान्त काफी प्रचलित था । विचारको की मान्यता थी कि हमे प्रकृति से ही कुछ अधिकार मिले हुए हैं । बेंथम ने इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की और उसे मूर्खतापूर्ण कहा । उसका कहना था कि "प्राकृतिक अधिकार का सिद्धान्त व्यर्थ का प्रलाप है । अधिकारो का केवल एक ही आधार है और वह है उपयोगिता । उपयोगिता हमारे अधिकारों का निर्धारण करती है ।"

इग्लैंड मे ब्लैकस्टन (Blackstone) नामक विचारक ने अंग्रेजी सविधान एव कानून की महत्ता पर एक पुस्तक लिखी जिसका नाम *Commentaries on the Laws of England* था । इस पुस्तक मे ब्लैकस्टन ने यह बतलाया कि अंग्रेजी सविधान का दैवी इच्छा के अनुसार क्रमिक और स्वाभाविक विकास हुआ है तथा राजनीतिक कर्तव्यो का आधार प्राकृतिक सामाजिक बन्धन है । बेंथम ने ऑक्सफोर्ड मे ब्लैकस्टन के भाषण सुने थे, पर अपनी पहली पुस्तक *A Fragment on Government* मे ब्लैकस्टन के सिद्धान्तो की तीखी और कटु आलोचना की । अंग्रेजी सविधान सम्बन्धी ब्लैकस्टन की धारणा की—जिसके अनुसार वे ब्रिटिश सविधान को दोषरहित मानते थे—आलोचना करते हुए बेंथम ने कहा कि "अंग्रेजी विधि-व्यवस्था केवल कमजोर और गरीबो को सताने वाली एक निर्लज्ज निरकुशता थी ।" इसी प्रकार बेंथम ने ब्लैकस्टन की दूसरी मान्यता की भी तीखी आलोचना की और कहा कि इस प्रकार का समझौता इतिहास मे कभी हुआ ही नही । यह केवल काल्पनिक है और यदि यह भी मान लिया जाय कि ऐसा समझौता कभी हुआ है तो किसी भी आधार पर आज की पीढी को उसे मानने के लिए बाध्य नही किया जा सकता । वस्तुतः

ब्रिटिश संविधान के प्रति बेंथम का दृष्टिकोण सुधारात्मक था। ब्लैकस्टन की बेंथम द्वारा आलोचना के सम्बन्ध में डनिंग का कहना है कि बेंथम द्वारा ब्लैकस्टन की आलोचना ठीक वैसी ही है जैसे चीनी और कांच के वर्तनों की दूकान में सांड घुस गया हो।

शासन-पद्धति का सिद्धान्त—उपयोगितावादी सिद्धान्त की दृष्टि से बेंथम राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र दोनों का विरोधी था तथा प्रजातन्त्रीय प्रणाली का समर्थक था। इसी आधार पर उसने हाउस ऑफ लॉर्ड्स की आलोचना की है। उसका विचार था कि एक-सदनीय व्यवस्थापिका होनी चाहिए और उसका निर्वाचन प्रति-वर्ष वयस्क मताधिकार के आधार पर किया जाना चाहिए। उसका यह भी कहना था कि "केवल प्रजातन्त्र के शासन में ही शासक और शासितों के हितों को पूरा किया जा सकता है तथा इसमें 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' ही सर्वोपरि उद्देश्य होता है।" विश्व के अनेक देशों की प्रगति और उसके सुधार के सम्बन्ध में बेंथम का विश्वास था कि इस दूषित संसार को प्रजातन्त्रों द्वारा आच्छादित करके ही सुधारा जा सकता है। वह वयस्क मताधिकार, गुप्त मतदान प्रणाली और प्रेस की स्वतन्त्रता का भी समर्थक था।

न्याय-व्यवस्था—बेंथम ने न्याय-प्रणाली में काफी सुधार सुझाये। उसकी सुधार की अन्य योजनाओं में यह महत्त्वपूर्ण योजना थी। सेबाइन का विचार है कि न्याय-शास्त्र-विषयक कार्य "उन्नीसवीं शताब्दी की सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धियों में से था।"[6] वह कहता था कि इस देश (इंग्लैंड) में न्याय बेचा जाता है, बहुत महँगा बेचा जाता है और वह व्यक्ति जो इसका दाम नहीं चुका पाता, न्याय से वंचित रह जाता है। अपने निबन्ध सत्य बनाम एम्हर्स्ट (*Truth versus Anlhurst*) में बेंथम ने न्याय-व्यवस्था पर तीखा व्यंग्य करते हुए पुनः लिखा, "यह कैसी विचित्र बात है कि एक न्यायालय में, जिसे 'निरपेक्ष न्यायालय' कहा जाता है, एक व्यक्ति को जीवन पर्यन्त विपत्ति में फँसाकर उसकी सारी सम्पत्ति को लूट लिया जाता है।...... ब्रिटेन के कानून के अनुसार, उस चीज को, जिसे न्याय कहा जाता है, केवल बेचा ही नहीं जाता अपितु बारूद की तरह होने के कारण और तरह-तरह की शक्ति की बनी होने के कारण इसे पृथक्-पृथक् कीमतों पर, तरह-तरह से खरीदारों की सामर्थ्य के अनुसार बेचा जा रहा है।"

ब्रिटेन की विधि-व्यवस्था सभ्य समाज के अनुरूप नहीं थी। अतः बेन्थम ने विधि-सम्बन्धी कुछ सुधार-योजनायें प्रस्तुत कीं। उसकी मुख्य समस्या यह थी कि गरीब, शोषित एवं असहाय व्यक्तियों को न्याय कैसे मिले? न्याय सर्वसुलभ और सस्ता हो—इसके लिए उसका कहना था कि देश के कानूनों की जानकारी सर्वसाधारण को होनी चाहिए। कानूनों की भाषा सरल, सुगम्य और वाक्य-रचना छोटी होनी चाहिए। उसका विचार था कि न्यायाधीशों की मनमानी एवं उनकी निरंकुशता

[6] जार्ज एच० सेबाइन, राजनीति दर्शन का इतिहास, भाग 2, पृ० 639।

पर प्रतिबन्ध लगना चाहिए। वह इस मत का था कि किसी भी मुकदमे का निर्णय एक ही न्यायाधीश द्वारा किया जाय। अनावश्यक खर्चों को कम किया जाना चाहिए। बेंथम का विचार यह था कि अदालतो की कार्य करने की विधि को सरल किया जाय। इसलिए उसने यह सुझाव दिया कि सभी प्रतिबन्धो को हटा दिया जाना चाहिए। वकीलो के प्रति बेंथम के विचार अच्छे नही थे। वह उन्हे 'निष्क्रिय, शक्तिहीन और हर चीज को हडपने को तैयार' कहता था। उसका विचार था कि इन लोगों के सामने उपयोगिता का विचार ही नही होता।

विधि-सम्बन्धी योजना—बेंथम को एक कानून-सुधारक के रूप मे सदैव याद किया जाता रहेगा। उसने अपने समय के कानूनों एव उनको कार्यान्वित करने वाली सस्थाओ की कटु आलोचना की। उसका सुझाव था कि अनावश्यक और अनुपयोगी कानूनो को समाप्त कर दिया जाना चाहिए तथा आवश्यक कानूनो का वर्गीकरण (Classification) तथा सहिताकरण (Codification) किया जाना चाहिए। वस्तुतः बेंन्थम ब्रिटेन के कानूनो को सहिताबद्ध करने के लिए तैयार भी था तथा वह यह कार्य कर भी देता पर उसको इस कार्य के लिए कोई प्रोत्साहन नही मिला। सरकार इस कार्य के लिए पूर्णत. उदासीन रही। बेंथम का कहना था कि कानूनो की भाषा सरल होनी चाहिए जिससे कि सामान्य व्यक्ति भी उसे समझ सके। उसका विचार था कि कानूनो को व्यक्ति की सहज आशाओ के अनुसार होना चाहिए। इसी प्रकार उनमे परस्पर विरोध नही होना चाहिए। कानूनो का आधार उपयोगिता का सिद्धान्त होना चाहिए। उसने अपने समय के फौजदारी कानूनो की तीव्र निन्दा की। वे अनावश्यक रूप से कठोर थे। उसका कहना था कि कानून दो प्रकार के होते हैं—दैवी और मानवीय। मानवीय कानूनो के द्वारा ही समाज को नियन्त्रित किया जाना चाहिए। ये मानवीय कानून चार प्रकार के होते हैं, यथा अन्तर्राष्ट्रीय, सवैधानिक, नागरिक और दण्ड कानून। इन सबका आधार उपयोगिता होना चाहिए। बेंथम के कानून-सुधारों का व्यापक प्रभाव पडा। सर हेनरी मेन का कहना है कि "बेंथम के समय से लेकर आज तक ऐसा कोई भी कानून-सुधार मेरी दृष्टि मे नही आता जिस पर उसका प्रभाव न हो।"

दण्ड-व्यवस्था में सुधार—अपराध समाज के विरुद्ध कार्य है। अत. अपराधी को दण्ड मिलना ही चाहिए। पर दण्ड देने की एक व्यवस्था और उसके पीछे एक निश्चित दृष्टिकोण होना चाहिए। बेंथम के समय तात्कालीन दण्ड-प्रणाली काफी दोषपूर्ण और कठोर थी। साधारण से अपराध के लिए कठोरतम दण्ड यहां तक कि मृत्युदण्ड तक दिया जाता था। दण्ड प्रणाली असगत थी। बेंथम का विचार था कि दण्ड का एकमात्र उद्देश्य प्रतिशोधात्मक नही होना चाहिये। जैसा अपराध हो उसके अनुरूप दण्ड की व्यवस्था होनी चाहिये। अपराधो का वर्गीकरण किया जाना चाहिए तथा उसी प्रकार दण्डो को भी बाँटना चाहिए। पर प्रश्न यह है कि अपराध का निर्णय कैसे किया जाय? अपराध का निर्णय सुख-दु ख के आधार पर

किया जाना चाहिए। अपराध स्वयं मे एक बुराई है, दण्ड अपराध के समय की परिस्थितियो के अनुसार दिया जाना चाहिए। मृत्यु-दण्ड के सम्बन्ध मे बैंथम का विचार था कि अत्यन्त गहन अपराधो के करने पर ही मृत्यु-दण्ड दिया जाना चाहिए। वस्तुत समाज-कल्याण का विचार ही दण्ड देने का आधार और मापदण्ड होना चाहिए।

दण्ड देने के बैंथम ने 12 नियम बतलाये हैं। इनको दण्ड देते समय ध्यान रखना चाहिए, जैसे दण्ड की मात्रा, अपराधी द्वारा दूसरे व्यक्ति को पहुचाई गई हानि, और उसे स्वय को मिले लाभ से दण्ड की मात्रा अधिक नही होनी चाहिए; दण्ड अपराध के बराबर होना चाहिए; दण्ड का लक्ष्य सुधार हो; आदि। इसी प्रकार बैथम ने दण्ड के भी 12 लक्षण बतलाये हैं। उसका कहना था कि दण्ड के निर्धारण के समय, अपराध के प्रकार, परिस्थितियाँ, अपराध करने मे अपराधी का उद्देश्य और अपराध के परिणामस्वरूप किस प्रकार के व्यक्ति को हानि पहुंची, इसका विचार करना चाहिए।

बैंथम का विचार था कि दण्ड अपराधी को सार्वजनिक रूप से दिया जाना चाहिए जिससे अन्य आम लोगों को अपराध से भय लगने लगे।

जेल-सुधार योजना—बैंथम के समय मे इग्लैण्ड की जेलें नारकीय गृह थी। काली अधेरी कोठरियाँ और गन्दे तहखाने जेलो की विशेषताएँ थी। इनमे रहने वाले अपराधियो के साथ किया जाने वाला अमानुषिक व्यवहार और गन्दा भोजन स्वय मे एक अपराध था। बैंथम ने जेल-सुधार की योजना उपस्थित की। उसने गोलाकार बन्दीगृह (Panopticon) का सुझाव दिया। इसके केन्द्र मे जेल अधिकारी रहता था जो कि अपने चारो ओर रहने वाले अपराधियो की देखभाल कर सकता था। बन्दीगृहों को वह सुधारगृहों मे बदलना चाहता था। उसने अपराधियो के साथ सद्व्यवहार करने की वकालत की तथा अपराधियो को प्रारम्भिक शिक्षा एव धार्मिक शिक्षा देने का समर्थन किया। उसका विश्वास था कि ऐसा करने से अपराधियो के चरित्र एव स्वभाव मे परिवर्तन एव सुधार होगा। उसका यह सुझाव था कि जेल से छूटने के पश्चात् जब तक उस आदमी को कोई नौकरी नही मिलती तब तक उसकी रोजी, रोटी का प्रबन्ध राज्य को करना चाहिए, अन्यथा वह फिर अपराधी बनेगा। उसकी गोलाकार बन्दीगृह योजना को सन् 1794 मे ब्रिटिश ससद् ने अपनी स्वीकृति भी दे दी। इस योजना मे बैंथम ने अपनी जेब से हजारो पौण्ड खर्च किये। पर, बाद मे ब्रिटेन की सरकार ने इस योजना को अस्वीकृत कर दिया।

शिक्षा सुधार—शिक्षा प्रगति का और विश्व के ज्ञान को समझने का माध्यम है। बैंथम ने शिक्षा-सुधार पर काफी जोर दिया और इसके लिए एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का सुझाव दिया। इस प्रणाली के अन्तर्गत उसने समाज के सभी वर्गों को शिक्षा देने का विचार किया। उसने दो प्रकार के विद्यालयो का सुझाव दिया। एक मे निम्न श्रेणी तथा निर्धन परिवारो के बच्चे पढते थे तथा दूसरे मे उच्च एव मध्यम-

वर्ग के बच्चे पढते थे। उसका विचार था कि गरीबो के बच्चो को प्रमुखत: नैतिक एव व्यावसायिक शिक्षा दी जानी चाहिए और सम्पन्न परिवार के बच्चो की बौद्धिक शिक्षा पर जोर दिया जाना चाहिए।

उसका विचार था कि निर्धन परिवारो के बच्चो की शिक्षा की व्यवस्था राज्य को करनी चाहिए, उसे ही उनकी शिक्षा की देख-भाल करनी चाहिए। शिक्षा से सम्बन्ध मे बेंथम के दो सिद्धान्त थे, पहला यह कि शिक्षा का प्रारम्भ उस विद्या से किया जाना चाहिए जो कि उपयोगी हो। दूसरी बात यह कि उस बात की शिक्षा दी जानी चाहिए जिसे बच्चे आसानी से सीख सकें। उनकी शक्ति और क्षमता के अनुसार ही उनको शिक्षा दी जानी चाहिए। बेंथम ने स्कूल की व्यवस्था की भी बात कही है। वह बच्चो को शारीरिक दण्ड देने के विरुद्ध था।

उपरोक्त सुधार-योजनाओ के अतिरिक्त सामाजिक प्रगति एव विकास की दृष्टि से बेंथम ने अनेक सुधार-योजनाओ को प्रतिपादित किया था। उसके सुधारो को कार्यान्वित करने के पश्चात् समाज के स्वरूप मे आमूल परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक ही है।

जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill)

बेंथम के उपयोगितावादी दर्शन को जिन अनेक विचारको ने आगे बढाया, उनमे जॉन स्टुअर्ट मिल सर्वाधिक प्रमुख है। वैसे जॉन स्टुअर्ट मिल की ख्याति एक व्यक्तिवादी विचारक के रूप मे अधिक है, पर उसने उपयोगितावादी मान्यताओं और विश्वासो मे अपना मौलिक योगदान दिया तथा उपयोगितावाद के दार्शनिक पक्ष मे कुछ महत्वपूर्ण सशोधन भी प्रस्तुत किये।

मिल ने बेंथम के उपयोगितावाद की विचारधारा को एक नवीन रूप और गति दी। उसने बेंथम के सिद्धान्तो की कठोरता को अधिकाधिक मानवीय बनाया। मिल के उपयोगितावादी विचार उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'उपयोगितावाद' जो 1863 मे प्रकाशित हुई, मे मिलते हैं।

सिद्धान्तत मिल सुखवादी था। उसकी मान्यता थी कि 'कोई कार्य उसी अनुपात मे सत् है, जिसमे वह सुख का उत्पादन करता है।" तथा "मानव व्यवहार का एकमात्र उद्देश्य सुख है।" पर उसने सुख सम्बन्धी बेंथम की धारणा मे सशोधन किया। यह सशोधन सुख के प्रकार के प्रश्न को लेकर किया गया है। बेंथम का विचार था कि सुखो के अन्दर केवल परिमाणात्मक अन्तर होता है, अर्थात् एक सुख दूसरे से परिमाण मे ही भिन्न होता है, गुण मे नही। इसके विपरीत मिल की धारणा थी कि सुखो मे परिमाण का ही नही अपितु गुण का भी अन्तर होता है। मूलत: सुखवादी विचारकों मे मिल पहिला विचारक था जिसने कि सुखो मे परिमाणात्मक अन्तर के अलावा गुणात्मक अन्तर को भी स्वीकार किया। इस सन्दर्भ मे उसका आग्रह था कि यह युक्तिसगत नही होगा कि जब सभी अन्य वस्तुओ के मूल्याकन

में गुण और परिमाण दोनों का ध्यान रखा जाता है, तो सुखो के मूल्यावन मे केवल परिमाण का ही ध्यान रखा जाय। मिल का विचार था कि व्यक्ति सदैव सुखों के परिमाण पर ही ध्यान नही देता अपितु वह उनके गुण पर भी ध्यान देता है। इसका कारण है उसके अन्दर पाई जाने वाली 'गौरव की भावना' जो उसे केवल इन्द्रिय और भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए नही, अपितु उच्च और मानसिक सुखो की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती है। केवल सुख की प्राप्ति के लिए एक मनुष्य पशुवत् व्यवहार नही करेगा। मिल की यह प्रसिद्ध उक्ति है कि "एक सन्तुष्ट सुअर होने की अपेक्षा एक असन्तुष्ट मनुष्य होना अधिक अच्छा है, और एक सन्तुष्ट मूर्ख बनने की अपेक्षा एक असन्तुष्ट सुकरात बनना अधिक श्रेयस्कर है, और यदि उस मूर्ख या सुअर की राय इससे भिन्न है, तो वह इसलिए कि वह प्रश्न के एक पहलू, अपने पहलू, को ही देखता है। तुलना का दूसरा पक्ष दोनो पहलुओ को देखता है।"[7]

उपयोगितावादी मानदण्ड के सम्बन्ध मे भी मिल ने अपने दृष्टिकोण को बेंथम से भिन्न रूप मे प्रस्तुत किया है। मिल का कहना है कि "उपयोगितावादी मानदण्ड व्यक्ति का अधिकतम सुख न होकर अधिकतम सामूहिक सुख है।" इसी संदर्भ मे उसका यह भी विचार था कि यदि ऐसी कोई स्थिति आती है जबकि एक व्यक्ति को अपने और अन्य व्यक्तियों के सुखो मे से किसी एक को चुनना पड़ जाय, तो उस समय व्यक्ति को अपने हित की दृष्टि से विचार नही करना चाहिए अपितु निरपेक्ष रहकर स्थिति पर सोचना चाहिए। इस सोचने का जो परिणाम आये, उसके अनुसार कार्य करना चाहिए।

बेंथम के सामने एक समस्या थी। वह यह कि क्या व्यक्ति को सार्वजनिक सुख की वृद्धि के लिए बाध्य किया जा सकता है ? प्रश्न यह है कि मैं अपने सुख के स्थान पर सार्वजनिक सुख की वृद्धि के प्रयत्न क्यो करूँ ? बेंथम का विचार था कि कुछ ऐसे बाह्य दबाव होते हैं, जिनके द्वारा एक व्यक्ति को इस बात के लिए तैयार किया जा सकता है कि वह सार्वजनिक सुख की वृद्धि के लिए कार्य करे। इन बाह्य दबावो मे भी, अन्तत, व्यक्ति का स्वार्थ रहता ही है। ये बाह्य दबाव हैं—प्राकृतिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक। मिल का कथन बेंथम से कुछ अधिक व्यापक है। उसने एक दूसरे भाग को भी बतलाया है। उसका विचार है कि बाह्य दबावो के अलावा आन्तरिक दबाव द्वारा भी ऐसा करवाया जा सकता है। यह आन्तरिक दबाव क्या है ? मिल के अनुसार यह दबाव प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण मे स्थित 'मनुष्य जाति के सुख की भावना' है। यह भावना प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण

[7] "It is better to be a human being dissatisfied than a pig satisfied, better to be a Socrates dissatisfied than a fool satisfied And if the fool, or the pig, are of a different opinion, it is because they only know their own side of the question The other party to the comparison knows both sides"
—John Stuart Mill, *Utilitarianism*, pp. 18—19.

मे रहती है। व्यक्ति के अन्त.करण मे दूसरो के दु.खो के प्रति आदर का भाव रहता ही है। यही इस भावना का मूल है।

यदि व्यक्ति स्वार्थी है तो वह दूसरो के सुखो का विचार क्यों करता है? स्वार्थ से परार्थ का विचार हम क्यो करते हैं? मिल ने इस प्रश्न का भी बहुत सुन्दर उत्तर दिया है। उसने इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है। उसका विचार है कि स्वार्थ से ही आगे चलकर पर-हित का भाव जाग्रत होता है। यह ऐसे ही होता है जैसे साधन साध्य मे बदल जाता है। यह क्रम ऐसे चलता है कि जैसे कोई समाज की भलाई के लिए किसी सस्था की स्थापना करता है, पर स्थापना के पश्चात् उस सस्था के लिए कार्य करते-करते उसका स्वभाव ऐसा हो जाता है कि बस सस्था ही उसके लिए सब कुछ हो जाती है। हालांकि सस्था समाज-सेवा का साधन थी, पर वही साध्य हो जाती है। इसी प्रकार पहिले तो व्यक्ति अपने हित के लिए ही दूसरों की तकलीफो को दूर करने का प्रबन्ध करता है, पर बार-बार ऐसा करने से हमारी रुचि ही बदल जाती है और हम दूसरो की तकलीफो को दूर करने मे ही सुख का अनुभव करने लगते हैं। हमारे अन्त करण में दूसरों के प्रति सहानुभूति पैदा हो जाती है। यही सहानुभूति स्वार्थ से परार्थ की ओर हमें ले जाती है।

बैंथम और जॉन स्टुअर्ट मिल की उपयोगितावादी मान्यताओ और धारणाओ का अध्ययन करने के पश्चात् उपयोगितावादी सिद्धान्तो का विचार सहज रूप मे किया जा सकता है। उपयोगितावाद एक सुधारवादी विचारधारा है। यह यथार्थ दृष्टिकोण को अपनाती है। सुख-दु ख का विचार इसका आधारभूत सिद्धान्त है। यह राज्य की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्वपूर्ण मानती है। राज्य तो मनुष्य के सुख की प्राप्ति का साधन-मात्र है। उपयोगितावाद कोई काल्पनिक विचारधारा नही है। यह अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख पर विश्वास करती है। उपयोगितावाद हिंसा अथवा क्रान्ति मे विश्वास नही करता। इसके विपरीत उसका विश्वास सुधारवादी कार्यक्रमो मे और प्रजातन्त्र मे है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उपयोगितावाद राज्य की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध मे अधिक विचार न करके सरकार के कानून-निर्माण के आधार के सम्बन्ध में पूर्ण विचार करता है।

आलोचना

एक व्यावहारिक दर्शन के रूप मे उपयोगितावाद श्रेष्ठ और उपयोगी विचारधारा है। उपयोगितावाद के द्वारा उपस्थित की गई मान्यताओ का तथा उसके द्वारा विकसित किए गए विश्वासो का प्रभाव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और प्रभावी रहा है। अनेक देशो की सरकारो के लिए उसने आदर्श का कार्य किया है। पर इतना होने पर भी इसमे अनेक असगतियाँ और कमजोरियाँ है जिनके कारण इसकी आलोचना की जाती रही है।

1. मनोवैज्ञानिक सुखवाद की धारणाएँ उपयोगितावाद की मान्यताओ का आधार हैं। बैंथम एक मनोवैज्ञानिक सुखवादी था, पर मनोवैज्ञानिक सुखवाद स्वय

अमनोवैज्ञानिक है। वस्तुतः हम सुख की नही, किसी वस्तु की याचना या आकाक्षा करते हैं। सुख तो उसका परिणाम होता है। होता यह है कि हम पहिले किसी वस्तु की आवश्यकता को अनुभव करते हैं, फिर उस वस्तु का विचार करते है जो हमारी आवश्यकता की पूर्ति कर सके, इसके पश्चात् हम उस वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और उसे प्राप्त करते हैं। उस वस्तु के प्राप्त होने से हमे सुख मिलता है। यही हमारी मानसिक प्रक्रिया का क्रम है। इसे एक उदाहरण लेकर यदि स्पष्ट किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि दूर कही जाने के लिए हम वाहन की आवश्यकता को अनुभव करते हैं, तब वाहन लेने की इच्छा होती है, हम वाहन को ले लेते हैं, अर्थात् उसको प्राप्त करते हैं। इसके पश्चात् हम अपने इष्ट (गन्तव्य) स्थान को पहुंच जाते हैं तब हमे सुख मिलता है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि हम आवश्यकता पडने पर किसी वस्तु की याचना करते हैं। सुख तो उसका परिणाम होता है। मैंकेंजी का यह कहना ठीक ही है कि "सुख का जन्म किन्ही आवश्यकताओ की पूर्ति के पश्चात् होता है। अत. प्रमुख बात तो आवश्यकताओ की पूर्ति की है, पर मनोवैज्ञानिक सुखवादियो ने सुख को पहिले रख दिया। यह तो क्रम ही उल्टा है। यह तो 'गाडी को घोडे के आगे रखना' जैसा है (Putting the cart before the horse)।"

2. बेंथम का सुखवाद, स्थूल सुखवाद है। वह सुख (Happiness) और आनन्द (Pleasure) मे कोई भेद नही कर सका। सुख भौतिक होता है। वह इन्द्रियो की तृप्ति से मिलता है। आनन्द अतीन्द्रिय और अभौतिक होता है। दोनो पर्यायवाची नही होते। दोनो एक नही होते। दोनो की स्थिति अलग अलग होती है। एक व्यक्ति को सुन्दर और सुरुचिपूर्ण भोजन मिलने से सुख मिलता है। पर एक मॉं को स्वय गीले मे लेटकर—इस प्रकार शारीरिक कष्ट उठाकर—और अपने बच्चे को सूखे मे लिटाकर आनन्द मिलता है। एक ससारी व्यक्ति तमाम भौतिक वस्तुओ को जुटाकर सुख लेता है, पर एक वीतरागी सन्यासी सभी भौतिक वस्तुओ का त्याग कर आनन्द की अनुभूति करता है। वस्तुत दोनो अलग-अलग हैं।

3. इसके अतिरिक्त एक बात और है। बेंथम का यह कहना कि हम प्रत्येक कार्य सुख की प्राप्ति के लिए करते हैं, गलत है। मानव स्वभाव सम्बन्धी बेंथम की मान्यता दोषपूर्ण है। वह केवल स्वार्थी और अपने तक सीमित प्राणी मात्र नही है। मनुष्य के कार्यों का आधार केवल सुख का ही विचार नही होता। यह तो बहुत छोटा और सीमित आधार है। हम राष्ट्रप्रेम, परोपकार, और कर्त्तव्य-भाव से प्रेरित होकर अनेक कार्य करते हैं। देश के लिए सर्वस्व समर्पित करने वालो के कार्यों का आधार तथा अपने आप को बलिदान के लिए प्रस्तुत करने वाले अनेक देश-भक्तों के कार्यों का आधार केवल सुख-दु.ख का तुच्छ और क्षणिक विचार नही होता। उनके जीवन की भूमिका इन छोटे-से आकर्षण-विकर्षण की लालसाओ से ऊपर उठी हुई होती है। पर-हित के विचार से हम अनेक कार्यों को करते हैं। यही स्थिति कर्त्तव्य भावना की है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार हमारे कार्यों का आधार होता है। हम

कर्त्तव्यपालन के लिए अनेक कठिनाइयो और कष्टो को भी उठाने के लिए तत्पर रहते हैं। सत्यता यह है कि जिस प्रकार हमारे कार्यों का आधार सुख का विचार है, उसी प्रकार देश-प्रेम, परोपकार और कर्त्तव्य-भावना भी हमारे कार्यों का आधार है।

4. सुख-दु.ख को नापने से लिए बैंथम ने एक मापक-यन्त्र बनाया। इसके द्वारा उसने सुख-दुःख को नापने का प्रयत्न किया है। पर यह गलत और भ्रममूलक है। किसी भी दशा मे सुख को नापा नही जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति को सुख-दु ख का आभास अलग-अलग मात्रा मे होता है। एक वस्तु किसी व्यक्ति को सुखकर होती है, वही वस्तु किसी दूसरे को दु खकर हो सकती है। यह तो देश काल और परिस्थिति पर निर्भर है कि कौन-सी चीज व्यक्ति को कितना और कैसा सुख पहुँचाती है। सुख का मापक-यन्त्र एक अव्यावहारिक और अनावश्यक कोशिश है। उसके द्वारा सुख का सही और यथार्थ अनुमान नही लगाया जा सकता। यह कोई पदार्थ नही जिसे तौला या नापा जा सके। यह तो मन स्थिति की बात है। सुख और दुःख मन की आन्तरिक अवस्थाएँ है।

बैंथम सुखो मे केवल परिमाणात्मक अन्तरो को स्वीकार करता है। वह गुणात्मक अन्तरो को मान्यता नही देता। इस प्रकार सुख सम्बन्धी उसकी दृष्टि स्वय मे अधूरी है, वह मानवोचित नही है। बैन्थम का विश्वास अनुभव के विरुद्ध लगता है क्योंकि सुखो मे गुणात्मक अन्तर भी होता है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने बैंथम की उपरोक्त धारणा मे सशोधन किया और सुखो मे गुणात्मक अन्तरो के होने के तथ्य को स्वीकार भी किया। यह एक उचित सशोधन था जिसमे मानव की श्रेष्ठता सुरक्षित रह सकी। पर मिल के सशोधन को स्वीकार कर लेने पर भी सुखो के मापक-यन्त्र सम्बन्धी समस्या अपनी जगह कायम रहती ही है, कारण, भिन्न-भिन्न प्रकार के सुखो की नाप-तौल कर लेने के पश्चात् उनकी सापेक्ष उपयोगिता (Relative Utility) निश्चित करना कठिन ही नही, असम्भव हो जाता है। एक वीतरागी के उपदेश को सुनने के पश्चात् जितना आनन्द और आत्म-सन्तोष होता है, उतना आत्मसन्तोप कितना रुपया इकट्ठा करने पर होगा? सुखवाद के पास इसका कोई हिसाब ही नही।

5. बैंथम इस बात को स्वीकार करता है कि व्यक्ति स्वार्थी होता है और वह अपने ही सुख को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। उसका कहना है कि "अपने लिए सुख के अधिकतम अश की प्राप्ति प्रत्येक विचारशील प्राणी का लक्ष्य है। प्रत्येक मनुष्य दूसरे को अपेक्षा अपने निकटतर है।" पर इतना होने पर भी बैंथम ने सुखो की व्यापकता के सिद्धान्त को स्वीकार कर अपने सुखवादी सिद्धान्त मे परार्थवाद के विचार को स्वीकार किया है। पर इस तर्क का बैंथम कोई समुचित समाधान प्रस्तुत नही कर सका कि एक व्यक्ति दूसरे के सुख का विचार क्यो करे? और फिर मानसिक सुखो के उपभोग मे तो यह सम्भव भी है कि अन्य भी उसका उपभोग कर सकें परन्तु स्थूल सुखो का उपभोग अधिक व्यक्ति कैसे कर सकते हैं?

बेंथम ने यह कहा है कि बाह्य दबाव या दण्ड-भय इस बात के कारण हैं कि हम अन्यों के सुखों के सम्बन्ध मे सोचते हैं, पर ये भौतिक दबाव हैं, नैतिक दबाव नही । 'हमे ऐसा करना चाहिए' इस भावना को ये विकसित नहीं करते परन्तु 'हमें यह करना होगा' इस बाध्यता को ये उपस्थित कर सकते हैं ।

6. बेंथम के 'अधिकतम लोगो के अधिकतम सुख' सिद्धान्त की भी काफी आलोचना की गई है । यह वही सिद्धान्त है जिसे बेंथम 'राज्य के कानून-निर्माण' सम्बन्धी कार्यो एवं अन्य अनेक सुधारवादी सिद्धान्तो के निर्धारण का आधारभूत तत्त्व मानता है । सेबाइन (Prof. G. H. Sabine) का कहना है कि "अधिकतम सख्या और अधिकतम सुख दोनो मे कोई तर्कसम्मत सम्बन्ध नही है ।" स्थिति भी ऐसी ही है । बेंथम के उपरोक्त कथन मे दो दोष हैं—पहिला तो यह कि यह कथन परिमाणमूलक है, गुणमूलक नही । इस कारण यह विभिन्न प्रकार के और विभिन्न गुणो के लोगो पर उचित तरीके से लागू नही होता । हां, यह उस समय लागू हो सकता है जबकि सब मनुष्य एक प्रकार के हों और सुखो मे केवल परिमाणात्मक अन्तर हो । पर समाज मे सभी लोगो का एक समान होने का प्रश्न ही पैदा नही होता । दूसरा दोष यह है कि या तो हम अधिक्तम लोगों के निम्नतम सुख को प्राप्त कर सकते हैं, अथवा निम्नतम लोगो के अधिकतम सुख को प्राप्त कर सकते हैं । हम अधिक्तम लोगो के अधिक्तम सुख को प्राप्त नही कर सकते । सूत्र के ये दोनों भाग परस्पर विरोधी हैं । उदाहरण के लिए मान लीजिए अधिक्तम लोगो की सख्या 100 है और अधिकतम धन जो उनमे बांटना है वह एक लाख है । अब यदि अधिक्तम लोगों मे यह अंक बांटना हो तो सबको बराबर एक-एक हजार रुपया मिलेगा, पर इसके कारण मिलने वाला सुख अधिक्तम नही वरन् निम्नतम हुआ हालांकि सख्या अधिकतम है । इसके विपरीत यदि एक ही व्यक्ति को एक लाख रुपया दे दिया जाय तो लोगों की सख्या निम्नतम हुई, पर उससे मिलने वाला सुख अधिकतम हुआ । इस प्रकार हम सूत्र के दोनो भागों को प्राप्त नही कर सकते । या तो अधिक्तम लोगों के सुख को प्राप्त किया जा सकता है अथवा निम्नतम लोगो के अधिक्तम सुख को प्राप्त किया जा सकता है । इस प्रकार यह सूत्र व्यावहारिक नही है । इससे तो मिल का कथन विशेष ठीक है । एक आदर्श के रूप मे भी यह सूत्र आकर्षक नही है । राज्य का आदर्श उसमे रहने वाले प्रत्येक नागरिक के कल्याण के लिए कार्य करना और उस निमित्त साधनों को जुटाना होना चाहिए । इस दृष्टि से बेंथम का आदर्श सूत्र सीमित और अनिवार्यतः कुछ नागरिको के हितो की उपेक्षा करने वाला लगता है । 'अधिक्तम लोगों के अधिकतम सुख' के स्थान पर—

सर्वेपु सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:ख भाग्भवेत् ।

यह राज्य का आदर्श होना चाहिए और इसी के आधार पर उसे अपने कार्यों को करना चाहिए।

7. समाज के सम्बन्ध मे उपयोगितावादी दृष्टिकोण गलत है। वे समाज की अणुवादी धारणा पर विश्वास करते हैं जिसके अनुसार समाज व्यक्तियों का समूह मात्र है। पर ऐसा नही है। यह एक गलत धारणा है। समाज व्यक्तियों के समूह मात्र से अधिक है। उसका अपना एक स्वरूप और संगठन है। जहाँ तक राज्य के सम्बन्ध मे उपयोगितावादी दृष्टिकोण का सम्बन्ध है, उपयोगितावाद के पास वस्तुत: राज्य सम्बन्धी कोई सिद्धान्त नही है। अलबत्ता वे केवल सरकार के सम्बन्ध मे अवश्य कुछ सिद्धान्त रखते हैं। अत: उपयोगितावाद राज्य का सिद्धान्त न होकर सरकार का सिद्धान्त है—यह कहना समीचीन होगा।

मूल्यांकन

जहाँ तक उपयोगितावाद के मूल्याकन का प्रश्न है, यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि 19वी शताब्दी के राजनीतिक चिन्तन पर और विभिन्न देशो में राज्यो की कार्यविधि पर इसका गम्भीर और निर्णायक प्रभाव पड़ा है। यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सर्वाधिक व्यावहारिक विचारधारा रही है। डेविडसन का यह कथन पूर्णत: सत्य है कि "उपयोगितावादियों ने लोकहित के बड़े काम किये हैं।" ग्रीन का विचार है कि "सुखवादी मनोविज्ञान से उत्पन्न होने वाले दोष भले ही कुछ भी हो, किन्तु आज तक सामाजिक और राजनीतिक सुधारो के लिए कोई भी ऐसा सिद्धान्त नही था जिसमे इतनी सच्चाई हो और इस जैसी कार्यशीलता की सुगमता हो।"

उपयोगितावाद की सबसे बडी देन उसके सिद्धान्त और उसकी मान्यताएँ नही हैं वरन् उसका व्यावहारिक दृष्टिकोण और लोकहितकारी प्रकृति है।

सहायक पुस्तकें

Jeremy Bentham	*Fragment on Government*
	Introduction to the Principles of Morals and Legislation
J. S. Mill	*Utilitarianism*
	Representative Government
C. L. Wayper	*Political Thought*
H. J. Laski	*Political Thought in England from Locke to Bentham*
W. L. Davidson	*Political Thought in England*
	The Utilitarians (From Bentham to Mill)

E. Alby	*History of English Utilitarianism*
L. Stephen	*The English Utilitarians*
फ्रांसिस डब्लू० कोकर	आधुनिक राजनीतिक चिन्तन
डा० सर्वानन्द पाठक	चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा
जार्ज एच० सेबाइन	राजनीति दर्शन का इतिहास, भाग 2

3

आदर्शवाद

(Idealism)

○

आदर्शवाद राजनीतिक दर्शन की एक प्रमुख और प्राचीनतम विचारधारा है। इसे अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता है। सत्तावादी सिद्धान्त (Absolutist theory), दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical Theory), आध्यात्मिक सिद्धान्त (Metaphysical Theory), आदि इसके अनेक नाम हैं। मैकाइवर ने इसे एक और नाम दिया है, और वह है रहस्यवादी सिद्धान्त (Mystical Theory)। वस्तुतः इन सब विभिन्न नामों का कारण है आदर्शवाद की सामान्य से भिन्न, पृथक् और प्रभावशाली विश्लेपण पद्धति और विषय को समझने-समझाने की दृष्टि। आदर्शवाद सशक्त दार्शनिक आधार से युक्त एक विचार है, इसी कारण वह प्रायः नयी मान्यताओं, प्रस्थापनाओं और मूल्यों को विकसित कर सका, उदाहरण के लिए राज्य के प्रति उसके दृष्टिकोण को लिया जा सकता है। सामान्यत राज्य के सम्बन्ध मे जो विचार व्यक्त किए गए है उनसे लगता है कि राज्य एक राजनीतिक सस्था है, अथवा वह उपयोगिता के कारण अस्तित्व मे आया है और इस प्रकार वह एक उपयोगी सस्था है, अथवा वह सवित का परिणाम है, अथवा वह एक वर्ग विशेष के हितो का सरक्षण करने वाली सस्था है, अथवा वह शक्ति का केन्द्र है, अथवा वह समाज मे शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने वाली एक सस्था है। पर आदर्शवाद के लिए उपरोक्त कोई भी मत सत्य नही है, वह इनमे से किसी भी मत का समर्थक नही है, उसके दृष्टिकोण के अनुसार उपरोक्त कोई भी विचार राज्य के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन नही करते और न उसके सही और उचित महत्व को प्रकाशित करते हैं। ये सब ऊपरी धरातल पर किये गये निरर्थक और स्थूल विचार हैं। वास्तविकता यह है कि राज्य एक नैतिक सस्था है। बहुत पूर्व प्लेटो ने कहा था कि "राज्य व्यक्ति का वृहद् रूप है।" मनुष्य और राज्य की रचना मूलतः एक-सी है। अरस्तू एक दूसरे रूप मे इसी बात को इस प्रकार कहता है कि "राज्य सभ्य जीवन की प्रथम आवश्यकता है" अर्थात् राज्य के बिना हम सभ्य जीवन को प्राप्त ही नही कर सकते। लगभग इसी विचार को एक दार्शनिक ऊँचाई देते हुए

बोसांके कहता है कि "राज्य एक नैतिक विचार का मूर्त रूप है" (An embodiment of ethical idea)। नैतिक विचार क्या है—स्वय का पूर्ण विकास ; अर्थात् राज्य स्वय के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है। हम राज्य के अभाव में पूर्ण विकास नही कर सकते। बिना राज्य के मानव आत्मा अपने पूर्ण विकसित स्वरूप को प्राप्त नही हो सकती। इस क्रम मे हीगल का कथन गलत नही है जब कि वह कहता है कि "सामाजिक आचार की उच्चतम कला राज्य मे व्यक्त होती है। राज्य विवेक का सर्वोच्च रूप है और वही यथार्थता का सरक्षक है।" राज्य के प्रति ही आदर्शवाद का ऐसा दृष्टिकोण है, सो बात नही है। मनुष्य और जगत् से सम्बन्धित अन्य प्रश्नों के सम्बन्ध में भी आदर्शवाद की सुविचारित मान्यताएँ और स्थापनाएँ हैं।

आदर्शवाद अग्रेजी के आइडियलिज्म (Idealism) शब्द का हिन्दी अनुवाद है। पर 'आइडियलिज्म' शब्द की कुछ विशिष्ट भावगत विशेषताएँ हैं जो हिन्दी के शब्द 'आदर्शवाद' से अलग हैं। अग्रेजी के आइडियलिज्म शब्द की व्युत्पत्ति आइडिया (Idea) शब्द से हुई है, जिसका मूल अर्थ 'विचार' होता है; अतः आइडियल का अर्थ हुआ विचार-सम्बन्धी। इससे यह स्पष्ट होता है कि विचार ही पूर्ण है अथवा पूर्णता विचारो मे ही सम्भव है। जगत् में यथार्थ रूप मे जो भी हमे दीखता है वह वैसा ही नही होता, वह परिवर्तनशील, अस्थायी और सीमित होता है अत अपूर्ण होता है। भौतिक रूप मे अथवा पदार्थ रूप में जो भी है वह परम, अनन्त और शाश्वत का पूर्ण प्रकाशन नही कर सकता, अतः वह पूर्ण नही है। फिर पूर्ण क्या है ? पूर्ण वह है जो परम, अनन्त, और शाश्वत हो अथवा उसका पूर्ण प्रकाशन करे। पर इनका पूर्ण प्रकाशन कहाँ हो सकता है ? यह प्रकाशन विचार मे ही सम्भव है, अतः विचार ही पूर्ण है, यथार्थ नही। सत्यं शिव सुन्दरं को पूर्णतः हम उसके विचार में ही प्राप्त कर सकते हैं। एक उदाहरण लें। हम एक सुन्दर दृश्य देखें—एक सुन्दर सरोवर मे कई सहस्रदल कमल खिल रहे हो। दृश्य बडा मनोहारी है, पर सौदर्य का पूर्ण प्रकाशन इसमे नही है। उसका पूर्ण प्रकाशन तो सौन्दर्य के विचार मे ही सम्भव है, जैसे—क्या ही सुन्दर हो यदि दूध का सरोवर हो और उसमे नवनीत के कई सहस्रदल कमल खिल रहे हो। इससे भी पूर्ण एक और विचार है जिसमे सौन्दर्य का पूर्ण प्रकाशन है—अमृत का सरोवर हो और उसी के एक रूप के कई सहस्रदल कमल खिले हों, चन्द्रमा की स्निग्ध चाँदनी अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य को उस पर उँडेल रही हो। कितना मनोहारी और परम सौन्दर्य को उद्घाटित करने वाला वह दृश्य होगा इसका कोई वर्णन नही। पर क्या यह सम्भव है ? यह विचारों में ही सम्भव है, सौन्दर्य के विचार मे ही सम्भव है, दृश्य जगत् मे नही। एक दूसरा उदाहरण लें—हम कोई सुन्दर रूपवान् चेहरा देखें, पर क्या वह परम सुन्दर है ? नहीं, उसमे भी कुछ कमी हमको दीखने लगती है। लगता है कि अमुक-अमुक बातें यदि हों तो यह और भी सुन्दर लगे—उससे भी अच्छी सुन्दरता का विचार हम करने लगते हैं। और फिर जब हम उस सौन्दर्य को देखते हुए उसके बारे मे विचार करने लगते हैं तो लगता है कि यह भी

उसी मांस, मज्जा, रक्त आदि का है जिसके कि अन्य रूप हैं। जरा भी यदि छिल गया तो तुरन्त ही मांस निकल आता है, पूरे चेहरे का सौन्दर्य समाप्त हो जाता है और चेहरा भद्दा हो जाता है। तब उस चेहरे के प्रति मन मे जो आकर्षण का भाव था वह लुप्त हो जाता है और उसके स्थान पर घृणा और नफरत पैदा हो जाती है। इन दोनों उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य का पूर्ण प्रकाशन किसी मूर्त वस्तु में नही अपितु सौन्दर्य के विचार मे ही सम्भव है। अर्थात् आदर्श का अर्थ विचारगत तो है ही पर साथ ही उसका लाक्षणिक अर्थ भी है और वह है 'पूर्ण' अथवा 'सर्वोत्कृष्ट'। यही कारण है कि आइडियलिज्म का हिन्दी रूपान्तर आदर्शवाद हो गया।

आदर्शवाद दृश्य जगत् अथवा भौतिक पदार्थों की अपेक्षा मूल सत्य को अधिक महत्व देता है। इसके अनुसार यह दृश्यमान् जगत किसी परम चेतन सत्ता की सृष्टि है। एक चेतन तत्त्व ही अनेक रूपो मे व्यक्त हुआ है, चर-अचर जो भी है उस सब में उसी का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है, जड़-चेतन जीवधारी सभी उसके रूप हैं, उसी से इनका विकास होता है और अन्त मे उसी एक तत्त्व में ये सब लीन होते हैं। तब नानात्व का संकोच होता है। यह ऐसे ही है जैसे मकडी अपने मे से ही जाले को उद्भूत करती है और अपने में ही जाले को वापिस ले लेती है।

यहां एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है—यदि चेतना (आत्मा) विकास का मूल है तो उसे जानना आवश्यक है और राजनीतिक दृष्टि से यह भी समझना आवश्यक है कि राज्य का उससे क्या सम्बन्ध है? अर्थात् हमे राज्य का आध्यात्मिक विश्लेषण करके यह सोचना होगा कि उसका आत्मा से अथवा बुद्धि से क्या सम्बन्ध है। आदर्शवाद राज्य की उत्पत्ति के आध्यात्मिक कारण को स्पष्ट करते हुए राज्य का आधार चेतना अथवा आत्मा है इस तथ्य को बतलाता है।

आदर्शवाद ने उपरोक्त तथ्य को कैसे सिद्ध किया है? आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य हमारी नैतिक मनोवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम है। जिस प्रकार हमे शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भोजन, वस्त्र आदि चाहिएँ और उनको उत्पादित करने वाले समुदाय चाहिएँ, ठीक उसी प्रकार हमे अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए राज्य और उसकी व्यवस्थाएँ (नियम आदि) चाहिएँ। उसके बिना विकास सम्भव नही। अत: राज्य कृत्रिम अथवा मनुष्य द्वारा निर्मित संस्था नही है, अपितु यह स्वाभाविक और मानव जीवन का अवश्यम्भावी परिणाम है, तभी तो अरस्तू कहता है कि "मनुष्य राजनीतिक प्राणी है।" राज्य मे रहकर ही हम परम मंगल को प्राप्त करते हैं और अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकते हैं।

आदर्शवाद का इतिहास

आदर्शवाद की परम्परा काफी प्राचीन है। एक राजनीतिक विचारधारा के रूप मे आदर्शवादी मान्यताओं का उल्लेख ईसापूर्व प्लेटो के विचारों मे मिलता है। उसने राज्य की उत्पत्ति और विकास को कृत्रिम न मानकर स्वाभाविक और प्राकृ-

तिक माना। उसने स्पष्टतः कहा कि राज्य किसी पत्थर अथवा लकड़ी से उत्पन्न नहीं हुआ, अपितु वह मनुष्य के मस्तिष्क की उपज है। राज्य आत्मा का ही बाह्य प्रकट रूप है। जिस प्रकार आत्मा के तीन मुख्य तत्त्व होते हैं, यथा बुद्धि, साहस, क्षुधा, उस प्रकार राज्य मे भी तीन वर्ग होते हैं—शासक, सैनिक, उत्पादक। अतः प्लेटो कहता है कि राज्य आत्मा का ही बाह्य और बड़ा रूप है। प्लेटो के पश्चात् अरस्तू ने भी राज्य को प्राकृतिक संस्था माना, उसका भी विचार था कि राज्य का विकास हुआ है, निर्माण नही। उसने कहा कि राज्य की उत्पत्ति मानव जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुई है और उसका अस्तित्व जीवन को अच्छा बनाने के लिए बना हुआ है। पहिले व्यक्ति अकेला, फिर परिवार, परिवार का विस्तार होकर ग्राम, और अनेक ग्रामो से मिलकर राज्य, यह विकास क्रम है अर्थात् राज्य का विकास मानव-प्रकृति के विकास के साथ हुआ।

प्लेटो और अरस्तू के पश्चात् सत्रहवी शताब्दी तक आदर्शवाद की कोई परम्परा देखने को नही मिलती। पुनर्जागरण के समय मे टॉमस मूर (Thomas Moore) की पुस्तक यूटोपिया *(Utopia)* मे अवश्य पुनः आदर्शवादी विचार उभरे, अत यदि मूर को छोड़ दिया जाय तो शताब्दियों तक आदर्शवाद की परम्परा मे कोई उल्लेखनीय प्रगति नही हुई। वस्तुतः मध्ययुग का समय चर्च और राज्य के बीच संघर्ष का युग रहा, अतः उस समय की परिस्थितियाँ आदर्शवादी चिन्तन के अनुकूल नही थी।

उन्नीसवी सदी के मध्य मे पुनः ऐसी प्रवृत्तियाँ उभरी जो आदर्शवादी थी। मेकगवर्न (McGovern) का विचार है कि जब उदारवाद अपने सामने प्रस्तुत प्रत्येक वस्तु को प्रभावित कर रहा था, उस समय राजनीति दर्शन के एक नवीन स्कूल के रूप मे आदर्शवाद उदित हो रहा था।[1]

वर्तमान युग मे आदर्शवाद के उदय के कारण को बतलाते हुये वेपर (Wayper) का कहना है कि अठारहवी सदी के अन्त और उन्नीसवी सदी मे लोग राज्य सम्बन्धी यान्त्रिक अवधारणा से ऊब चुके थे।[2] आधुनिक युग मे आदर्शवाद की विचारधारा का पुनरुत्थान रूसो (Rousseau) के विचारो से हुआ। रूसो का सामान्य इच्छा (General will) का सिद्धान्त आधुनिक आदर्शवाद की आधार-शिला बना। उसका निर्णायक प्रभाव आगे के आदर्शवादियो पर पड़ा। न केवल जर्मन

[1] And yet at the very time when liberalism seemed to be sweeping everything before it, there was arising a new school of political philosophy, the so called Idealist school, which aimed, very adroitly, at undermining the whole framework of the liberal creed —McGovern, *From Luther to Hitler*.

[2] 'Towards the end of the 18th and increasingly throughout the 19th century men became dissatisfied with the theory which regarded the state as a machine.' —Wayper, *Political Thought*, p. 130.

आदर्शवादी, अपितु ब्रिटेन के विचारकों को भी उसने काफी प्रभावित किया तथा आदर्शवाद की परम्परा को शक्तिशाली बनाया।

रूसो के पश्चात् आधुनिक आदर्शवाद दो भागों में बँट गया, एक जर्मन आदर्शवाद, दूसरा ब्रिटिश आदर्शवाद। जर्मनी मे आदर्शवाद को कान्ट (Kant, 1724–1804), फिक्टे (Fichte, 1762–1814) और हेगेल (Hegel, 1770–1831) ने बड़े पाण्डित्यपूर्ण ढग से विकसित किया और सर्वोच्च स्थिति तक पहुँचाया। ब्रिटेन मे इसे एक वर्ग ने आगे बढ़ाया तथा अपनाया जिसे 'आक्सफोर्ड स्कूल' का वर्ग कहा गया, इसमें ग्रीन (Green, 1836–1882), ब्रेडले (Bradley, 1846–1924) तथा बोसांके (Bosanquet, 1848–1923) प्रमुख थे।

इमेनुअल कान्ट (Immanual Kant, 1724–1804)

जर्मन आदर्शवाद का प्रारम्भ कान्ट से हुआ है। वह कोनिग्सबर्ग विश्वविद्यालय (Koenigsberg University) मे तर्कशास्त्र और दर्शनशास्त्र का प्राध्यापक था। उसके विचारों पर रूसो और मॉन्टेस्क्यू का गम्भीर प्रभाव पड़ा। डनिंग (Dunning) का कहना है कि "राज्य के उद्भव और रूप के सम्बन्ध मे कान्ट का सिद्धान्त ठीक वही है जो रूसो का था, और उसे उसने अपनी भाषा मे स्वयं की तर्कनीति के साथ व्यक्त किया है। इसी प्रकार सरकार का विवेचन करने मे वह मॉन्टेस्क्यू का अनुसरण करता है।"[3] कॉन्ट के विचार अनेक पुस्तकों मे मिलते हैं पर उसकी दो पुस्तकें काफी प्रसिद्ध हैं :

(i) Critique of Pure Reason (1781)

इसमे तत्वज्ञान और बौद्धिक सवितशास्त्र की विवेचना है।

(ii) Critiques of Practical Reason (1788)

इसमे नीति-शास्त्र की मीमासा है।

कान्ट के पूर्व कुछ भिन्न प्रकार की दार्शनिक मान्यताएँ स्थापित हो रही थी। धर्म के प्रति अविश्वास तो जन्म ले ही रहा था, साथ ही ह्यूम का संशोधनवाद विचार-जगत् मे काफी प्रभावशील था। ह्यूम का मत था कि सभी प्रकार का ज्ञान हम इन्द्रियजन्य अनुभव द्वारा प्राप्त करते हैं। इन्द्रियाँ हमारे ज्ञान का स्रोत हैं। पर इन्द्रियजन्य ज्ञान से नित्य सत्य का पता नही चलता, वह ज्ञान संशयात्मक होता है, कारण अनुभव से जो ज्ञान हमे प्राप्त होता है उससे केवल सम्भावनाओं का ही पता चलता है।

[3] "His doctrine as to the origin and nature of the state is merely Rousseau's, put into the garb of Kantian terminology and logic, his analysis of government follows Montesquieu in like manner"

Dunning, *A History of Political Theories From Rousseau to Spencer*, p 131.

कान्ट ने ह्यूम के इस सिद्धान्त को गलत ठहराया। उसने कहा कि हमें ज्ञान बुद्धि के द्वारा प्राप्त होता है, केवल इन्द्रियों के द्वारा नही। बुद्धिहीन व्यक्ति केवल इन्द्रियो से ठीक ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। जिस ज्ञान को हम इन्द्रियो से प्राप्त करते हैं उसे बुद्धि के द्वारा सुव्यवस्थित किया जाता है, उसके बाद ही हम कुछ समझ पाते हैं।

कान्ट का विचार है कि बुद्धि के दो पक्ष होते हैं—एक शुद्ध बुद्धि (Pure reason) और दूसरा व्यावहारिक बुद्धि (Practical reason)। शुद्ध बुद्धि दृश्य जगत् (Phenomenal world) का निश्चयात्मक ज्ञान कराती है, पर यह बुद्धि देश-काल तथा कार्य-कारण (Causation) की सीमाओ से सीमित होती है। अतः शुद्ध बुद्धि के द्वारा जो भी हम सोचते-समझते हैं वह भी देश-काल, कार्य-कारण की सीमाओ के भीतर ही होता है। इससे हमे दृश्य जगत का ही निश्चयात्मक ज्ञान हो पाता है। शुद्ध बुद्धि मे इससे आगे सोचने की सामर्थ्य नही है। अतः जो दृश्य जगत् से आगे है तथा जो इसके मूल मे है उसका पता हमें शुद्ध बुद्धि से नही हो पाता। दूसरे शब्दों मे आत्मा, परमात्मा अथवा जगत् का वास्तविक स्वरूप क्या है इसका उत्तर शुद्ध बुद्धि नही दे पाती। तब प्रश्न यह है कि इसका उत्तर कौन देगा ? कान्ट के अनुसार इसका उत्तर व्यावहारिक बुद्धि (Practical reason) देती है। व्यावहारिक बुद्धि का दूसरा नाम इच्छा शक्ति (Will) है।

व्यावहारिक बुद्धि से हमें क्या मिलता है ? दृश्य जगत् के मूल मे क्या है यह तो व्यावहारिक बुद्धि हमे बतलाती ही है, पर साथ ही वह हमे कर्त्तव्य-पालन के लिए भी प्रेरित करती है। इस प्रकार निरपवाद कर्त्तव्यादेश (Categorical imperative of duty) व्यावहारिक बुद्धि का मौलिक नियम है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हमें सभी प्रकार के कार्य लाभ-हानि अथवा उपयोगिता के विचार के आधार पर नही करने चाहिएँ अपितु कर्त्तव्य की भावना से करने चाहिएँ। हमें कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य करना चाहिए, चाहे उसके परिणाम कुछ भी क्यो न हो। पर यहीं कान्ट का दूसरा विचार प्रारम्भ होता है। कान्ट का कहना है कि 'इच्छाशक्ति' (Freedom of will) हो, तभी हम कर्त्तव्य-बुद्धि के अनुसार कार्य कर सकते हैं अन्यथा नही। इसका कारण यह है कि हमारी कर्त्तव्य-बुद्धि स्वतन्त्रता के वातावरण मे ही हमारा सही और सत्य मार्गदर्शन कर सकती है। मनुष्य मे उसी समय सही कार्य करने का विचार आ सकता है जब कि वह स्वतन्त्र हो। कारण, पराधीनता की स्थिति मे उस पर उचित-अनुचित के उत्तरदायित्व का भार नही सौंपा जा सकता।

प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रता चाहता है। स्वतन्त्रता मनुष्य को आवश्यक भी है। पर प्रत्येक की स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता के साथ जुडी हुई है, ऐसी स्थिति मे यह आवश्यक है कि समाज मे रहने वाले मनुष्यों मे परस्पर संघर्ष न हो। कारण, संघर्ष होने पर स्वतन्त्रता की स्थिति समाप्त हो सकती है। अतः समाज में सभी के बीच सामञ्जस्य और तालमेल बना रहे इसलिए राज्य की आवश्यकता है। अतः राज्य

व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित करने के लिए नही पर उसे अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए है। इस रूप में राज्य हमारे नैतिक जीवन के लिए परम आवश्यक है। राज्य एक आवश्यक बुराई नही है जैसा कि व्यक्तिवादी कहते हैं, इसके विपरीत राज्य *अनिवार्य और श्रेष्ठ संस्था है।* *और फिर क्योंकि वह स्वतन्त्रता का पोषक है तथा* स्वतन्त्रता नैतिकता के लिए आवश्यक है, अतः राज्य एक नैतिक सस्था है। पर इतना होने पर भी वह साध्य नही है अपितु श्रेष्ठ नैतिक जीवन का साधन है। व्यक्ति क्योकि राज्य मे रहकर अपनी आत्मा का विकास करता है अत. राज्य आत्म-विकास का साधन है।

इस प्रकार कान्ट ने *एक सशक्त धारणा को स्थापित* किया जो *राज्य* को नैतिक और अनिवार्य तो मानती है पर उसके सावयवी रूप (Organic Nature) को अस्वीकार करती है। कान्ट व्यक्ति के स्वतन्त्रता के विचार को भी अक्षुण्ण रखता है, उसके राज्य का श्रेष्ठ और नैतिक रूप स्वतन्त्रता के विरुद्ध नही जाता, उल्टे वह आत्मोन्नति का श्रेष्ठ साधन बन जाता है।

कान्ट *ऐतिहासिक तथ्य के रूप मे तो नहीं अपितु दार्शनिक विचार के रूप मे* राज्य के संविद सिद्धान्त को स्वीकार करता है। उसका विचार है कि मनुष्यो ने सभी लोगो की स्वतन्त्रता की रक्षा के विचार से राज्य की स्थापना की। वह यह भी मानता था कि विधि-निर्माण की सर्वोच्च शक्ति जनता मे निहित है, सामान्य इच्छा कानून का स्रोत है।

कान्ट ने राज्य की तीन शक्तियाँ बतलायी हैं—प्रभुत्व-सम्पन्न विधान-मण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका। कान्ट विधान-मण्डल और कार्यपालिका की पृथकता को स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक मानता था।

कान्ट ने राज्य के तीन रूप माने हैं—राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और जनतन्त्र। पर वह मानता था कि सरकार केवल दो प्रकार की होती है—गणतन्त्रात्मक (Republican) जब *कि विधान-मण्डल और कार्यपालिका पृथक्-पृथक् हों,* और तानाशाही (Despotic) जहाँ विधान-मण्डल और कार्यपालिका पृथक् न हों।

जहाँ तक राज्य के कार्यक्षेत्र का प्रश्न है कान्ट आदर्शवादी विचारक होने के बाद भी राज्य के कार्य-क्षेत्र को सीमित करने का समर्थक था, उसने व्यक्तिगत सम्पत्ति के आधार को स्वीकार किया है। इसी प्रकार वह व्यक्ति के अधिकारों को स्वीकार करता है पर वह उन्हें उनके अनुरूप कर्त्तव्यों से युक्त कर देता है।

फिक्टे (Fichte, 1762–1814)

जोहान गोटीलेब फिक्टे (Johann Gotilab Fichte) जिना विश्वविद्यालय (*Jena University*) और *बर्लिन विश्वविद्यालय मे दर्शनशास्त्र का अध्यापक था।*

फिक्टे ने स्वतन्त्रता के दो पहलू बतलाये—पहिला आन्तरिक, दूसरा बाह्य। आन्तरिक स्वतन्त्रता द्वारा व्यक्ति निजी प्रेरणाओं से मुक्त होता है तथा स्वच्छ विवेक

के अनुसार कार्य करता है, बाह्य स्वतन्त्रता का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के कार्यों में अन्य किसी व्यक्ति का हस्तक्षेप नही होता। फिक्टे आन्तरिक स्वतन्त्रता को सच्ची स्वतन्त्रता मानता है।

फिक्टे प्राकृतिक अधिकारो की धारणा को स्वीकार नही करता, वह राज्य की उत्पत्ति को मनुष्य की प्रकृति मे ही निहित मानता है। उसने तीन प्रकार के अनुबन्ध बतलाये हैं यथा सम्पत्ति अनुबन्ध, सुरक्षा अनुबन्ध और संघ अनुबन्ध। सम्पत्ति अनुबन्ध का तात्पर्य है 'सीमित क्षेत्र में स्वतन्त्र कार्य करने का अधिकार'। सुरक्षा अनुबन्ध द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अन्यो की सम्पत्ति के सरक्षण का वचन देता है बशर्ते अन्य भी ऐसा ही करें। सघ अनुबन्ध के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ सघ मे रहने की अपनी स्वीकृति देता है।

राज्य के कार्य के सम्बन्ध मे फिक्टे का दृष्टिकोण यह था कि राज्य का कार्य व्यक्ति की सम्पत्ति की रक्षा करना तथा व्यक्ति को जो कुछ भी उसका है उसे देना है। वह 'निर्बन्ध व्यापार' का विरोधी था। उसने विश्वसघ के निर्माण का भी विचार किया था।

फिक्टे के विचारों मे बाद में परिवर्तन हुआ। वह उग्र राष्ट्रवाद का समर्थक बन गया और इस प्रकार उसने अपने पूर्व के विचारों मे गम्भीर परिवर्तन किये।

हीगल (Hegel, 1770–1831)

जार्ज विल्हैम फैड्रिक हीगल (George Wilhelm Friedrich Hegel) आदर्शवाद का प्रमुख और प्रसिद्धतम विचारक है। उसके दार्शनिक विचारो में आदर्शवादी सिद्धान्त अपनी सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त हुए। वह एक विचारक था जिसके दार्शनिक विचारो का और जिसकी मान्यताओ का प्रभाव उसके बाद के विभिन्न विचारो वाले अधिकाश विचारको और दार्शनिको पर पडा।

हीगल जर्मनी के एकीकरण के विचार से प्रभावित हुआ, और उस समय की वास्तविक समस्या—एक सुदृढ और शक्तिशाली राज्य की स्थापना—के हल के लिए उसने एक सशक्त और मौलिक दर्शन का निर्माण किया। उसने इतिहास का नये ढंग से अध्ययन किया और मानव इतिहास मे पहिली बार सार्वभौमिक दार्शनिकता की उपयुक्त व्याख्या की। उसकी सबसे बडी व्यक्तिगत विशेषता यह थी कि वह सर्वाधिक आत्मविश्वासी दार्शनिक था। राजनीति विज्ञान को उसकी सबसे बड़ी देन है द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectic Method) और राज्य का आदर्शवादी विचार (Idealisation)। सेबाइन का यह कथन सत्य है कि "हीगल के दर्शन का आधार एक नया तर्क था और उसने एक नयी बौद्धिक पद्धति को प्रतिष्ठित किया।[4]

[4] जार्ज एच० सेबाइन, राजनीति-दर्शन का इतिहास, भाग 2, पृ० 583।

हीगल दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर था। वह जीनर, हीडलवर्ग और बर्लिन विश्वविद्यालयों मे अध्यापक रहा। जब वह युवक था तब फ्रास की रक्तक्रान्ति हुई थी जिसका उसने 'शानदार बौद्धिक उषाकाल' कहकर स्वागत किया। उसने ईसा का जीवन-चरित्र लिखा पर यह माना कि ईसाई धर्म एक आध्यात्मिक त्रुटि है। वह ग्रीक दार्शनिको से प्रभावित था। हीगल के दर्शन का अध्ययन श्लाघनीय है। उसके विचार दुरूह और भाषा क्लिष्ट है, उसकी तार्किक शैली रूखी है तथा उसके निष्कर्ष पर्याप्त गूढ हैं, तभी तो वह विचारकों के लिए भी समझने मे सरल और सुगम्य नही है, सामान्य व्यक्ति का तो कहना ही क्या। कहते हैं कि स्वय हीगल ने एक शिकायत की थी कि उसके दर्शन को केवल एक ही व्यक्ति समझ सका है और उस व्यक्ति ने भी उसे गलत समझा था। ऐसी ट्रेजेडी अन्य किसी दार्शनिक के साथ कदाचित् ही कभी हुई हो। पर जो भी हो, हीगल उन भाग्यवान् विचारकों मे से अवश्य था जो अपने जीवन मे ही यश और ख्याति अर्जित कर सके। 61 वर्ष की अवस्था मे 'दार्शनिको के सम्राट्' हीगल की मृत्यु हुई और उसका शव फिक्टे की कब्र के निकट दफना दिया गया।

हीगल का आदर्शवाद कान्ट से भिन्न था। कान्ट का आदर्शवाद आत्मगत आदर्शवाद (Subjective Idealism) था, हीगल का आदर्शवाद वस्तुगत आदर्शवाद (Objective Idealism) था। इसके अनुसार मनुष्य का मस्तिष्क और वस्तु दोनो ही सर्वव्यापक विचारतत्त्व (Universal Idea or Universal Mind) के प्रतिबिम्ब हैं, तथा उसी से सञ्चालित हैं। हीगल मानता था कि सम्पूर्ण जगत् के मूल मे विश्वात्मा (Universal Spirit or Reason) है। हीगल ने इसे जीस्ट (Geist) कहा है। यह विश्व उसी की लीला का फल अथवा परिणाम है। उसी का विकास यह विश्व है और अन्त मे यह सङ्कुचित होकर उसी मे लीन होने को है। पर यह कैसे ? इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है, जैसे मकडी अपना जाला बनाती है ; इस जाले को मकड़ी अपने अन्दर से ही विकसित करती है और उसका विस्तार करती है, पर दूसरी बार मे ही मकडी उस समूचे जाले को अपने मे पुन. समाहित कर लेती है। जाला बुनती मकडी को जरा भी स्पर्श कीजिए, वह पूरे जाले को वापिस अपने मे ले लेगी। बस ऐसा ही कुछ विश्वात्मा के साथ है, वह भी अपनी *अन्तर्प्रेरणा से अनेक रूपों और वर्गों मे विकसित और व्यक्त होती है और अन्त मे* पुन: अपने मूल और वास्तविक रूप मे आ जाती है। हीगल कहता है कि "विश्वात्मा सदैव सक्रिय रहती है ; ससार का इतिहास विश्वात्मा की यात्रा है, जो विश्वात्मा से प्रारम्भ होता है और विश्वात्मा की ओर होता है।"[5] वाहन का कहना है कि "वस्तुत: विश्वात्मा स्वय को प्राप्त करने के लिए ऐसे जगत् का निर्माण करती है जिसे वह स्वयं नष्ट भी कर देती है। यह लगातार उन बाधाओं को नष्ट करता है,

[5] "The history of the world is the journey of Self, from the Self, towards the Self" —Hegel.

जिन्हे स्वयं अपनी शक्तियों को प्राप्त करने के संघर्ष मे विश्वात्मा स्वयं व्यवस्थित करती है।[6]

विश्वात्मा के विकास के अनेक सोपान हैं। इनमे से कुछ आन्तरिक अथवा विचार-जगत् के (Subjective) हैं, और कुछ बाह्य अथवा दृश्य-जगत् के (Objective) हैं। विश्वात्मा के इस विकास मे जीवात्मा विकसित हुई है, पर वह क्योंकि विश्वात्मा से हल्के स्तर की है अत उसका भी उत्तरोत्तर विकास विश्वात्मा की ओर हो रहा है। जीवात्मा का भी विकास आन्तरिक और बाह्य दिशाओं मे हो रहा है, विभिन्न सामाजिक सस्थाएँ जीवात्मा के बाह्य विकास का परिणाम हैं। इनमे राज्य सर्वोच्च और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, अत हीगल उसे विश्वात्मा का पार्थिव स्वरूप (State is a march of God on earth) कहता है।

द्वन्द्वात्मकवाद

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि विश्वात्मा विकसित कैसे होती है? हीगल का इसके सम्बन्ध मे एक निश्चित मत है। वह कहता है कि मानव सभ्यता का विकास कभी भी एक सरल और सीधे प्रकार से नही हुआ है, अपितु उसका विकास टेढी-मेढी स्थिति मे से होकर हुआ है। उसके अनुसार, "मानव-सभ्यता की प्रगति एक सीधी रेखा के रूप मे नही हुई है। इसकी प्रगति लगभग बवण्डर के झकोरे खाते हुए जहाज के समान हुई है।"[7] हीगल विकास की इस प्रक्रिया को द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया (Dialectic Method) कहता है। इस प्रक्रिया मे प्रत्येक सोपान वाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis) और सवाद (Synthesis) की त्रयी से बना है। अर्थात् पहिले किसी वस्तु का एक मौलिक रूप होता है, यही वाद (Thesis) है। इसमे स्वय मे अन्त.विरोध होता है, अतः कालान्तर में इसका विकसित रूप इसके मूल रूप से भिन्न हो जाता है, और इसमे विपरीत तत्त्व प्रगट हो जाते हैं, यही प्रतिवाद (Antithesis) है। इसके पश्चात् इन दोनों प्रकार के विपरीत तत्त्वो का मेल तथा सघर्ष होता है, इससे एक तीसरी परन्तु नवीन चीज सामने आती है, यही सवाद (Synthesis) है। यह दोनों के आगे की तथा विकसित स्थिति है। पर महत्त्व-पूर्ण तथ्य यह है कि यह सवाद अगले विकास के लिए वाद बन जाता है और पुनः वाद, प्रतिवाद और सवाद की क्रिया प्रारम्भ होने लगती है। यही विकास का क्रम है। उदाहरण के रूप मे गेहूँ के दाने का उदाहरण लिया जा सकता है। गेहूँ के बीज

[6] "It is rediscovery of reason by herself in a world which she has supposed herself to have banished. It is the continuous overthrow of barriers which in the struggle to unfold her own energies, she had herself originally set up"
—Vaughan.

[7] "The progress of human civilisation has not been in a positive straight line. It was zig-zig sort of movement like a ship tacking against an unfavourable wind."
—Hegel

की पहिली स्थिति यह है कि उसे बोने पर भूमि की उष्णता और पानी के कारण वह गल जाता है, उसका अस्तित्व मिट्टी मे मिल जाता है, यह वाद है। इसके बाद बीज भूमि को फोड़कर अकुरित होता है और वह बढता है, फूलता है, तथा फलता है तथा उसमें गेहूँ के दाने आ जाते हैं, यह प्रतिवाद है। वाद मे वह सूख जाता है और एक के स्थान पर उसमे अनेक गेहूँ के दाने आ जाते हैं, यह सवाद अर्थात् अगला विकास है। पर विकास-क्रम यही नही रुकता। गेहूँ के इन दानो को पुनः बोया जा सकता है, और वे अगले विकास के लिए वाद मे परिवर्तित हो जाते हैं। अर्थात् संवाद अगले विकास के लिए वाद बन जाता है। यही विकास-क्रम है।

द्वन्द्वात्मक विकास-क्रम सम्बन्धी विचार में एक तथ्य महत्त्व का है और वह यह है कि विकास का पूरा वर्णन और विचार मनुष्य ने अपनी बुद्धि से किया है, बुद्धि ने उसे जैसा पाया या समझा अथवा बुद्धि को जैसा भी आभासित हुआ वैसा ही व्यक्त कर दिया। क्योकि मनुष्य की बुद्धि सीमित है अतः वह पूर्ण सत्य है ऐसी बात नही है। हुआ यह है कि मानव बुद्धि को सत्य का जैसा आभास हुआ है उसने वैसा ही उसे व्यक्त किया है। मानव जाति के विकास के सम्बन्ध मे यदि सोचे तो सहज रूप से यह लगता है कि पहिले मनुष्य जीवन के अन्दर कोई नियम, व्यवस्थाएँ आदि नही थी, उसका जीवन नियमविहीन, उच्छृङ्खल था। ऐसी स्थिति मे काफी समय बाद यह सोचा गया कि कुछ नियम तो चाहिए ही; उच्छृङ्खल और अस्थिर जीवन को समाप्त करने के लिए और व्यवस्थित जीवन के लिए कुछ नियम चाहिएँ। अतः कुछ नियम बने, जैसे सत्य बोलो, सद्व्यवहार करो. अमुक प्रकार रहो, अमुक प्रकार चलो, आदि (यह वाद हुआ)। पर इन नियमो मे सत्य पूरा तो था नही, अतः कुछ समय के पश्चात् इनमे कमी दीखने लगी, जैसे सदैव और प्रत्येक परिस्थिति मे सत्य बोलने से काम नही चलता। चोर को यह बता दें कि धन कहाँ रखा है तो वह ठीक नही। ऐसे समय मे स्थिति अत्यन्त कठिन और जटिल हो जाती है। यदि सत्य बोलते हैं तब तो चोर धन ले जावेगा और असत्य कथन नियम का उल्लंघन है। अतः ऐसी स्थिति मे नियमों की आलोचना की जाने लगी तथा नियम निरर्थक और अनुपयोगी लगने लगे। फलतः लोग सोचने लगे कि नियम सब बेकार हैं और जैसा ठीक लगे वैसा करना चाहिए। यह पहिली व्यवस्था के विपरीत था (यह प्रतिवाद हुआ)। पर यह भी पूर्ण सत्य तो था नही कारण इसकी भी कुछ कमजोरियाँ थी, उनसे सामाजिक जीवन ही नष्ट होने लगा, लोग मनमानी करने लगे, उच्छृङ्खलता फैलने लगी, अनेक असामाजिक कार्य किये जाने लगे, अतः इस व्यवस्था की भी आलोचना की जाने लगी। व्यक्तियो के मन मे यह भाव तो आया कि नियम तो होने चाहिएँ पर उनका अक्षरशः पालन करने की अपेक्षा नियमों की भावना की रक्षा होनी चाहिए तथा इस प्रकार उनका पालन होना चाहिए (यह सवाद हुआ)। इस सवाद मे वाद और प्रतिवाद दोनो के ही जो सत्यांश हैं उनका योग है, अतः यह दोनों से उच्चतर और श्रेष्ठ है

द्वन्द्वात्मक पद्धति से सामाजिक संस्थाओं का भी विकास हुआ है। राज्य का प्रादुर्भाव वस्तुगत आत्मा (वाह्यात्मा—Objective Spirit) की विकास-शृङ्खला में हुआ। बाह्यात्मा का यह अर्थ है कि आत्मा (Spirit) मानसिक अथवा आन्तरिक जगत् से बाहर निकलकर वाह्य संसार की संस्थाओं और नियमों आदि में प्रगट होती है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि यह बाह्य जगत्, प्रकृति वाला जगत् न होकर आत्मा द्वारा स्वय-निर्मित संस्थाओं तथा नियमों वाला जगत् है। राज्य मानव के सामाजिक विकास की अन्तिम अवस्था है।

राज्य कैसे आया ?

सामाजिक सस्थाओ मे परिवार सर्वप्रथम है। इसका आधार प्रेम तथा आत्मत्याग है। परिवार के सदस्यों के हित परस्पर विरोधी नही होते। सभी व्यक्ति अपनी सामर्थ्यानुसार परिश्रम करते हैं, धन अर्जित करते है और वस्तुओ का उपयोग करते हैं (यह वाद है)। पर परिवार मे ही किसी व्यक्ति के कार्यों की इतिश्री नही हो जाती। व्यक्ति की शक्तियो का विकास केवल परिवार मे ही सम्भव नही। परिवार के बाद समाज आता है, इसकी व्यवस्थायें परिवार से बिल्कुल भिन्न हैं। यहाँ व्यक्ति-सघर्ष और स्पर्धा है, मेरे-तेरे का भाव है। व्यक्ति अपने विकास के लिए दूसरे की चिन्ता नही करता, एक-दूसरे को दबा कर आगे बढना चाहता है (यह प्रतिवाद है)। समाज की ये व्यवस्थायें सघर्ष और वैमनस्य को जन्म देती हैं। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति का विकास रुकता है, अतः इन दोनों से उच्चतर और श्रेष्ठ एक तीसरी चीज का विकास होता है, वह राज्य है (यह सवाद है)। राज्य स्वभावतः और अनिवार्यतः दोनो से अधिक विकसित है तथा वह दोनो मे सन्तुलन बनाये रखता है। राज्य मे व्यक्तियो के लिए पारस्परिक प्रतियोगिता की स्वतन्त्रता तो है पर उसके परिणामो के अधिक गम्भीर और अनुचित होने की सम्भावना नही है। इसके रहते हुए प्रतियोगिता अथवा सघर्ष सृजनात्मक है। राज्य व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता देता है पर वह कमजोर और असहायो की रक्षा भी करता है। इसमे व्यक्ति अपने हितो का सम्पादन करते हैं, पर राज्य सामाजिक हित का भी विचार करता है। इस प्रकार इसमें परिवार और समाज दोनो ही के सत्यांश समाविष्ट हैं। यह एक उच्चतर और पूर्ण स्थिति है।

सरकार के प्रकार

हीगल का विचार है कि राज्य अपने को सविधान, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और विश्व-इतिहास की त्रयी में प्रकाशित करता है। हीगल ने द्वन्द्वात्मक पद्धति का प्रयोग सरकार के रूप के निर्धारण मे भी किया है। निरंकुश तन्त्र (Despotism) वाद, प्रजातन्त्र (Democracy) प्रतिवाद और इन दोनो के द्वन्द्व और सत्यांशो से मिलकर सवैधानिक राजतन्त्र (Constitutional Monarchy) सवाद है; यह दोनो से अधिक विकसित और पूर्ण स्थिति है।

हीगल प्रजातन्त्र का समर्थक नही था, उसका मताधिकार या बहुमत शासन मे विश्वास नही था। उसका विश्वास था कि शासन तो कोई एक व्यक्ति ही भली प्रकार कर सकता है।

व्यक्ति और राज्य

हीगल राज्य और व्यक्ति के हितों मे विरोध को नही मानता। राज्य वाह्यात्मा का उच्चतम प्रकाशन है, अत. उसके व्यक्ति के हितों से विरोध का प्रश्न ही पैदा नही होता। उसका विचार था कि "इतिहास में राज्य ही व्यक्ति है और जीवन-चरित्र मे जो स्थान व्यक्ति का है, इतिहास मे वही स्थान राज्य का है।"[8] उसका विचार था कि राज्य मे ही स्वतन्त्रता सम्भव है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति और राज्य के बीच किसी विरोध का प्रश्न ही पैदा नही होता, व्यक्ति पूर्ण आत्मानुभूति राज्य के अग के रूप मे कर सकता है। हीगल का विचार है कि "राज्य आध्यात्मिक और भौतिक दोनो ही जगतो का प्रधान केन्द्र है।" इसका यह तात्पर्य हुआ कि व्यक्ति आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार के उत्कर्ष को राज्य मे ही प्राप्त करता है। राज्य व्यक्ति से श्रेष्ठ और उच्च है, वह स्वय मे साध्य है साधन नही, वह व्यक्ति के अधिकारों और स्वतन्त्रता का जनक है, अत उसका व्यक्ति पर पूरा अधिकार है। राज्य एक स्थायी और नैतिक सस्था है, अत. व्यक्ति को उसकी किसी भी व्यवस्था का उल्लघन करने का अधिकार नही है। जो भी अधिकार हैं राज्य द्वारा प्रदत्त हैं, वह इनको वापिस भी ले सकता है। अधिकारो सम्बन्धी हीगल के विचारों के प्रति सेबाइन का कथन ठीक ही है कि "जर्मनी की राजनीति मे ऐसी चीज बहुत कम थी जो जर्मनो को व्यक्तिगत अधिकारो के विचार के प्रति आकृष्ट करती।"[9] यही बात व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे है। राज्य में रहकर उसके नियमों और कानून का पालन करने मे ही पूर्ण स्वतन्त्रता है। व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य करे, यह स्वतन्त्रता नही है। वस्तुतः राज्य सम्बन्धी हीगल का दृष्टिकोण अतिवादी है। वह राज्य को 'पृथ्वी पर ईश्वर का आगमन' (March of God on Earth) कहता है।

अन्तर्राष्ट्रीयता एवं युद्ध

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रति भी हीगल के विचार पर्याप्त अतिवादी हैं। वह राज्य से बडा और अधिक किसी को मानता ही नही है। एक राज्य अन्य राज्यों से सम्बन्ध-निर्धारण मे पूर्ण स्वतन्त्र है। राज्य किन्ही सन्धियो के अधीन नही होते और न वे उनसे बंधे होते हैं। राज्यो के ऊपर कोई अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता नही होती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो का पालन राज्य के लिए अनिवार्य नही है। यदि राज्यो में परस्पर कोई सघर्ष होता है तो उसका उचित और अन्तिम

[8] "The state is to history what a given individual is to biography."
—Hegel

[9] सेबाइन, राजनीति-दर्शन का इतिहास, भाग 2, पृ० 610।

निर्धारण युद्ध मे होता है। युद्ध त्याज्य नही है, उसमे राज्य के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास होता है।

टॉमस हिल ग्रीन
(Thomas Hill Green, 1836–1882)

टॉमस हिल ग्रीन इंगलैण्ड का प्रतिनिधि आदर्शवादी विचारक है। वह एक पादरी का लडका था और बौद्धिक जगत् मे बेन्जामिन जोवेट (Benjamin Jowett) के सम्पर्क के कारण आया। वह ऑक्सफोर्ड में दर्शनशास्त्र (Moral Philosophy) का अध्यक्ष था। 'ऑक्सफोर्ड स्कूल' की जिस परम्परा ने आदर्शवाद के दर्शन को नवीन गति और दिशा दी, ग्रीन उस परम्परा का प्रथम विचारक और दार्शनिक था।

ग्रीन के चिन्तन पर विभिन्न विचारको का प्रभाव पडा। उसने राजनीति विज्ञान को प्लेटो और अरस्तू के समान आचारशास्त्र का एक अग माना। उसने ग्रीक दर्शन का अध्ययन किया और ग्रीक दार्शनिकों की इस मान्यता को स्वीकार किया कि राज्य स्वाभाविक और आवश्यक है। इसके साथ ही उसने जर्मनी के आदर्शवादी दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। वह कान्ट से प्रभावित था तथा उसने कुछ आवश्यक परिवर्तन के साथ कान्ट के दार्शनिक विचारो को नैतिक तथा राजनीतिक क्षेत्र मे अपनाया। उसकी यह धारणा कि "ब्रह्माण्ड एक एकल नित्य क्रिया है" हीगल के उस पर प्रभाव को स्पष्ट करती है। ग्रीन का सम्पूर्ण आध्यात्मिक चिन्तन उस पर हीगल के प्रभाव की स्पष्ट स्वीकृति है। रूसो के सामान्य इच्छा के सिद्धान्त को भी ग्रीन ने स्वीकार किया। वह यह मानता है कि राज्य 'सामान्य इच्छा' पर आधारित है, तथा वह (राज्य) सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है। इतना सब होने पर भी वह अपने देश के उदारवादी और व्यक्तिवादी प्रभाव से पूरी तरह अछूता नही रहा। स्वतन्त्रता (Freedom) और नैतिकता (Morality) के प्रति ग्रीन के प्रबल आकर्षण का प्रमुख कारण उस पर उदारवादियो के प्रभाव को माना जा सकता है।

ग्रीन के सम्मुख यह एक समस्या थी कि ग्रीक चिन्तन और जर्मन आदर्शवाद की परम्पराओं के साथ ब्रिटिश उदारवादी मान्यताओं और विश्वासों का मेल कैसे बिठाया जाय। इसके लिए उसने एक नये दर्शन को विकसित किया जिसे 'ऑक्सफोर्ड दर्शन' कहते हैं जिसमे आदर्शवाद और उदारवाद का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है।

ग्रीन का आध्यात्मिक सिद्धान्त

ग्रीन के आध्यात्मिक विचारों पर कान्ट का प्रभाव स्पष्ट है। वह यह मानता है कि आगमनात्मक पद्धति (Inductive Method) द्वारा नही अपितु विशुद्ध बुद्धि

(Pure reason) द्वारा अन्तिम अथवा परम सत्य को जाना जा सकता है। ग्रीन ने यह माना है कि आत्मा और विश्व में एक ही तत्त्व व्याप्त है; यह तत्त्व बुद्धिमय होता है, इसी कारण इसकी जानकारी हो पाती है। हमारे चारों ओर का ब्रह्माण्ड एक बुद्धिगम्य तथ्य है। इसका स्वरूप आध्यात्मिक है। ब्रह्माण्ड का ज्ञान बुद्धि के द्वारा हो सकता है।

परम बुद्धि (The supreme intelligence)—जो मानव बुद्धि के सदृश होती है—ससार की वस्तुओ के मध्य सम्बन्ध स्थापित करती है। इस विचार-सम्बन्ध को स्थापित करने वाली और उसे जीवित रखने वाली परम बुद्धि को ग्रीन ने शाश्वत चेतना (Eternal consciousness) कहा है। यह विश्वव्यापी और सर्व-समावेशक चेतना है। यह एकता और व्यवस्था को स्थापित करने वाला क्रमबद्ध सिद्धान्त है। इस शाश्वत चेतना मे प्रत्येक वस्तु का निवास है और प्रत्येक वस्तु इसकी ओर बढने का और इसमे समाविष्ट होने का निरन्तर प्रयत्न करती है। शाश्वत चेतना सम्बन्धी ग्रीन की धारणा का स्थायी और निर्णायक प्रभाव उसकी नैतिक मान्यताओ और राजनीतिक सिद्धान्तो पर पडा है।

ग्रीन का राजनीतिक दर्शन

राज्य की आवश्यकता

ग्रीन ने राज्य को अनिवार्य माना है। वह राज्य को नैतिक उद्देश्य से पूर्ण एक सस्था मानता है। राज्य की आवश्यकता एव उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उसने सविदावादियो की आलोचना की है। ग्रीन के राज्य सम्बन्धी विचारों को बार्कर (Barker) के इस प्रसिद्ध कथन से भली प्रकार समझा जा सकता है कि "मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है, स्वतन्त्रता मे अधिकार निहित हैं और अधिकारो के लिए राज्य आवश्यक है।"[10]

उपरोक्त कथन की कुछ व्याख्या आवश्यक है। मानव चेतना, जिसे मानव आत्मा भी कहा जाता है, स्वतन्त्रता चाहती है। पर क्यो ? इसलिए कि स्वतन्त्रता उसका धर्म है, स्वभाव है। यह स्वतन्त्रता दो प्रकार की होती है, यथा आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक स्वतन्त्रता अर्थात् अपनी इच्छाओं और मनोवृत्तियों पर विजय पाकर परमशुभ की प्राप्ति का विचार, यह नीतिशास्त्र का विषय है। बाह्य स्वतन्त्रता अर्थात् बाह्य जगत् की स्वतन्त्रता का तात्पर्य है ऐसी बाह्य परिस्थितियों का होना जिसमे प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रगति और वास्तविक हितो के लिए कार्य करने मे स्वतन्त्र हो, तथा उसके मार्ग मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो।

[10] "Human consciousness postulates liberty; liberty involves rights, rights demand the state" —Barker.

(इगलैण्ड का राजदर्शन 1848 से 1914 तक पृ० 23)

पर मान लीजिए किसी ने बाधाओं को उपस्थित कर दिया, तब क्या हो ? ऐसी स्थिति मे व्यक्ति अपने अधिकारों की माँग करता है, अर्थात् वह चाहता है कि उसे ऐसी परिस्थितियाँ मिलें जिससे वह अपने वास्तविक हितों का सम्पादन कर सके। इस रूप मे अधिकार व्यक्ति की वे शर्तें हैं जिनके अन्तर्गत वह स्वतन्त्रता की प्राप्ति करता है। पर यहाँ पुनः एक प्रश्न पैदा होता है। यदि समाज मे कोई व्यक्ति के अधिकारो को अस्वीकार करे और उनकी अवहेलना करे तो ? ऐसी स्थिति मे अधिकारो के सरक्षण का प्रश्न पैदा होता है। सरक्षण कोई सप्रभु अथवा सर्वोच्च संस्था ही दे सकती है। वह राज्य है। अर्थात् व्यक्ति के अधिकारो के सरक्षण के लिए राज्य आवश्यक है।

इस प्रकार ग्रीन के विचारो का प्रारम्भ मानव चेतना की स्वतन्त्रता से होता है और अन्त राज्य की अनिवार्यता को स्वीकार करने मे होता है। बार्कर के उपरोक्त कथन से प्रकट है कि ग्रीन के राजदर्शन की तीन बातें प्रमुख हैं—(अ) मानव चेतना स्वतन्त्रता चाहती है, (ब) स्वतन्त्रता के लिए अधिकार चाहिएँ ; और (स) अधिकारों के लिए राज्य आवश्यक है। इस क्रम मे यह तथ्य सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि राज्य एक आवश्यक और नैतिक सस्था है।

स्वतन्त्रता

ग्रीन की स्वतन्त्रता सम्बन्धी अवधारणा पर कान्ट का प्रभाव स्पष्ट है। कान्ट के अनुसार स्वतन्त्रता स्व-निमित सर्वमान्य कर्त्तव्यो का पालन करना है। नैतिक इच्छा ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण इच्छा है। स्वतन्त्रता का तात्पर्य इस नैतिक इच्छा की स्वतन्त्रता ही हो सकता है। स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे ग्रीन का यह प्रसिद्ध कथन है कि "स्वतन्त्रता का अभिप्राय उन कार्यों को करने तथा उपभोग करने की सकारात्मक शक्ति से है जो करने अथवा उपभोग करने चाहिएँ।"[11] ग्रीन के इस कथन से यह स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता हस्तक्षेप का अभाव मात्र नही है, ऐसा होने पर वह केवल नकारात्मक ही रहेगी। व्यक्तिवादियो की स्वतन्त्रता की धारणा ऐसी ही है। वह मनमानी करने की छूट भी नही है। यदि ऐसा है तब तो स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता हो जायेगी। ग्रीन के अनुसार स्वतन्त्रता करने योग्य कार्यों को ही करने की सुविधा है, अर्थात् वह सकारात्मक है। ये करने योग्य कार्य वे हैं जो हमारी आत्मोन्नति और मानव चेतना के विकास मे सहायक हो और विधिसम्मत हो। स्वतन्त्रता केवल शुभ इच्छा की ही स्वतन्त्रता हो सकती है। बार्कर का कहना है कि ग्रीन की स्वतन्त्रता के दो लक्षण हैं—प्रथम यह कि वह सकारात्मक है, और द्वितीय यह कि वह निश्चयात्मक है, अर्थात् यह निश्चित (उचित) कार्यों को ही करने की होती है, मन-

[11] Liberty is a passive power of capacity of doing or enjoying something worth doing or enjoying —Green

माने कार्यों को करने की नहीं होती। इस रूप में स्वतन्त्रता, आत्म-सन्तुष्टि की नहीं, आत्मोन्नति की सहायक है। स्वतन्त्रता का राज्य की सत्ता से कोई विरोध नहीं।

अधिकार

ग्रीन ने व्यक्ति के अधिकार के विचार को स्वीकार किया है। उसकी स्वतन्त्रता की भावना स्वयं अधिकारयुक्त है। ग्रीन अधिकारों को वे शर्तें मानता हैं जिनके द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है। इस रूप में अधिकार व्यक्ति के आन्तरिक विकास के लिए आवश्यक बाह्य परिस्थितियां हैं। इनका प्रारम्भ इस प्रकार होता है कि व्यक्ति एक नैतिक प्राणी के नाते, अपने विकास के लिए कुछ सुविधाओं की मांग करता है, साथ ही वह यह भी स्वीकार करता है कि ऐसी सुविधायें जो मुझे चाहिए अन्यो को भी आवश्यक हैं, तथा उनको भी ये सुविधाएँ उसी प्रकार प्राप्त होनी चाहिएं जैसे कि मुझे प्राप्त हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति की इन मांगों के पीछे समाज की स्वीकृति तैयार हो जाती है, कारण वे मांगें उचित और नैतिक होती हैं। ऐसी स्थिति में जब उनको समाज की स्वीकृति मिल जाती है तब वे मांगें अधिकार बन जाती हैं। इस प्रकार अधिकार के निर्माण में दो तत्त्व होते हैं—(अ) व्यक्ति की मांग अथवा शर्तें, और (ब) समाज द्वारा उस मांग की स्वीकृति। यदि इनमें से एक भी तत्त्व का अभाव है तब वह अधिकार नहीं हो सकता।

अधिकार की धारणा में सामाजिक स्वीकृति का विचार महत्त्वपूर्ण है। बिना सामाजिक स्वीकृति के अधिकारों का विचार ही नहीं किया जा सकता।

ग्रीन का विचार है कि ऐसे अधिकार जिन्हें समाज की नैतिक चेतना स्वीकार करती है, पर जिन्हें राज्य की स्वीकृति नहीं मिलती वे अधिकार प्राकृतिक अधिकार कहलाते हैं। वे अधिकार जिन्हें राज्य की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है अर्थात् जिन्हें कानून का संरक्षण मिल जाता है वे कानूनी अधिकार कहलाते हैं। यह सम्भव है कि प्राकृतिक अधिकार कानूनी अधिकारों में बदल जावें। पर कैसे ? इसका एक क्रम है। जो अधिकार आज प्राकृतिक अधिकार मात्र हैं, यदि कल उनको राज्य की स्वीकृति मिल जाय और कानून का संरक्षण मिल जाय तो वे ही अधिकार कानूनी अधिकारों में बदल जावेंगे।

प्राकृतिक अधिकार से ग्रीन का क्या तात्पर्य है, इसकी और व्याख्या आवश्यक है। प्राकृतिक अधिकार प्राकृतिक इस अर्थ में नहीं हैं कि वे मनुष्य को राज्य से पूर्व प्राकृतिक अवस्था में प्राप्त थे तथा जो राज्य से सर्वथा स्वतन्त्र हैं और राज्य जिनमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता, जैसा कि सामाजिक समझौते के विचारक मानते हैं। ग्रीन का यह अभिप्राय बिल्कुल नहीं है। उसका कहना है कि "प्राकृतिक अधिकार अर्थात् एक ऐसा अधिकार जो कि समाजहीन प्राकृतिक अवस्था में पाया जाना है,

शब्दों का परस्पर विरोध है।"[12] ग्रीन के मत मे प्राकृतिक अधिकार वे अधिकार हैं जो समाज की दृष्टि में व्यक्ति को प्राप्त होने चाहिएँ, अर्थात् ये वे अधिकार हैं जो व्यक्ति के आत्म-विकास के लिए आवश्यक है। इन अधिकारों में परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है। प्राकृतिक अधिकार नैतिक अधिकार (Moral right) हैं।

व्यक्तिगत-सम्पत्ति

प्रचलित रूप से यदि विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के सम्बन्ध मे ग्रीन के विचार न तो पूर्णतः व्यक्तिवादी हैं, और न पूर्णतः समाजवादी। ग्रीन ने एक अलग ही दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर विचार किया है। ग्रीन व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन इस आधार पर करता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति मनुष्य के विकास के लिए अनिवार्य है। सम्पत्ति व्यक्ति के स्वाधीन जीवन के अधिकार की उपसिद्धि (Corollary) है। पर ग्रीन किसी भी स्थिति मे अनियन्त्रित धन-सञ्चय की प्रवृत्ति को उचित नहीं मानता। उसने इस प्रवृत्ति की आलोचना की है। ग्रीन राज्य द्वारा जमींदारी प्रथा पर नियन्त्रण को आवश्यक मानता है।

राज्य का आधार

राज्य अति प्राचीन संस्था है। इसके सम्बन्ध मे यह एक स्वाभाविक प्रश्न है कि अन्ततः राज्य का आधार क्या है? अनेक ऐसे विचारक हैं, जो इस बात को स्वीकार करते हैं कि राज्य का आधार शक्ति है। ग्रीन इस बात को अस्वीकार करते हुए कहता है कि राज्य का आधार शक्ति नहीं अपितु इच्छा है। (Will and not force is the basis of the state)।

ग्रीन यह तो स्वीकार करता है कि समाज में अधिकार और कर्तव्य की सामान्य प्रणाली की रक्षा के लिए एक बन्धनकारी शक्ति आवश्यक है, परन्तु वह यह स्वीकार नहीं करता कि यह बन्धनकारी शक्ति ही राज्य का आधार है। शक्ति अधिकारों की रक्षा का साधन हो सकती है, पर वह उनको जन्म नहीं दे सकती। इसी प्रकार हो सकता है कि शक्ति राज्य के लिए आवश्यक हो, परन्तु यह राज्य का आधार अथवा उसका मूल तत्त्व नहीं हो सकती, जैसा कि कोकर का कथन है कि "सामान्य अधिकारों की सुरक्षा के लिए राज्य द्वारा शक्ति प्रयोग समुचित है, आवश्यक भी है, परन्तु राज्य की यह शक्ति ही सर्वोत्तम नहीं है। शक्ति अधिकारों को सुरक्षित रख सकती है परन्तु उन्हें जन्म नहीं दे सकती।" शक्ति उन नागरिकों को जिनमे नागरिक भावना का समुचित विकास नहीं हुआ होता और जो संख्या में काफी कम होते हैं, नियन्त्रित रखने के लिए आवश्यक हो सकती है, पर वह राज्य का

[12] Natural right, as right in a state of nature which is not a taste of society, is a contradiction in terms. —Green.

आधार नही हो सकती। जब राज्य नागरिकों के विश्वास को खो देता है, नागरिकों की सामान्य इच्छा जब राज्य के साथ नही रहती तब राज्य का अन्त निकट ही है।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न पैदा होता है। सामान्यतः प्रजातान्त्रिक राज्य में तो यह दीख सकता है कि राज्य का आधार सामान्य इच्छा है, पर क्या यह स्वीकार किया जाए कि निरंकुश और अत्याचारी राज्यो का भी आधार सामान्य इच्छा है ? ग्रीन का उत्तर स्पष्ट है। पहली बात तो यह है कि ऐसे राज्य, राज्य नही होते अपितु 'विकृत राज्य' होते हैं। और फिर जब तक ऐसा राज्य स्थापित है तब तक यह मानना ही पड़ेगा कि राज्य को सामान्य इच्छा का समर्थन प्राप्त है, फिर चाहे वह किसी भी रूप मे क्यो न हो।

ग्रीन राज्य मे सम्प्रभुता को स्वीकार करता है। सम्प्रभुता का राज्य मे निवास कहाँ है ? उसका उत्तर है कि 'सामान्य इच्छा' ही सम्प्रभु है। बाह्य रूप मे हमे सम्प्रभुता किसी व्यक्ति विशेष अथवा किसी सस्था विशेष में दिखलाई पडती हैं, जैसा कि ऑस्टिन का मत है। पर वैसे सम्प्रभुता का निवास 'सामान्य इच्छा' मे होता है। ग्रीन इन दोनो विचारो मे कोई विरोध नही देखता। राज्यो मे कोई व्यक्ति अथवा संस्था जिसमे सम्प्रभुता का निवास होता है, वह वास्तव में सामान्य इच्छा के अनुचर मात्र हैं। जैसे ही उन्हें सामान्य इच्छा का समर्थन समाप्त हो जाता है वैसे ही निश्चित मानव अधिकारियो की सत्ता समाप्त हो जाती है।

राज्य के कार्य

राज्य की प्रकृति, उसकी आवश्यकता और उसके आधार पर विचार करने के पश्चात् स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न पैदा होता है कि राज्य के कार्य क्या हैं ? ग्रीन का कहना है कि "राज्य का कार्य बाधाओ को बाधित करना है।" (To act as a hindrance to hindrances against good life.) इस एक वाक्य मे ग्रीन द्वारा प्रतिपादित राज्य के कार्यों की सम्पूर्ण प्रकृति आ जाती है। ये बाधाएँ क्या हैं, और राज्य उन्हे कैसे बाधित करे इसका सम्पूर्ण विचार इस प्रकार है।

यद्यपि राज्य का उद्देश्य मनुष्य के पूर्ण नैतिक विकास मे सहायता पहुँचाना है, तथापि ग्रीन के अनुसार राज्य मनुष्य को यह सहायता प्रत्यक्ष रूप से नही पहुँचा सकता। ग्रीन राज्य को यह अधिकार नही देता कि वह व्यक्तियों के नैतिक विकास के लिए किसी नियम अथवा कानून को बनाए और मनवाए। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। ग्रीन यह मानता है कि राज्य के द्वारा नैतिकता की प्रत्यक्ष उन्नति नही हो सकती। क्यो ? इसका भी एक कारण है। राज्य किसी भी कार्य को अन्तत. बल प्रयोग के द्वारा करवाता है पर नैतिकता की उन्नति बल-प्रयोग द्वारा नहीं हो सकती। नैतिकता का सम्बन्ध व्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणा से है। वह व्यक्ति नैतिक है जो किसी कार्य को कर्तव्य बुद्धि द्वारा सोचकर करता है। स्पष्ट है कि कोई बाह्य

शक्ति व्यक्ति को कर्तव्य बुद्धि से कार्य करने के लिए प्रेरित नही कर सकती। ऐसी स्थिति मे प्रगट है कि राज्य की अपनी सीमाएँ हैं।

इतना होने पर भी एक बात अवश्य है—राज्य एक कार्य कर सकता है—राज्य व्यक्ति के नैतिक जीवन के मार्ग की बाधाओं को दूर कर सकता है। उदाहरणार्थ निरक्षरता, क्षुधा, मद्यपान और अस्वास्थ्य व्यक्ति के नैतिक जीवन के मार्ग की बाधाएं हैं। राज्य इन बाधाओ को दूर करने के लिए प्रयत्न कर सकता है। विधि और दण्ड-व्यवस्था के द्वारा इन बाधाओं को दूर किया जा सकता है। इस क्रम मे राज्य उन परिस्थितियो और साधनों को जुटा सकता है जिनमे व्यक्ति नैतिक बन सके। कोकर के अनुसार "राज्य व्यक्ति को नैतिक कार्य करने के लिए प्रोत्साहित कर सकता है और दूसरों के आचरणो मे बलपूर्वक हस्तक्षेप कर, उसके आत्मविकास के मार्ग मे बाधाओं को हटा सकता है।"[13]

ग्रीन ने जो राज्य के कार्य बतलाए हैं उनमे एक बात प्रमुख है। देखने मे ग्रीन के उपरोक्त कार्य नकारात्मक प्रतीत होते हैं, तथापि वे पूर्णत: सकारात्मक हैं। स्पष्टत: ग्रीन ने राज्य को सीमित और मर्यादित कार्य दिये हैं। पर उसका राज्य इस कारण ही गरिमामय है।

राज्य के प्रतिरोध का अधिकार

ग्रीन एक आदर्शवादी विचारक था। एक आदर्शवादी विचारक व्यक्ति के राज्य के प्रतिरोध के अधिकार की बात सोचे और उसे स्वीकार करे यह सहज लगता नही। पर इस प्रश्न पर ग्रीन ने ब्रिटिश परम्परा से प्रभावित होकर विचार किया, उग्र जर्मन आदर्शवादी परम्परा से प्रभावित होकर नही। ग्रीन नागरिक के 'राज्य के प्रतिरोध' के अधिकार को स्वीकार करता है। उसका विचार है कि राज्य साधन है, साध्य नही है। राज्य नैतिक जीवन की प्राप्ति का साधन है। यदि राज्य इस उद्देश्य की पूर्ति नही कर सकता तो व्यक्ति भी उसके कानूनो को मानने के लिए बाध्य नही है। यदि राज्य की कोई विधि व्यक्ति की नैतिक इच्छा के प्रतिकूल है, तब व्यक्ति राज्य का प्रतिरोध कर सकता है।

पर राज्य का प्रतिरोध करने के अधिकार के उपयोग पर ग्रीन ने पर्याप्त प्रतिबन्ध लगाए है। ग्रीन के अनुसार राज्य का प्रतिरोध करने के पूर्व यह सोचना चाहिए कि क्या राज्य की विधि का विरोध करना जनहित मे आवश्यक है? क्या समाजहित के लिए यह आवश्यक है? यदि उत्तर हाँ मे आये तब विरोध करना व्यक्ति का कर्त्तव्य है, पर राज्य की सम्पूर्ण सत्ता का नहीं, उस एक विधि का जिसके बारे मे उत्तर हाँ मे आया है। विरोध करने के पूर्व जनमत जानना भी आवश्यक है। यह निश्चित करना भी आवश्यक है कि सामान्य इच्छा विरोध करने वाले के साथ है

[13] "It can on one hand render services, which encouarage him to impose duties upon himself and it can, on the other hand, by forcible interference in the conduct of others, remove obstacles to his self-realisation" —Cocker.

या नही। यदि है तब तो विरोध करना उचित है अन्यथा नही। व्यक्ति को अपने निजी हित के लिए विरोध करने का अधिकार नही है।

स्पष्ट है कि ग्रीन व्यक्ति के इस अधिकार को स्वीकार करने के पश्चात् उसके प्रयोग पर पर्याप्त प्रतिबन्ध लगाता है। इससे ऐसा लगता है कि प्रतिरोध के अधिकार को न्यायसगत मानने के पश्चात् भी ग्रीन ने उसके प्रयोग को असम्भव-सा बना दिया है।

राज्य और अन्य समुदाय

ग्रीन ने राज्य को 'समुदायो का समुदाय' (An association of associations) कहा है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि समाज मे राज्य के अतिरिक्त वह अन्य समुदायो की सत्ता को स्वीकार करता है, उदाहरणार्थ, परिवार, चर्च, आर्थिक संगठन, आदि। मनुष्य का इन सगठनो से सम्बन्ध आता है, वह इनका सदस्य भी होता है। ये संगठन राज्य के द्वारा निर्मित नही होते हैं। जिस प्रकार राज्य की एक व्यवस्था होती है, उसी प्रकार इन समुदायो की भी अपनी पृथक्-पृथक् व्यवस्था होती है। प्रत्येक समुदाय अपनी पृथक् प्रणाली का नियामक होता है। राज्य की तरह ये समुदाय भी व्यक्ति की प्रगति मे सहायक होते हैं।

ग्रीन यह सब स्वीकार करता है पर वह बहुलवादी नही है। उसने राज्य को अन्य समुदायों से बडा माना है। राज्य का यह महत् कार्य है कि वह विभिन्न समुदायो के बीच अधिकारो और कर्त्तव्यों की व्यवस्थाओ मे सामञ्जस्य बनाये रखे। राज्य विभिन्न समुदायो का सरक्षक है। यद्यपि राज्य विभिन्न समुदायो का स्थान नही ले सकता और यह आवश्यक भी नही है तथापि वह उनसे बडा और सम्प्रभु अवश्य है।

अन्तर्राष्ट्रीयता एवम् युद्ध सम्बन्धी विचार

अन्तर्राष्ट्रीयता एवम् युद्ध के सम्बन्ध मे ग्रीन हीगल के उग्र आदर्शवादी विचारों से सहमत नही है। वह स्पष्टत: अन्तर्राष्ट्रीयता का समर्थक, शान्ति का उपासक और युद्ध का विरोधी है।

ग्रीन मानवता की एकता में विश्वास प्रगट करता है, उसका मत है कि सम्पूर्ण विश्व, विश्व-बन्धुत्व की स्थिति पर आ गया है, अत अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता स्वीकार की जानी चाहिए। मैक्गवर्न (McGovern) के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे ग्रीन राज्य से अधिक विस्तृत समाज को मानता है, समाज के वृत्त मे राज्य की स्थिति है न कि राज्य के वृत्त मे समाज की।"[14]

ग्रीन अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को स्वीकार करता है। अन्तर्राट्रीयता और राज्य की स्थिति के सम्बन्ध मे ग्रीन की भावना को वेपर के इन शब्दो मे अच्छी

[14] "In international matters Green also feels the society ranks higher than the state" McGovern.

प्रकार व्यक्त किया जा सकता है, "यदि ग्रीन का राज्य अपने भीतर के कम बड़े समाजों के अधिकारों की रक्षा करता है तो इसे अपने से बाहर के बड़े समाजों के अधिकारों का सम्मान करना चाहिए ।"[15]

ग्रीन युद्ध को मानवता का विरोधी मानता है। युद्ध वास्तविक बुराई है। यह 'जीवन एवम् स्वतन्त्रता' के अधिकार को समाप्त करता है, अतः अनुचित है।

युद्ध अपूर्ण राज्य का चिह्न है, जो सभ्यता के विकास के साथ स्वतः लुप्त हो जायगा, जैसे-जैसे राज्य पूर्ण होंगे और उनमे पारस्परिक सामञ्जस्य उत्पन्न होगा वैसे ही वैसे राज्यो की युद्धलिप्सा भी समाप्त हो जायेगी। ग्रीन युद्ध को कभी भी एक पूर्ण अधिकार (Absolute Right) नही मानता, वह एक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाते हुए युद्ध को अधिक से अधिक सापेक्षिक अधिकार (Relative Right) मानता है। सापेक्षिक इस रूप मे कि यदि कोई देश किसी दूसरे देश पर आक्रमण कर दे तो अपने देश की रक्षा के लिए युद्ध किया जा सकता है और इस स्थिति मे युद्ध एक अनुचित कार्य को रोकने के लिए दूसरा अनुचित कार्य है। इसका औचित्य केवल इसी स्थिति तक है। युद्ध के समर्थन में हीगल के सभी तर्कों को ग्रीन ने अस्वीकार किया है।

मूल्यांकन

ग्रीन एक नये ब्रिटिश राजदर्शन—ऑक्सफोर्डदर्शन—का प्रवर्त्तक था, उसका सबसे बड़ा मूल्यांकन यही है कि उसने जर्मन आदर्शवाद को ब्रिटिश वातावरण के अनुकूल बनाया। उसमे हीगलवाद, व्यक्तिवाद और उदारवाद का अद्भुत और अपूर्व मिश्रित रूप देखने को मिलता है।

ग्रीन ने राजनीति-विज्ञान को नवीन मान्यताएं एवम् नवीन दृष्टिकोण दिया। राज्य की प्रकृति, उसकी अनिवार्यता, नैतिक जीवन की प्राप्ति एवम् आत्म-विकास मे राज्य की भूमिका का उचित विचार ग्रीन ने दिया। यद्यपि ग्रीन के राजदर्शन की कुछ प्रमुख कमजोरियां हैं, वह कुछ रूढ़िवादी जैसा तथा खोखले उदारवाद की मान्यताओं को ग्रहण करता हुआ-सा लगता है, उसका राज्य के कार्यों के सम्बन्ध मे दृष्टिकोण कुछ नकारात्मक-सा है, तथापि उसका चिन्तन उच्च कोटि का और सन्तुलित है।

आदर्शवाद के मुख्य सिद्धान्त

आधुनिक युग मे आदर्शवाद की परम्परा का विकास दो वर्गों मे होकर हुआ, कुछ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पहलुओ तथा प्रश्नों पर दोनो वर्गों की मान्यताएं और स्थापनाएं परस्पर विरोधी थी। इतना होने पर भी कुछ ऐसे मूलभूत सिद्धान्त हैं जिन पर प्रायः सभी आदर्शवादी विचारक एकमत हैं। वे सिद्धान्त निम्न हैं।

[15] "And if Green's State must preserve the rights of the lesser community within it, it must respect the rights of the larger community outside it." —C. L. Wayper, *Political Thought*, p. 186

1. **राज्य एक नैतिक संस्था है**—सामान्य विचार यह है कि राज्य व्यक्तियों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रमुख साधन है। इस रूप में वह एक उपयोगी संस्था है। आदर्शवादी विचारक राज्य को इतना ही नहीं मानते, इससे अधिक वे राज्य को एक नैतिक संस्था मानते हैं। अरस्तू का कहना था कि "राज्य सभ्य जीवन की प्रथम आवश्यकता है और जिनको राज्य की आवश्यकता नहीं होती वे केवल देवता या जानवर ही होते हैं।" आज का कोई भी आदर्शवादी विचारक अरस्तू की उपरोक्त मान्यता को अस्वीकार नहीं करता। बोसांके ने अरस्तू के इस कथन को और भी अधिक दार्शनिक ऊंचाई देते हुए कहा है कि "राज्य एक नैतिक विचार का मूर्त रूप है" (An embodiment of ethical idea)। आदर्शवादी विचारक इस बात को मानते हैं कि राज्य हमारे जीवन के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है। हम उसके अभाव में पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार राज्य एक नैतिक संस्था है। बोसांके का कथन है कि "राज्य विश्वव्यापी संगठन का एक अंग न होकर समस्त नैतिक संसार का अभिभावक है।"[16] ऐसा ही विचार हीगल का भी था। वह मानता था कि सामाजिक आचार की उच्चतम कला राज्य में व्यक्त होती है।

2. **राज्य एक अनिवार्य संस्था है**—आदर्शवादियों की यह मान्यता पहिली मान्यता का स्वाभाविक परिणाम है। क्योंकि राज्य एक नैतिक संस्था है और वह हमारे नैतिक जीवन के लिए आवश्यक भी है, अतः स्वाभाविक रूप से वह अनिवार्य भी है। "मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है" ऐसा कहकर अरस्तू ने इसी तथ्य को स्वीकार किया था। हम राज्यविहीन समाज का विचार कर नहीं सकते, उसके अभाव में अव्यवस्था, हिंसा और असामाजिकता विकसित होगी। व्यक्तियों में जो पशुत्व छिपा है वह प्रबल होगा, और वे चरित्रहीन स्थिति में पशुवत् आचरण करेंगे। समाज का सौन्दर्य जो मर्यादा के कारण स्थिर है और मानव जीवन की सम्पूर्ण श्रेष्ठता लुप्त हो जाएगी। अतः सुसंस्कृत और सभ्य जीवन राज्य के अभाव में सम्भव है ही नहीं। अतः राज्य एक अनिवार्य संस्था है।

3. **राज्य सर्वशक्तिमान है**—राज्य के अन्दर जितनी भी अन्य संस्थायें और संगठन हैं, वे सब राज्य से छोटे हैं। इसी प्रकार राज्य से बाहर भी राज्य से बड़ा और उसे प्रभावित करने वाला कोई अन्य संगठन नहीं है। हीगल तो यहाँ तक कहता है कि 'राज्य स्वयम् ईश्वर है, वह पृथ्वी पर स्थित दैवीय विचार है' (The state is God itself It is the *divine idea as it exists on earth.*) हीगल ने अपने इस विचार को

[16] "State is the guardian of the whole moral world and not a factor within an organised moral world." —Bosanquet.

और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि "राज्य पृथ्वी पर साक्षात् ईश्वर का आगमन है, वह एक ऐसी दैवी इच्छा है जो विश्वव्यापी व्यवस्था मे वास्तविक रूप से प्रगट होती है।"[17] अनिवार्यतः इस प्रकार का राज्य सर्वाधिकारवादी, निरंकुश और कठोर होगा।

4. राज्य का अपना व्यक्तित्व तथा उद्देश्य होता है—आदर्शवाद की यह धारणा व्यक्तिवाद के विरुद्ध है जो 'आणविक सिद्धान्त' पर विश्वास करता है। आदर्शवादी राज्य के स्वतन्त्र एवम् पृथक् व्यक्तित्व को स्वीकार करते हैं। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि राज्य की पृथक् इच्छा होती है। उनका यह भी विश्वास है कि राज्य का पृथक् और निश्चित उद्देश्य होता है, जिसे प्राप्त करने के लिए वह प्रयत्नशील रहना है।

5 राज्य सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करता है—समाज की अन्य सस्थाएँ छोटे-छोटे हितो और वर्ग विशेष अथवा क्षेत्र-विशेष की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती हैं, इसके विपरीत राज्य 'सामान्य इच्छा' (General will) का प्रतिनिधित्व करता है। सामान्य इच्छा का सिद्धान्त जो आधुनिक आदर्शवाद का केन्द्र विचार है रूसो की देन है। राज्य हमारी अन्तर्चेतना अथवा वास्तविक इच्छा की अभिव्यक्ति होने के कारण सामान्य इच्छा का प्रतीक है। *राज्य उन कार्यों को ही करता है जिनको हमारी अन्तर्चेतना कहती है।*

6. राज्य व्यक्ति का सच्चा मित्र है—व्यक्तिवाद व्यक्ति और राज्य मे परस्पर विरोध मानता है, इसी कारण वह राज्य की शक्ति के विस्तार का विरोधी है। आदर्शवाद का विचार इसके विपरीत है, वह व्यक्ति और राज्य मे परस्पर कोई विरोध मानकर नही चलता। 'व्यक्ति बनाम राज्य' (State versus the individual) के विचार को वह अस्वीकार करके चलता है। उसका विश्वास है कि व्यक्ति और राज्य दो परस्पर विरोधी नही अपितु एक और समान लक्ष्य को लेकर चलने वाले हैं। राज्य व्यक्ति का सच्चा साथी, मित्र और सलाहकार है। सामान्य इच्छा जो राज्य का आधार है और जिसके अनुसार राज्य कार्य करता है, और सद्इच्छा जो व्यक्ति मे होती है, मे कोई विरोध नही है, अतः राज्य और व्यक्ति मे विरोध का प्रश्न ही पैदा नही होता।

आदर्शवाद की आलोचना

आदर्शवादी विचारधारा की विभिन्न आधारों पर आलोचना की गई है। आधुनिक राजनीतिक विचारकों ने इस विचारधारा के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की है। इनमे हॉबहाउस, मैकाइवर, लास्की और जोड प्रमुख हैं। कुछ आलोचनाएँ निम्न हैं।

17 "The state is the march of God on earth. It is the divine will unfolding itself to the actual shape and organisation of the world" Hegal

1. ऐसा कहा जाता है, और है भी, कि आदर्शवाद पूर्णतः अव्यावहारिक राजनीतिक विचारधारा है। आदर्शवाद का राज्य प्रत्येक नागरिक की नैतिक इच्छा पर आधारित है, पर ऐसा राज्य व्यवहार मे तो देखने मे नही आता, हाँ *उसका अस्तित्व या तो व्यक्ति की कल्पना में अथवा स्वर्ग मे ही सम्भव हो* सकता है।

आदर्शवाद जिस राज्य का विचार करता है वह पूर्ण राज्य है। पूर्ण राज्य अपूर्ण व्यक्तियो मे स्थापित नही हो सकता। मनुष्य अपूर्ण है, अत मनुष्य द्वारा निर्मित सस्थाएं भी, चाहे वे कितनी ही सुन्दर क्यो न हो, उतनी ही अपूर्ण होगी जितना कि मनुष्य अपूर्ण है। राज्य इस नियम का अपवाद नही है।

2. आदर्शवाद राज्य को सर्वोच्च और समाज-रचना का केन्द्र मानकर चलता है, इसमे व्यक्ति को कोई महत्त्व नहीं है। व्यक्ति का सम्पूर्ण व्यक्तित्व राज्य की सत्ता मे निमग्न हो जाता है। व्यक्ति व्यक्तित्वहीन, असहाय प्राणी-सा रह जाता है। समाज-रचना मे उसकी स्थिति नगण्य रहती है। बार्कर का कथन ठीक ही है कि "आदर्शवाद पूर्णतः राज्य को केन्द्र मान कर चलता है, व्यक्ति को नही। यह विचार-धारा व्यक्ति के लिए सामाजिक व्यवस्था स्थापित नही करती वरन् सामाजिक व्यवस्था मे व्यक्ति के स्थान एव कर्त्तव्य का निर्धारण करती है।"[11]

3. *समाज-सुधार की दृष्टि से आदर्शवाद की कुछ प्रमुख कमजोरियाँ हैं।* आदर्शवाद मे किसी आदर्श की सृष्टि नही अपितु प्रायः प्रस्थापित अपूर्ण समाज की वस्तुस्थिति को ही तर्क द्वारा आदर्श रूप देने का प्रयत्न दिखलाई देता है। यही कारण था कि अरस्तू ने इस समय में प्रचलित दास प्रथा का विरोध नही किया, हीगल ने निरकुश जर्मन राजतन्त्र का समर्थन किया और उदार आदर्शवादी विचारक ग्रीन ने भी अपने समय मे पूँजीवाद का विरोध नही किया। ये सब विचार आदर्श-वादी राज्य की मूल अवधारणा से कहाँ तक मेल खाते हैं यह कहना अत्यन्त कठिन है। वस्तुत इन सबका आदर्शवादी राज्य से कोई तर्कपूर्ण सम्बन्ध नही बिठाया जा सकता। यही कारण है कि हाब्सन जैसे विचारक ने आदर्शवाद को 'रूढिवादियों की चालें' (Tactics of Conservatism) कहा है।

4. आदर्शवाद मे व्यावहारिक चिन्तन नही है। आदर्शवाद राज्य के आध्यात्मिक आधारो की विवेचना मे ही लगा रहा है। इसका एक अप्रिय परिणाम यह हुआ है कि आदर्शवाद के पास वर्तमान भौतिक परिस्थितियो मे सुधार की कोई योजना नही है। असमानता, अशिक्षा, गरीबी, आदि जैसी मूल बुराइयों को दूर *करने के लिए आदर्शवाद के पास कुछ भी नही है। इन प्रश्नों के प्रति आदर्शवाद* उदासीन है।

[11] "Instead of starting from a central individual for whom the social system is supposed to be adjusted, the idealist starts from a central social system, in which the individual must find his appointed orbit of duty." —Barker.

5. हॉबहाउस (Hobhouse) ने आदर्शवाद की कटु आलोचना की है। उसने तो यहाँ तक कहा है कि आदर्शवाद निरंकुशता, अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता और युद्ध का समर्थक है। वस्तुत: हीगल जैसे आदर्शवादी दार्शनिक के विचारों से एक ओर नाजी और फाँसीवाद ने प्रेरणा ली तो दूसरी ओर साम्यवाद ने भी प्रेरणा ली, दोनों ही लोकतन्त्र विरोधी और निरकुश तन्त्र के समर्थक हैं। यह आदर्शवाद की अप्रिय राजनीतिक फलश्रुति है।

6. हॉबहाउस ने एक अन्य आधार पर भी आदर्शवाद की आलोचना की है। उसके मतानुसार 'सामान्य इच्छा' का सिद्धान्त गलत है। उसका कथन है कि "इच्छा सामान्य नहीं हो सकती, और यदि वह सामान्य है भी तो वह इच्छा नहीं है।"[19] इस प्रकार हॉबहाउस ने आदर्शवाद के मूल सिद्धान्त को ही अस्वीकृत कर दिया।

7. आदर्शवाद निरा बुद्धिवादी सिद्धान्त है। विलियम जेम्स इसे 'शुद्ध बौद्धिक सिद्धान्त' कहता है। यह इसकी विशेषता भी है और कमजोरी भी। आदर्शवादी यह समझ ही नहीं पाये कि व्यक्ति सदैव बुद्धि से ही कार्य नहीं करते, अपितु उनके अनेक कार्य अबौद्धिक प्रवृत्तियों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। मैक्डूगल (McDougall) का तो यह निश्चित मत है कि भाव और भावनाएँ (जो पूर्णत. अबौद्धिक हैं) व्यक्तिगत आचरण के समान सामूहिक आचरणों को भी निर्धारित करती हैं। ग्राहम वालस (Graham Wallas) ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य पर जोर दिया है कि बुद्धि नहीं अपितु "भावना, आदत, सकेत एव अनुकरण की अचेतन प्रक्रियाएँ ही राजनीति को निर्धारित करती हैं।"[20] ग्राहम वालस का तो दृष्टिकोण ही बुद्धि विरोधी है।

मूल्यांकन

आदर्शवादी विचारधारा का मूल्यांकन इस रूप में किया जा सकता है कि आदर्शवाद की दो मान्यताएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी हैं; वे हैं :—

1. आदर्शवाद ने राज्य की सावयव एकता पर जोर दिया और इस प्रकार व्यक्तिवाद के कृत्रिम विरोध को जो उसने राज्य और व्यक्ति के बीच पैदा किया था समाप्त किया।

2. आदर्शवाद ने इस बात को सिद्ध किया कि वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य मे रहकर ही सम्भव है, राज्य के अभाव मे सम्भव नहीं है। राज्य और स्वतन्त्रता मे कोई मौलिक विरोध नहीं है। राज्य स्वतन्त्रता का सरक्षक और पोषक है।

आदर्शवाद ने गम्भीर चिन्तन और स्थायी मूल्य का राजनीतिक चिन्तन दिया।

[19] "If it is will, it cannot be general, and if it is general it cannot be will." —Hobhouse

[20] "Politics is largely a matter of subconscious processes of habit and instinct, suggestion and imitation." —Graham Wallas.

सहायक पुस्तकें

McGovern	*From Luther to Hitler*
W. A. Dunning	*A History of Political Theories from Rousseau to Spencer,* Chapter VI
Bradley	*Philosophical Theory of the State* (English and Hindi)
C E. M. Joad	*The Modern Political Treory*
McIver	*The Modern State*
Foster	*Masters of the Political Thought,* Vol. III
सर अर्नेस्ट बार्कर	इंगलैण्ड का राजदर्शन 1848 से 1914 तक
फ्रांसिस डब्लू० कोकर	आधुनिक राजनीतिक चिन्तन

4

समाजवाद

(Socialism)

●

सामान्यतः ऐसा कहा जाता है कि समाजवाद आधुनिक युग की एक प्रभावशाली विचारधारा है। जागतिक कल्याण के उद्देश्य को सामने रखकर, वैषम्य, उत्पीडन और शोषण का अन्त करने के लिए एव समाज मे समानता की स्थापना करने के लिए, समाजवाद आधुनिक युग का एक आकर्षक और सशक्त दर्शन है।

समाजवाद अंग्रेजी के सोशलिज्म (Socialism) का पर्यायवाची हिन्दी शब्द है। सोशलिज्म शब्द की उत्पत्ति सोशियस (Socious) शब्द से हुई है जिसका अर्थ 'समाज' होता है। इस रूप मे समाजवाद का सम्बन्ध समाज और उसके सुधार से है।

समाजवाद शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 1827 ई० मे श्रो० नाइट कोआॅपरेटिव मैगजीन[1] मे व्यक्तिवादी और उदारवादी विचारों और व्यवस्थाओं के विरुद्ध भावो को प्रदर्शित करने के लिए हुआ था। इसके पश्चात् 1930 में इङ्गलैण्ड और फ्रास मे रॉबर्ट ओवेन (Robert Owen), सेन्ट साइमन (Saint Simon) और चार्ल्स फोरियर (Charles Fourier) के सामाजिक विचारों की व्याख्या के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया। 1835 मे रॉबर्ट ओवेन की अध्यक्षता मे एक समाज (Society) की स्थापना की गई थी जिसका नाम 'एसोसियेशन ऑफ ऑल क्लासेस ऑफ ऑल नेशन्स' रखा गया था। इस समाज मे परस्पर वार्ता के समय अनेक वार 'समाजवाद' और 'समाजवादी' शब्द का प्रयोग होता रहा था। इसके पश्चात् तो 'समाजवाद' शब्द आम और बहुप्रयुक्त हो गया।

राजनीतिक विचार और मान्यता के रूप मे समाजवाद का उदय औद्योगिक क्रान्ति तथा उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियो के कारण हुआ। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप एक नई आर्थिक व्यवस्था ने जन्म लिया जिसे पूंजीवादी व्यवस्था कहते हैं। उस समय की अनेक आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं

[1] यह पत्रिका रॉबर्ट ओवेन (1771–1858) के विचारों का प्रचार करने के लिए प्रारम्भ की गई।

मानवीय कठिनाइयों एवं समस्याओं का कारण यही पूँजीवादी व्यवस्था थी । उद्योग, व्यापार, उत्पादन के तरीके, वितरण की प्रणालियाँ, सभी पर चन्द लोगों का व्यक्तिगत स्वामित्व था । समाज का बहुत बडा वर्ग इन सब के लाभ से अछूता था । अर्थतन्त्र पर कुछ लोगों के अधिकार के कारण समाज दो असमान वर्गों मे बँट गया था । एक ओर श्रमिक लोगों का वर्ग था, जो सख्या मे कई गुना अधिक था पर जो निर्धन, असहाय और गरीब था ; दूसरी ओर पूँजीपति वर्ग था, जो सख्या मे कम पर बहुत अधिक सम्पत्ति का स्वामी और शक्तिशाली था । इस व्यवस्था मे धनिक वर्ग धनी होता जा रहा था और निर्धन वर्ग निर्धन होता जा रहा था, परिणामस्वरूप समाज मे दो प्रकार के जीवन जिये जा रहे थे. एक ओर विलासिता का जीवन था तथा दूसरी ओर व्यक्ति जीवित रहने के लिए खून को पसीना बनाकर बहा रहा था , एक ओर वैभव और ऐश्वर्य की प्रतीक ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएं थी, दूसरी ओर रात व्यतीत करने के लिए झोपडियो की भी कमी थी , एक ओर असीमित और अपरिमित धन सचय हो रहा था, दूसरी ओर लोग ककाल मात्र रह गये थे । विषमता, दारिद्र्य, शोषण, अभाव और उत्पीडन से युक्त जीवन समाज का बहुत बडा वर्ग जी रहा था । समाज मे मजदूरी के आधार पर जीविका निर्वाह करने वालो की सख्या बढ रही थी और उनको पूँजीपति कम से कम दामो पर खरीद रहे थे । स्थिति इतनी बदतर थी कि उस समय सुकुमार बच्चे इतना अधिक समय तक काम करते थे जितना कि आज एक वयस्क भी नही करता ।

इङ्गलैण्ड मे खनन उद्योग की जाँच करने के लिए जो राजकीय आयोग नियुक्त किया गया था, 1841 मे उसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई । इस रिपोर्ट ने सारे इङ्गलैण्ड को हिला दिया । इसने बताया कि खानो मे कितनी निर्दयता बरती जाती है, बच्चो और स्त्रियो के रोजगार की दशाएँ कितनी खराब हैं, मजदूरों को कितनी-कितनी देर तक काम करना पडता है, सुरक्षा के साधनो की कितनी कमी है और अनाचार तथा गन्दगी का कितना बोलबाला है ।[2]

ब्राउटन चार्लटन ने 1860 मे नोटिघम के एक सभा-भवन मे बोलते हुए कहा था कि "......नौ-नौ, दस-दस बरस के बच्चो को सुबह के चार बजे या रात के दो या तीन बजे उनके गन्दे बिस्तरो से उठाकर रात के दस, ग्यारह या बारह बजे तक काम करने के लिए मजबूर किया जाता है, और उसके एवज मे उनको सिर्फ इतने पैसे दिए जाते हैं, जिससे वे मुश्किल से अपना पेट भर पाते है । इन बच्चों के अग दुर्बल होने जाते हैं, उनके ढाँचे मानो छोटे और चेहरे खून की कमी से एकदम सफेद हो जाते हैं तथा उनकी मानवता का एक ऐसी पत्थर जैसी निद्रावस्था मे सर्वथा लोप होता जाता है जिसके बारे मे सोचने से भी डर लगता है... ।"[3] 1863

[2] सेबाइन, राजनीति दर्शन का इतिहास, भाग २, पृ० 658 ।
[3] कार्ल मार्क्स, पूँजी, खण्ड पहिला, पृ० 27० ।

मे 'बाल सेवायोजन ग्रायोग' की पहिली रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट मे उस समय के मजदूरों के जीवन की वास्तविक जानकारी मिलती है। रिपोर्ट मे स्टेफर्ड-शायर के ग्रस्पताल के एक डॉक्टर जे० टी० ग्रार्तेज का एक कथन है। वह इस प्रकार है, "एक वर्ग के रूप मे, मिट्टी के बर्तन बनाने वाले—स्त्रियां ग्रौर पुरुष दोनो—शारीरिक दृष्टि से ग्रौर नैतिक दृष्टि से ह्रास-ग्रस्त लोग है। ग्राम तौर पर उनका शारीरिक विकास रुक गया है, ग्राकृति भोंडी हो गई है ग्रौर उनका वक्ष ग्रक्सर बहुत ही कुरूप होता है। वे लोग वक्त से पहिले बूढे हो जाते हैं; ग्रौर इसमें तो तनिक भी सन्देह नही कि उनकी उम्र बहुत ही छोटी होती है। इन लोगो मे कफ की ज्यादती ग्रौर खून की कमी होती है, ग्रौर बार-बार होने वाला मन्दाग्नि का हमला, जिगर ग्रौर गुर्दे की बीमारियां ग्रौर गठिया रोग उनके शरीर की दुर्बलता को पूर्णतया स्पष्ट कर देते हैं। लेकिन जितनी बीमारियाँ हैं, उनमे वे सबसे ज्यादा वक्ष-रोगो—निमोनिया, राजयक्ष्मा, श्वासनली-दाह ग्रौर दमे के शिकार होते हैं।"[4] *यह सब गलत ग्रार्थिक नीतियो तथा व्यवस्थाग्रो का परिणाम था।* ऐसे दुखपूर्ण समय मे राजनीतिक मान्यता यह थी कि "वह सरकार ग्रच्छी है जो कम से कम शासन करती है।" गैटिल के शब्दो मे "सरकार से स्वतन्त्रता, न कि सरकार के द्वारा स्वतन्त्रता, उस काल का मुख्य ग्रादर्श था।"[5] ग्रर्थात् राज्य शोषण ग्रौर ग्रनाचार को दूर करने के लिए ग्रौर मजदूरों को एक ग्रच्छा जीवन दिलाने के लिए ग्रार्थिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप नही करता था। मजदूर नारकीय जीवन व्यतीत कर रहे थे ग्रौर राज्य एक दर्शक की भाँति यह सब देख रहा था। वस्तुत यह व्यक्तिवाद का उग्र ग्रौर ग्रतिवादी रूप था। स्पेंसर के जीवशास्त्रीय सिद्धान्तो पर ग्राधारित व्यक्तिवादी धारणाग्रों ने व्यक्तिवाद को ग्रौर भी ग्रधिक क्रूर कर दिया था। इससे ग्रनेक सामाजिक विकृतियो ने जन्म ले लिया था। ऐसी स्थिति मे उसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक थी। लोग सोचने लगे कि समाज का स्वस्थ विकास रिकार्डो या माल्थस के ग्रार्थिक सिद्धान्तो ग्रथवा मिल ग्रौर स्पेंसर की राजनीतिक मान्यताग्रो के ग्राधार पर नही हो सकता वरन् इसके लिए एक नवीन, ग्रार्थिक प्रणाली ग्रौर स्वस्थ सामाजिक दर्शन की ग्रावश्यकता है, जो केवल व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के ग्राग्रह को लेकर ही न चले पर सामाजिक कल्याण एव सामाजिक साम्य का विचार भी लेकर चले जिससे वैषम्य दूर किया जा सके ग्रौर शोषण का ग्रन्त हो सके। यह सब उनको समाजवाद मे मिला। ग्रत. व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया के रूप मे समाजवाद ग्रस्तित्व मे ग्राया।

इस प्रकार समाजवाद उस ग्रार्थिक एव राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया है जो व्यक्तिवाद ग्रौर पूंजीवाद का परिणाम थी। यह 'मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण' के विरुद्ध उत्पादन के स्रोतों एव वितरण की प्रणालियो पर कुछ लोगो के

[4] वही, पृ० 276–277।

[5] गैटिल, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ० 397।

व्यक्तिगत स्वामित्व के विरुद्ध, राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित करने के विरुद्ध, व्यक्ति की एकाधिकारी प्रवृत्ति के विरुद्ध, एक संगठित और बहुत बड़े वर्ग की आवाज है।

यह समाजवाद के आगमन की पृष्ठभूमि है। यही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि समाजवाद क्या है? उसका निश्चित स्वरूप और सिद्धान्त क्या है? पर यही सबसे कठिन और जटिल कार्य है। कई महत्वपूर्ण प्रश्नों पर समाजवादियों में परस्पर मतभेद हैं। आज समाजवादी विचारक इसके स्वरूप, कार्यक्रम एवं सिद्धान्तों के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। समाजवाद की एक सुनिश्चित और सर्वमान्य परिभाषा देना कठिन और दुरूह है। यह स्थिति वर्तमान में उपस्थित हुई ऐसा ही नहीं है अपितु उन्नीसवीं सदी में भी उपस्थित थी, आज असुविधा यह और है कि यह शब्द इतना अधिक प्रचलित एवं बहुस्वीकृत हो गया है कि इसकी व्याख्यायें ही विभिन्न हो रही हैं। इस बात का अन्दाज हम इसी तथ्य से लगा सकते हैं कि डॉन ग्रिफिथ्स (*Don Griffiths*) ने *समाजवाद क्या है?* नामक अपनी रचना में समाजवाद की लगभग 263 परिभाषाएँ संग्रहीत की थीं। 1892 में ही पेरिस के एक पत्र ली फिगारो (*Le Figaro*) ने विभिन्न लोगों द्वारा विभिन्न समयों पर दी गई समाजवाद की लगभग 600 परिभाषायें दी थी।[6] आज के परिवर्तित समय में जब कि अनेक सामाजिक मूल्य एवं राजनीतिक स्थितियाँ *बदल गई हैं समाजवाद की परिभाषाओं में वृद्धि ही हुई है कमी नहीं।* प्रसिद्ध विचारक कोकर के अनुसार, "समाजवाद का अभिप्राय सम्पत्ति के सभी आधारभूत साधनों पर नियन्त्रण से है। यह नियन्त्रण समाज के किसी वर्ग द्वारा न होकर स्वयं समाज के द्वारा होगा एवं धीरे-धीरे व्यवस्थित ढंग से स्थापित किया जाएगा।' सेलर्स नामक विचारक का मत है कि "समाजवाद एक ऐसा प्रजातान्त्रिक आन्दोलन है, *जिसका उद्देश्य समाज के ऐसे आर्थिक संगठन को प्राप्त करना है, जो न्याय तथा* स्वतन्त्रता की यथासम्भव मात्रा प्रदान करेगा।" ब्रिटेन के प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेन्ड रसल के अनुसार, "यदि हम इसका अर्थ भूमि तथा सम्पत्ति के सामुदायिक स्वामित्व से लें तो हम इसके सार के अधिक निकट पहुँच सकेंगे।" लास्की ने समाजवाद की परिभाषा इस प्रकार की है, "समाजवाद एक आदर्श है और एक साधन भी। इसका आदर्श एक ऐसे समाज की स्थापना करना है जहाँ उत्पादन के साधनों तथा वितरण पर सामाजिक नियन्त्रण होने के कारण विभिन्न सामाजिक वर्गों को मिटा दिया जाएगा। इस आदर्श की प्राप्ति के हेतु यह अपना साधन एक सामाजिक क्रान्ति *मानता है जिसके फलस्वरूप सर्वहारा-अधिनायकत्व स्थापित किया जा सके।*"[7] समाजवाद पर विचार करते समय एक बात का ध्यान आवश्यक रूप से रखना चाहिए और वह यह कि प्राय लोग हर उस व्यवस्था को जो व्यक्तिवाद-विरोधी

[6] अम्बादत्त पन्त, राजनीतिशास्त्र के आधार, द्वितीय भाग, पृ० 221।
[7] H. J. Laski, *Communism*, 1927, p. 11

होती है समाजवादी मानने लगते हैं। लोग व्यक्तिवाद विरोधियों को समाजवाद के साथ जोड देते हैं पर ऐसा नही है। व्यक्तिवाद का विरोधी समाजवादी हो ऐसा अनिवार्य नही है। उदाहरणार्थ उन्नीसवी सदी के अन्तिम समय मे जर्मनी मे अध्यापको का वह वर्ग जिसने व्यक्तिवाद की 'यद् भाव्यम नीति' का विरोध किया वह समाजवादी नही था, पर लोगों ने उसे समाजवाद के साथ जोड दिया। यही चीज फ्रान्स मे भी हुई जहाँ Solidarist लोगो ने पूँजीवादी व्यवस्था को अस्वीकार अवश्य किया एव उसे प्रकृति मे अधिकाधिक कोऑपरेटिव (जनसहकारी) बनाने की बात कही पर उनके आर्थिक, सामाजिक एव न्यायिक विचारो मे कुछ भी समाजवाद नहीं था।

समाजवाद की परिभाषाओं की अधिकता और उनके मध्य किसी तालमेल के अभाव के कारण समाजवाद की एक सुनिश्चित परिभाषा कर पाना कठिन-सा है। इस कठिनाई को प्रसिद्ध विचारक रापोपोटे ने काफी गम्भीरता से अनुभव किया। अत उनका कहना है, "यदि मुझसे पूछा जाए कि 'क्या मै स्वय एक समाजवादी हूँ ?' तो मुझे स्पष्ट रूप से यह उत्तर देने के लिए विवश होना पडेगा कि इन सब बातो का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि कोई व्यक्ति समाजवाद से क्या समझता है।"

"समाजवाद के बडे भवन मे बहुत-से छोटे घर हैं। मैंने समाजवाद की भिन्न-भिन्न चालीस के लगभग परिभाषाएं उद्धृत की हैं तथा मैंने कभी यह प्रगट नही किया कि मेरी सूची विस्तृत है। यदि समाजवाद का अर्थ न्याय, समता, वास्तविक प्रजातन्त्र, मनुष्यता से प्रेम, दूसरो का उपकार करना, सहनशीलता तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, उच्च नैतिक आदर्श, शान्ति तथा सद्भावना है, तब मैं यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि मै एक समाजवादी हूँ। दूसरी ओर, यदि समाजवाद व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को पीसता और दबाता हो, यदि वह सेना का केन्द्र-स्थान है, यदि वह अत्याचार, निर्दयता तथा विनाश का पक्षपाती है, तब मैं समाजवाद का शत्रु हूँ। यदि समाजवाद का वास्तविक उद्देश्य लोगो मे विद्यमान सम्पत्ति की अत्यधिक विषमता को बदलना है, इस प्रकार की समानता करना कि उन लोगों से, जिनके पास बिना परिश्रम किये ही अत्यधिक है, लेकर, उन लोगों को देना, जिनके पास कठिन परिश्रम करने पर भी बहुत कम है, तब मुझे अवश्य यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि मैं हृदय से एक समाजवादी हूँ। किन्तु, यदि समाजवादी एक ऐसी लूट की भावना से प्रेरित किए जा रहे हो, जिससे वे कठिन परिश्रम करने वाले कुछ लोगों की जेबो पर हाथ मारने पर तुले हो, तथा उन लोगों की जेब भरने पर अग्रसर हों, जिन्होंने कुछ भी कार्य नही किया, तब मैं एक समाजवादी नही। यदि समाजवाद का अर्थ मनुष्य के द्वारा मनुष्य पर किये जा रहे अत्याचार तथा दुरुपयोग को समाप्त करना है, समाज को न्याय तथा समता की भावना से बदलना है, दण्डविधान, हत्याकाण्ड तथा भाई-बहिनो की हत्या करने वाले

युद्धों की शासन-पद्धति अथवा राज्य-तन्त्र को उड़ाना अथवा हटाना है, एक शब्द में, यदि यह एक आदर्शपूर्ण प्रगति है, तब मुझे इस बात का गर्व है कि मेरी *गणना समाजवाद की सारी सेना के सैनिकों में की जाए। किन्तु यदि समाजवाद का* उद्देश्य श्रेणी युद्ध को आरम्भ करना, धनिक श्रेणियों का नाश करना तथा तानाशाही राज्यों की स्थापना करना है, किसी भी रूप में, यदि यह भौतिक, नास्तिक *तथा सैनिक दृष्टिकोण वाला है तथा अधिकार और न्याय, आचार तथा नीतिशास्त्र* का ध्यान नहीं रखता, तो मैं निश्चित रूप से एक समाजवादी नहीं। यदि समाजवाद के तरीके प्रेरणापूर्ण हैं तथा शक्ति पर आधारित नहीं, यदि इसके नीति-वाक्य शान्ति पर *आधारित हैं, जो व्यक्ति में श्रेष्ठतम तथा सौजन्यपूर्ण गुणों के प्रति सबका* ध्यान आकर्षित करते हैं, जिससे कि विश्व में शान्ति, न्याय तथा समता के युग का प्रारम्भ हो, तब मुझे एक समाजवादी होने में प्रसन्नता है। किन्तु यदि समाजवाद *के नीतिशास्त्र युद्ध के नीतिशास्त्र हैं, यदि इसके साधन ऐसे हैं, जहाँ शिकारी पक्षियों* को स्वतन्त्रता के अण्डे हथियाने में प्रयुक्त किया जाता है तथा दृष्टिकोण इस बात का रहता है कि शान्ति के कबूतर को उत्पन्न किया जाए, तब मैं इस प्रकार के *साधनों की निन्दा करता हूँ। न्याय, समता, सामाजिक सम्पत्ति का अधिक समता-*पूर्ण उपायों से बँटवारा, विषमताओं, शोषण तथा दुःखों को दूर करना—ये ऐसे आदर्श हैं, जिनकी मैं बहुत प्रशंसा करता हूँ तथा उनके लालन-पालन अथवा पोषण *का पक्षपाती हूँ। किन्तु दूसरी ओर मैं विनाश, हिंसा तथा तानाशाही पद्धतियों को* घृणा की दृष्टि से देखता हूँ।"[8] ब्रिटेन के प्रसिद्ध लेखक रैम्जे म्योर ने समाजवाद के सम्बन्ध में बड़ी रोचक बात कही है, उनका कहना है कि "समाजवाद गिरगिट के समान एक विश्वास है। *यह अपना रंग परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है।* गली के कोने तथा सभाकोष्ठ के लिए यह अपने ऊपर वर्ग-युद्ध का प्रज्वलित अग्रणी (लाल) रंग ओढ़े रहता है। बौद्धिक लोगों के लिए यह भूरे रंग से युक्त लाल गोली है। भावुक व्यक्तियों के लिए यह कोमल, गुलाबी गुलाब का फूल है, तथा चर्चों के क्षेत्र में यह निर्मल सफेद वर्ण धारण कर लेता है, जिसमें उदार महत्त्वाकांक्षाओं के मन्द प्रवाह का स्पर्श है।" समाजवाद के सम्बन्ध में एक रोचक विचार सी० ई० एम० जोड का भी है। उनके अनुसार "समाजवाद एक टोपी है जिसकी शक्ल बदल गई है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति इसे पहिनता है।"[9] जोड के इस कथन की कुछ व्याख्या अपेक्षित है।

हम देख चुके हैं कि समाजवाद केवल एक विचारधारा या दर्शन ही नहीं है अपितु एक आन्दोलन भी है। इस आन्दोलन की भी एक निश्चित दिशा नहीं है।

[8] विद्याधर महाजन की पुस्तक आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ में उद्धृत, पृ० 1–2।

[9] "Socialism is just like a hat which has lost its shape because everybody wears it." —C. E. M. Joad, *Recent Political Theories* p. 40

विश्व में यह विविध रूपों मे है। कही यह आन्दोलन प्रजातन्त्रात्मक पद्धति द्वारा सचालित है और कही यह पूर्णत: उग्र और प्रजातन्त्र विरोधी है ; इतना ही नही, तो कही यह हिंसक क्रान्ति द्वारा प्रस्थापित पद्धति को बदलना चाहता है, कही यह अराजक समाज की स्थापना का लक्ष्य लिये है। सक्षेप मे, समाजवादी मान्यताओ के आधार पर समाज और उसकी व्यवस्थाओ को सव्यूहित करने का समाजवादी तरीका एक और निश्चित नही है।

यही स्थिति वैचारिक दृष्टि से समाजवाद की कही जा सकती है। समाजवाद वैचारिक एव सैद्धान्तिक दृष्टि से अनेक रूपो मे बँटा हुआ है। राज्य के प्रति, प्रेरणा के प्रति एव न्याय के प्रति दृष्टिकोण के आधार पर समाजवाद को विभिन्न वर्गों मे बाँटा जा सकता है। यदि हम प्लेटो और उसके बाद के समाजवादियों को छोड भी दें तो भी आधुनिक वैज्ञानिक समाजवाद की कई धाराएँ हैं। सघवाद, राज्य समाजवाद अथवा समष्टिवाद, फेबियनवाद, श्रेणीमूलक समाजवाद, अराजकतावाद, आदि अनेको रूपो मे समाजवादी सिद्धान्त विकसित हुए हैं। वर्ग-सघर्ष मे विश्वास समाजवाद का प्रमुख सिद्धान्त है, पर यह भी नही कहा जा सकता, कारण समष्टिवादी विचारक वर्ग-समन्वय तथा वर्ग-सहयोग मे विश्वास करते हैं। समाजवाद को साम्यवाद की पहिली सीढी कहा जाता है, पर समाजवाद विशुद्ध प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था भी है, जिसका साम्यवाद से कोई सरोकार नही है। सघवाद हिंसक तरीकों मे, तोड-फोड मे, विध्वसात्मक पद्धति मे विश्वास रखता है, जबकि राज्य समाजवाद शनै-शनै प्रजातन्त्रीय वैधानिक साधनो से समाजवाद की स्थापना का समर्थक है।

समाजवाद की व्यवस्थाओ मे देश, काल, परिस्थिति, राष्ट्रीयता की भावना तथा साधन के रूप मे स्वीकृत माध्यमो—कार्य-पद्धति—के कारण विभिन्न हैं। यही कारण है कि समाजवादी देशों के लक्ष्य और व्यवस्थायें प्राय विभिन्न प्रकार की है।

पर बात इतनी ही नही है। एक ही देश मे अनेक प्रकार के समाजवादी आन्दोलन और विचार हैं। ये सब अपने को समाजवादी कहते हैं पर साथ ही परस्पर एक-दूसरे के घोर विरोधी भी हैं। हम इसके लिए भारत का उदाहरण ले सकते हैं। यही स्थिति अन्य देशो की भी है। अत एक निश्चित समाजवादी प्रणाली और सिद्धान्त का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन और जटिल है।

अत यह कहा जा सकता है कि समाजवाद की कोई निश्चित परिभाषा न कर पाने का एक कारण यह है कि समाजवाद अपने स्वरूप, सिद्धान्त, कार्यक्रम और कार्य-पद्धति मे सभी स्थानो पर एक-सा नही है। इसका एक सुनिश्चित स्वरूप स्थिर नही किया जा सकता। यह एक राजनीतिक व्यवस्था है, पर साथ ही, सामाजिक मूल्यो के प्रति नया दृष्टिकोण, नवीन आर्थिक प्रणाली का प्रस्थापक, नवीन नैतिक मूल्यो का उन्नायक, जागतिक एकता का नवीन आधार-खोजी, साहित्य का नया

प्रयोग, कला का नया प्रकार, एक विचार और एक आन्दोलन और नवीन जीवन-दृष्टि भी है।

समाजवाद का इतिहास

यद्यपि एक शब्द के रूप मे समाजवाद शब्द का प्रयोग काफी बाद में हुआ और एक विचारधारा के रूप में समाजवाद मूलतः आधुनिक युग की विचारधारा है *तथापि एक व्यापक अर्थ मे—'मनुष्य की समानता' के अर्थ मे—समाजवादी चिन्तन* के तत्त्व ईसापूर्व के विचारकों मे भी मिलते हैं ; और तब से अब तक यह विचार किसी न किसी रूप मे कई विचारको के चिन्तन का मूल रहा है। राबर्ट व्हान पोलमैन (Robert Von Pohlmann) *का कहना है कि 6ठी सदी ई०पू० मे समाजवाद* का प्रवेश हो चुका था और 4थी सदी ई०पू० से यह ग्रीस का प्रमुख विचार बन चुका था। ईसापूर्व सामाजिक विषमता और अन्यायपूर्ण स्थिति को समाप्त कर *न्याय एव समानता से पूर्ण समाज की रचना का विचार करने वाले अनेक* विचारक हुए जिनमे होशिया (Hosea), एमोस (Amos), जर्मिया (Jeremiah) आदि प्रमुख हैं, पर ये सब विचारक मूलत. समाजवादी ही थे ऐसा नही है। लैडलर (Laidler) *का यह कथन सत्य है कि ये सब विचारक 'नैतिकता-धर्म-प्रधान, स्वप्नलोकीय* विचारक' थे समाजवादी नही।[10] ग्रीक चिन्तको के समाजवादी विचार मूलतः धार्मिक और आध्यात्मिक परिवेश की उपज थे। उस समय औद्योगिक क्रान्ति, *पूँजीवादी शोषण और मजदूर वर्ग का आविर्भाव नही हुआ था।*

प्लेटो (428–348 ई०पू०) ने रिपब्लिक नामक पुस्तक मे 'आदर्श राज्य' की प्रस्थापना के लिए साम्यवाद की योजना प्रस्तुत की है उसके आदर्श राज्य की व्यवस्था कठोर, अनुशासित और आत्मसयम पर आधारित थी। प्लेटो प्रथम विचारक था जिसने साम्यवाद की योजना प्रस्तुत की। उसकी योजना मात्र काल्पनिक एव स्वप्नलोकीय नही थी वरन् ग्रीस की तद्जन्य परिस्थितियो के विरुद्ध बुद्धिवाद का क्रान्तिकारी प्रयत्न था। पर उसके साम्यवाद का वर्तमान साम्यवाद से कोई मेल नही। प्लेटो का साम्यवाद पूर्णतः आध्यात्मिक एव नैतिक था जबकि वर्तमान साम्यवाद ऐसा नही है। आज प्लेटो के साम्यवाद की राजनीतिक आदर्श के रूप में ही स्मृति शेष है।

प्लेटो के बाद भी, मध्ययुग मे अनेक ऐसे विचारक हुए जिन्होंने सामूहिक स्वामित्व की बात कही जो *आज के समाजवाद से मिलती-जुलती है। ऐसे विचारको* मे कवि वर्जिल (Virgil), सेनेका (Seneca), जोसेफस (Josephus) आदि प्रमुख हैं। सन्त ऑगस्टीन (Saint Augustine, A.D. 354–430) ने भी धार्मिक स्वप्नलोकीय कल्पनाये की थी।

[10] Harry W Laidler *A History of Socialist Thought*, sixth printing, pp 4-9 अम्पा दत्त पन्त आदि, राजनीति शास्त्र के आधार, भाग दो पृ० 223 से उद्धृत।

काफी समय बाद सर टामस मूर (1478–1535) की प्रसिद्ध साहित्यिक रचना यूटोपिया (*Utopia*) जो लैटिन मे प्रकाशित हुई तथा काफी समय बाद जिसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ, सामने आयी। मूर पर नव-जागरण (Renaissance) एवं मानवतावाद का काफी प्रभाव पड़ा था। उसके समय में बड़े-बड़े जागीरदारो ने खेती की भूमि की सीमाबन्दी करके भेड-पालन का व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया था। इसके परिणामस्वरूप किसानो की दशा काफी बिगड गई थी। मूर पर इसका गम्भीर प्रभाव पडा। उसका मन यह सब देख कर विचलित हो गया, परिणामस्वरूप उसने यूटोपिया नामक पुस्तक मे उस समय के इंगलैण्ड की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओ की हँसी उडाई तथा एक आदर्श समाज की कल्पना की जिसमें किसी भी प्रकार का दुःख, दारिद्र्य एव सन्ताप न था। मूर के द्वारा प्लेटो की मृत्यु के लगभग 1900 वर्ष बाद पुन एक 'काल्पनिक समाज' की भूमिका तैयार की गई।

मूर ने जिस काल्पनिक नगर का विचार किया वह 2 मील चौडा और चन्द्रकला (Crescent) के समान होना था। उसमे 54 नगर होने थे। कृषि मुख्य व्यवसाय था। प्रत्येक व्यक्ति को 6 घण्टे कार्य करना था। उत्पादन किया हुआ सब माल नगर के गोदाम मे एकत्रित किया जाना था जिसमें से प्रत्येक अपनी आवश्यकतानुसार ले सकता था। इस प्रकार वितरण में पूर्णतः साम्य था। सोना, हीरा, जवाहरात आदि का कोई मूल्य नही था। घरो मे ताले नही लगने थे, प्रति दस वर्ष बाद घर लाटरी से बदले जाने की व्यवस्था थी। उस काल्पनिक नगर मे परिवार अलग-अलग होने थे पर भोजन सब मिलकर करेंगे ऐसी व्यवस्था थी। शासन-कार्य मे सब भाग लेंगे। शिक्षा का रूप व्यावहारिक होगा।

मूर की राज-व्यवस्था भी सुन्दर और सुखद थी। प्रत्येक तीस परिवार एक मजिस्ट्रेट को चुनते जो फिलार्क कहलाता। प्रति दस मजिस्ट्रेट एक आर्क-फिलार्क को चुनते। ये आर्क-फिलार्क एक नरेश को चुनते जो जीवन-पर्यन्त लोगो पर राज्य करता। पर मूर की इतनी सुन्दर कल्पना, केवल कल्पना बन कर ही रह गयी, उसका मूल्य व्यवहार ने कुछ नही चुकाया।

सर टामस मूर के पश्चात् फ्रांसिस बेकन (Francis Bacon) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक न्यू ऐटलांटिस (*New Atlantis*) मे उस समय की सामाजिक व्यवस्था की आलोचना करते हुए एक 'आदर्श राज्य' का चित्र प्रस्तुत किया और इस प्रकार टामस मूर के लगभग 100 वर्ष पश्चात् पुन एक आदर्श राज्य की कल्पना देखने को मिलती है। फ्रांसिस बेकन ने दक्षिणी समुद्र मे स्थित एक द्वीप की कल्पना की जहाँ की जनता काफी सुखी और प्रसन्न है। इस द्वीप मे बेकन ने एक कालेज की भी कल्पना की जिसे वह 'सालोमन हाउस' (Salomon's House) कहता है। इसमे नित्य वैज्ञानिक प्रयोग हुआ करेंगे। फ्रांसिस बेकन स्वयं विज्ञान-प्रेमी था।

आधुनिक समाजवादी विचार प्रच्छन्न रूप से इंगलैण्ड मे चार्ल्स के समय डिगर्स (The Diggers) लोगो की मान्यताओं मे मिलते हैं। चार्ल्स व जनता के बीच जब विवाद हुए तो जनता मे एक वर्ग बना जिसको 'डिगर्स' नाम से पहिचाना गया क्योंकि इन लोगो ने उस समय (1649) खुली जमीन को लेकर खेती करने की कोशिश की तथा यह विचार किया कि उस जमीन से होने वाली उपज गरीब जनता मे बाँट दी जायेगी। अत इनका डिगर्स नाम पड गया। इन लोगों मे गेरार्ड विंस्टेन्ले (Gerard Winstanley) नामक एक विचारक भी हुआ जिसे मैक्स बीर (Max Beer) ने साम्यवादी कहा है। उसका मत था कि व्यक्तिगत सम्पत्ति सभी प्रकार की सामाजिक बुराइयों और भ्रष्टाचारों का मूल कारण है। विंस्टेन्ल का कहना था कि भूमि साझे की रहे। उसका उत्पादन एक साझे के स्टोर मे रखा जाय जहाँ से सब लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार चीजे ले सकें।" ये सभी विचार आधुनिक समाजवाद के काफी निकट हैं।

उपरोक्त सभी स्थितियों मे राज्य अथवा प्रस्थापित शासन-व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया मूलत भावुक और धार्मिक थी न कि राजनीतिक, इस कारण उसका विकास भी काल्पनिक था, परन्तु मध्ययुग के पश्चात् अठारहवी शताब्दी मे यह प्रतिक्रिया राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर हुई। इस प्रतिक्रिया मे आधुनिक समाजवाद की अनेक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। वस्तुत अठारहवी सदी मे भाप तथा उससे चलने वाले यन्त्रो का आविष्कार हुआ जिसने औद्योगिक क्रान्ति को जन्म दिया। इसके परिणामस्वरूप एक नयी सभ्यता और नये सामाजिक मूल्य विकसित हुए। इन सबके परिणामस्वरूप लोगो के विश्वास और मान्यताये *बदलने लगी। समाज मे एक नये वर्ग 'मजदूर वर्ग' का धीरे-धीरे आविर्भाव हो* चला, धन का असमान वितरण होने लगा, व्यक्तिगत स्वामित्व बढने लगा, जिसके कारण समाज मे अन्याय, शोषण और दारिद्र्य की वृद्धि हुई। इन परिस्थितियो मे यूरोप के अनेको देशो म तद्जन्य परिस्थितियों के विरुद्ध विचार विकसित *होने लगे। ये विचार फ्रांस, इगलैण्ड, जर्मनी, आदि देशो मे विशेष रूप से सामने* आये।

फ्रान्स की रक्तक्रान्ति के पश्चात् ऐसी आशा की गई थी कि कोई नवीन सामाजिक और राजनीतिक पद्धति विकसित होगी जिसमे सभी को सामाजिक न्याय तथा महत्त्व मिलेगा। पर क्रान्ति के पश्चात् भी कोई सन्तोषजनक सामाजिक प्रणाली विकसित नहीं हुई। इस क्रान्ति से कृषकों को अवश्य कुछ लाभ मिला पर शहरो का जीवन अप्रभावित-सा रहा। क्रान्ति मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थन किया गया अत पूँजीपतियों की सम्पत्ति का अधिकार सुरक्षित रहा। ऐसी स्थिति मे व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार (Right of Private Property) की गम्भीर आलोचना की जाने लगी। सभी बुराइयो का कारण उसमे दीखने लगा। बैबुफ व कैबेट ने 'पूर्ण समानता' के सिद्धान्त को स्वीकार किया। बैबुफ का कहना था कि

"समाज का उद्देश्य सबको सुखी बनाना है जिसका अर्थ है सब समान हो।" समानता सम्बन्धी इन विचारो का आगे काफी प्रभाव हुआ। लास्की आदि विचारको का तो यहाँ तक कहना है कि वेबुफ के पूर्व वस्तुत- फ्रान्स मे क्रान्ति के पश्चात् सही अर्थों मे कोई समाजवादी हुआ ही नही। लगभग यही से उन्नीसवी सदी का समाजवादी चिन्तन प्रारम्भ होता है। उन्नीसवी सदी का समाजवाद अपनी विशेषताओ और प्रवृत्तियो मे, अठारहवी सदी के समाजवाद और बाद के मार्क्सवादी समाजवाद, दोनो से भिन्न था। यह अनिवार्यतः अपने पूर्व के समाजवादी विचारो से आगे था, पर मार्क्स के समाजवादी दृष्टिकोण की तुलना मे नही। यह मार्क्स के समाजवाद से इन अर्थों मे भी भिन्न था कि इसका दृष्टिकोण सहानुभूति और विभिन्न वर्गों के पारस्परिक सहयोग पर टिका था। कुल मिलाकर यह तद्जन्य परिस्थितियों के विरुद्ध बुद्धिवाद की प्रतिक्रिया थी। इसमे सन्देह नही कि उनके सकल्प महान् थे पर उनके विचारो के आधार कुछ परम्परागत नैतिक मूल्यो पर टिके थे। वे विशुद्ध वैज्ञानिक नही थे, वे अपने नवीन विचारो को यथार्थ की भूमि पर खडा नही कर सके, अत. ऐन्जिल्स अपनी पुस्तक **सोशलिज्म : यूटोपियन एण्ड साइन्टिफिक** मे इस प्रकार के समाजवाद को भी 'स्वप्नलोकीय समाजवाद' मानता है। उसका कहना है कि "प्रारम्भिक दिनो के समाजवाद ने निश्चित रूप से उत्पादन के स्थापित पूँजीवादी तरीको और उनके परिणामो की कटु आलोचना की, पर वे उनकी व्याख्या नही कर सके और इस कारण वे सफल नही हो सके। वे उसे बुरा कह कर केवल अस्वीकृत कर सके।"[11] इस युग के प्रमुख समाजवादी—काल्पनिक, समाजवादी—विचारको मे सेन्ट साइमन (St Simon), चार्ल्स फोरियर (Charles Fourier) रॉबर्ट ओवेन (Robert Owen), आदि प्रमुख हैं। उनके राजनीतिक विचारो का अध्ययन आवश्यक है।

सेन्ट साइमन (St. Simon, 1760–1825)

सेन्ट साइमन एक ऐसा विचारक था जिस पर फ्रान्स की क्रान्ति का गम्भीर प्रभाव पडा था। फ्रान्स की क्रान्ति के समय उसकी उम्र 30 वर्ष से भी कम थी। वह पहिले पादरियो के सम्पर्क मे रहा, फिर सेना मे भर्ती हो गया। क्रान्ति के समय उसने अपने कुलीन पद (Nobility) का त्याग किया। बाद मे उसने सेना से त्याग-पत्र दे दिया और एक विचारक के रूप मे प्रगट हुआ।

सेन्ट साइमन के युग मे समाजवादी युग समाप्त हो रहा था तथा औद्योगिक युग का विकास हो रहा था। धर्म तिरोहित हो रहा था। अत प्रश्न यह था कि औद्योगिक समाज मे जो धर्मरहित-सा था शान्ति कैसे स्थापित हो और सुख कैसे

[11] "The socialism of earlier days certainly criticised the existing capitalistic mode of production and its consequences. But it could not explain them, and, therefore, could not get the mastery of them It could only simply reject them as bad" —Engels, *Socialism · Utopian and Scientific*, p 49

मिले ? साइमन ने इसका उत्तर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक दि क्रिश्चियनिज्म (*The Christianism*) में दिया है। उसका विचार था कि आधुनिक समाज के विकास के लिए विज्ञान, उद्योग तथा पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता है। उसने वर्ग-संघर्ष का अथवा पारिश्रमिक समानता का प्रतिपादन नहीं किया।

सेन्ट साइमन ने यह विचार व्यक्त किया कि राजनीति उत्पादन का विज्ञान है। राजनीतिक परिवर्तनों का आधार आर्थिक या उत्पत्ति के साधनों में होने वाले परिवर्तन ही हैं। उसने यह भी कहा कि आगे जाकर राजनीति अर्थशास्त्र में समा जायगी और 'राजसत्ता का उन्मूलन' हो जायगा। अपनी पुस्तक **दि रिआर्गनाइजेशन ऑफ यूरोपियन सोसाइटी** (*The Reorganisation of European Society*) में वह ऐसे समाज के निर्माण के लक्ष्य को घोषित करता है जिसमें कि प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर द्वारा प्राप्त क्षमता के आधार पर स्थान मिले और कार्य के अनुसार पारिश्रमिक मिले। उसने उत्तराधिकार की प्रणाली का विरोध किया तथा उत्पादन पर राज्याधिकार का समर्थन किया।

सेन्ट साइमन ने एक वर्गविहीन समाज की योजना रखी। उसमें प्रमुख अधिकारी राजा होना था। *व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की* शक्तियाँ संसद् के तीन सदनों में विभक्त होनी थीं। प्रथम सदन में इंजीनियर, चित्रकार आदि, द्वितीय सदन में गणितज्ञ, वैज्ञानिक, दार्शनिक, एवं तृतीय सदन में उद्योगपति होने थे। इसमें व्यवस्था यह थी कि प्रथम सदन प्रस्ताव करे, द्वितीय सदन *उसकी जाँच करे और तृतीय सदन उनको स्वीकार करे। उसने यूरोपियन संसद् की* स्थापना का विचार किया।

सेन्ट साइमन के विचार उच्च और आदर्शवादी थे पर इनको व्यावहारिक रूप कैसे दिया जाय वह यह न बता सका। उसके विचारों का प्रभाव अवश्य दूरगामी हुआ। विचारक उसमें 'सर्वहारा की प्रथम अभिव्यक्ति' के तथ्य को देखते हैं।

चार्ल्स फोरियर (Charles Fourier, 1772–1837)

चार्ल्स फोरियर दूसरा फ्रान्सीसी विचारक था जो विश्व के उच्चकोटि के व्यंग्य लेखकों में से एक था। उसने फ्रान्स की क्रान्ति के पश्चात् उत्पन्न अनाचार और अनास्था का चित्रण किया है।

फोरियर ने एक आदर्श समाज की योजना बनाई। उसका विचार था कि इसे स्वीकार करने पर पृथ्वी पर 70 हजार वर्ष तक 'स्वर्णिम युग' की स्थापना हो *सकेगी। उसने समाज के नये प्रकार के संगठनों का सुझाव दिया जिन्हें उसने* फैलाग (Phalanges) *संज्ञा दी। उसका यह भी विचार था कि प्रत्येक संगठन की* संख्या 1600 से 2,000 तक हो। इनमें प्रत्येक परिवार चार-चार व्यक्तियों का हो। प्रत्येक फैलाग में तीन प्रकार के वर्ग के लोग होंगे—1 श्रमजीवी, 2 उद्योगपति, 3. कुशल श्रमिक। ऐसे समाज का प्रमुख व्यवसाय कृषि होगा, जीवन-यापन

के लिए आवश्यक धन सभी परिवारों को मिलेगा। फोरियर मूलतः एक सहकारवादी था जो विकेन्द्रीकरण का समर्थक था।

रॉबर्ट ओवेन (Robert Owen, 1791–1858)

रॉबर्ट ओवेन ब्रिटिश समाजवाद के संस्थापकों में प्रमुख और अपने समय का प्रभावशाली विचारक था। यद्यपि वह पूँजीपति था तथापि उसका विश्वास मानव प्रकृति के सद्गुणों मे था। औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप मजदूरों की जो दयनीय स्थिति हो रही थी ओवेन उससे दुखी था। व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण को देखकर उसने कहा, "मैंने बहुत जल्दी ही यह जान लिया कि निर्जीव मशीनों की देखभाल कितनी सावधानी से की जाती है और किस तरह उन मशीनों की उपेक्षा होती है जो प्राणवान् (मजदूर) है।" उसका विचार था कि मानव स्वभाव अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख प्राप्त करना चाहता है। परन्तु इस लक्ष्य की प्राप्ति में निजी सम्पत्ति, धर्म और विवाह प्रथा बाधायें है, अतः उसने जो आदर्श योजना तैयार की उसमे इनको कोई स्थान नहीं दिया। रॉबर्ट ओवेन पहिला व्यक्ति था जिसने समाजवाद शब्द का प्रयोग किया। ओवेन के विचारों को उसकी दो पुस्तकें ए न्यू व्यू ऑफ सोसाइटी (*A New View of Society*) तथा दि बुक ऑफ दि न्यू मॉरल वर्ल्ड (*The Book of the New Moral World*) भली प्रकार प्रदर्शित करती हैं।

ओवेन ने मजदूर वर्ग के लिए काफी कार्य किये। उसका विचार था कि रोजगार दिलाने के लिए एक श्रम कार्यालय (Labour Bureau) स्थापित किया जाय। उसने ससद् से माँग की कि कार्य करने का अधिकतम समय 12 घण्टे निश्चित किया जाय तथा कारखानों एवं मिलों मे 10 वर्ष से कम के बच्चों को नौकर न रखा जाय। उसने स्वय मजदूरों की दशा सुधारने के लिए कुछ प्रयोग किये थे। उसने उत्तरी अमेरिका के इण्डियाना राज्य में भूमि खरीद कर 'न्यू हारमनी' (New Harmony) नामक सहकारी समुदाय की स्थापना की। यह समाजवादी पद्धति से बसाई गई थी, हालाँकि वह सफल नहीं हुआ। इसी प्रकार 1800 से लेकर 1829 तक स्कॉटलैंड मे उसने 'न्यू लानार्क मिल' (New Lanark Mill) का प्रबन्ध किया। यहाँ ओवेन ने काफी सुधार किये और नया स्वस्थ वातावरण बनाया। यहाँ के 2,500 कर्मचारी एक आदर्श परिवार मे बदल गये। यहाँ न्यायालय, पुलिस आदि की कोई आवश्यकता नहीं रही। एक बार जब रुई के अभाव मे कारखाना चार माह बन्द रहा तो भी मजदूरों को बाद में चार माह का वेतन दिया गया।

यहाँ तक तो ठीक, पर बाद मे ओवेन कल्पनावादी हो चला। उसने विचार दिया कि छोटे-छोटे गाँव बसाये जावें, इनमे अधिकतम दो हजार व्यक्ति रहें। वहाँ खेती व उद्योग दोनों हों। रहने के सुविधाजनक मकान हों। बच्चों का प्रबन्ध समाज करे। प्रत्येक समुदाय आत्मनिर्भर हो। उसने स्वय ऐसे प्रयोग किये पर वह सफल न हुआ।

ओवेन ने 1833 मे प्रथम श्रमिक कांग्रेस की अध्यक्षता की। इगलैंड के

फैक्ट्री एक्ट को बनवाने का श्रेय ओवेन को है। उसने लेबर एक्स्चेन्ज (Labour Exchange) स्थापित किया, इसमे उत्पादक अपना सामान देंगे तथा इसके बदले मे उनको लेबर नोट्स (Labour Notes) मिलेंगे। इन नोटो से वे इनके मूल्य के बराबर की वस्तुये खरीद सकेंगे।

रॉबर्ट ओवेन की मृत्यु के पश्चात् इगलैंड मे और भी समाजवादी विचारक हुए। इनमें विलियम थाम्सन तथा टामस हाज्स्किन प्रमुख हैं। यह परम्परा और भी आगे चली और काल्पनिक समाजवादियो ने अनेक विचारको को प्रभावित किया। इगलैंड की भाँति अमेरिका मे भी काल्पनिक समाजवादी हुए जिनमे अलबर्ट ब्रिस्बेन (Albert Brisbane) तथा चार्ल्स डैना (Charles Dana) प्रमुख थे। इतना ही नहीं तो समाजवाद के वैज्ञानिक रूप को ग्रहण करने के पश्चात् भी काल्पनिक समाजवादियो की परम्परा समाप्त नही हुई। इस क्रम मे विलियम मोरिस की प्रसिद्ध रचना न्यूज फ्राम नोव्हेयर (*News From Nowhere*) और एच० जी० वैल्स की मॉडर्न यूटोपिया (*Modern Utopia*) प्रमुख हैं। वस्तुत समाज के अमानवीय व्यवहारो और उसकी दु खपूर्ण स्थिति से क्षुब्ध होकर एक नये स्वप्निल फेनिल जगत् की कल्पना कई विचारको ने की है। 19वी सदी मे तो यह एक प्रमुख और प्रभावशाली तरीका रहा है जैसा कि फ्रैड्रिक एन्जिल्स ने कहा है, "19वी सदी मे विचारो के स्वप्निल तरीको ने काफी लम्बे समय तक समाजवादी विचार का पथ-प्रदर्शन किया है और अभी भी वह उनमे से कुछो के मार्ग का प्रदर्शन कर रही है।"[12]

वैज्ञानिक समाजवाद

समाजवाद के ऐतिहासिक विकास-क्रम मे उसकी अनेक मान्यताये विकसित हो चुकी है पर समाजवाद को एक वैज्ञानिक रूप मे प्रस्तुत करने का कार्य कार्ल मार्क्स ने पूरा किया। कार्ल मार्क्स का दृष्टिकोण अनिवार्यत अन्य पूर्वकालीन समाजवादियो की अपेक्षा पूर्णत वैज्ञानिक था, इसका प्रमाण यह है कि जहाँ पहिले के समाजवादी विचारको ने तद्जन्य समाज एव उसकी व्यवस्थाओ से क्षुब्ध होकर स्वप्निल जगत् की स्थापना की कल्पनायें की और सामाजिक अन्याय, शोषण व उत्पीडन के अन्त के लिए काल्पनिक और आदर्श राज्य की स्थापना का विचार किया वहाँ मार्क्स ने समाज की परिचालिका शक्ति का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परिशीलन किया और समाज मे व्याप्त शोषण, उत्पीडन आदि को दूर करने के लिए व्यावहारिक उपाय बतलाये। समाज की दुरवस्था से क्षुब्ध होकर उसने पलायनवादी अथवा काल्पनिक दृष्टिकोण नही अपनाया अपितु उसने इसी जगत् मे कार्य करने का और इस दुरवस्था को सतत सघर्ष द्वारा दूर करने का सघर्षशील मार्ग बतलाया। कोकर का कहना है कि समाजवाद के एक सश्लिष्ट और व्यवस्थित रूप का निश्चित

[12] "The Utopian's mode of thought has for a long time governed the socialist idea, of the nineteenth century, and still governs some of them"
—Frederick Engels, *Socialism Utopian and Scientific*, p 41

रूप से विकास, जो आज उसे प्राप्त है, अनिवार्यत. 19वी सदी के मध्य मे कार्ल मार्क्स की रचनाओ मे हुआ। वस्तुत. इसका एक यह भी कारण है कि प्रत्येक विचार को पूर्णत परिपक्व होने के लिए उस विचार के अनुरूप वातावरण और ऐतिहासिक स्थितियों की आवश्यकता होती है। वातावरण के अभाव मे विचार परिपक्व नही हो पाते, जैसा कि ऐंजिल्स का कहना है कि "अपरिपक्व समाज मे केवल अपरिपक्व सिद्धान्तो का ही जन्म हो सकता है।" मार्क्स को अपने विचारो को विकसित करने के लिए एक परिपक्व समय और ऐतिहासिक स्थितियाँ मिल चुकी थी। औद्योगिक क्रान्ति और पूँजीवादी समाज ने उसकी भूमिका अच्छी तरह तैयार कर ली थी। औद्योगिक सर्वहारा वर्ग सख्या में काफी अधिक और अन्य वर्गों से काफी बडा हो चुका था। उसका स्वतन्त्र सगठन और प्रेस विकसित हो चला था। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या—चाहे वह पूरी तरह सही न हो—और अतिरिक्त-मूल्य का सिद्धान्त जो पूँजीवाद के विकास के रहस्य पर भली प्रकार प्रकाश डालता है खोज लिया गया था। इनके परिणामस्वरूप समाजवाद को एक वैज्ञानिक रूप लेना ही था।

मार्क्स ने जगत् और उसके व्यापार को समझने की एक नयी दृष्टि दी जिसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) कहा गया। समाजवादी चिन्तन का यह दार्शनिक आधार बना। यह दृश्य जगत् को वास्तविक और सत्य मानता है। इसी आधार पर मार्क्स ने अनेक व्यावहारिक मत स्थापित किये। उसने मानव इतिहास की गतिविधियो के मूल मे इसी भौतिक तत्त्व को पाया। उसका कहना था कि भौतिक अवस्थायें हमारे कार्यों की गति और दिशा को निश्चित करती है। इन भौतिक अवस्थाओ मे सर्वाधिक प्रभावी अवस्था 'उत्पादन प्रणाली' है, अत हमारे कार्यों और सम्बन्धो के निर्धारण मे 'उत्पादन प्रणाली' का काफी महत्त्वपूर्ण स्थान है। समाज मे वर्ग आर्थिक आधार पर बनते हैं। समान आर्थिक हितो के लोग स्वाभाविक रूप से एक वर्ग को जन्म देते हैं। प्रारम्भ से अभी तक समाज मूलत. इसी आधार पर वर्गों मे बँटा हुआ है।

कार्ल मार्क्स का कहना है कि औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् समाज प्रमुख रूप से पूँजीपति और मजदूर वर्ग मे बँट गया है। पूँजीपति वर्ग सम्पत्ति का स्वामी है, उसके अधीन कल, कारखाने एव फैक्ट्रियाँ हैं। वह सख्या मे कम है। इसके विपरीत मजदूर वर्ग के पास कुछ भी नही है, उसके पास उसका शारीरिक श्रम है, वह सर्वहारा है तथा सख्या मे पूँजीपति वर्ग से कही अधिक है। दोनो के हित और दोनो के लक्ष्य परस्पर विरोधी हैं। दोनों ही अपने-अपने हितों की रक्षा करना चाहते हैं, अतः दोनो मे सघर्ष होता है। यही वर्ग-सघर्ष है। मार्क्स ने इसे स्वीकार किया कि यह वर्ग-सघर्ष अति प्रारम्भिक काल से है। समाज मे जब से आर्थिक हितो के आधार पर वर्ग बने तभी से वर्ग सघर्ष भी है।

मार्क्स पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना करता है। यह पूँजीवादी व्यवस्था क्या है ? पूँजीवादी व्यवस्था वह व्यवस्था है जिसमे उत्पादन तथा वितरण के साधन

कुछ ही लोगों की सम्पत्ति है, तथा उनका प्रयोग वे अधिक से अधिक धन कमाने के लिए करते हैं। इस व्यवस्था मे पूंजीपति वह है जो सम्पत्ति को किसी उद्योग मे लगाता है तथा उस उद्योग मे मजदूरो को नौकरी पर रखता है तथा उत्पादन से लाभ कमाता है। मार्क्स का कहना है कि यह पूंजीवाद 18वी सदी मे हुई औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम है। इस व्यवस्था मे वे अनेक दोष है जिनका विचार पहिले किया जा चुका है।

ऐसी स्थिति मे क्या किया जाना चाहिये ? मार्क्स का उत्तर सरल और निश्चित है। वह कहता है कि अन्य व्यवस्थाओं के समान पूंजीवादी व्यवस्था मे भी अपने विनाश के तत्त्व मौजूद हैं। अत पूंजीवाद का अन्त अवश्यम्भावी है। पूंजीवाद के पश्चात् जो व्यवस्था आयेगी वह समाजवाद की व्यवस्था होगी। इस समाजवादी व्यवस्था मे आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक मान्यतायें बिल्कुल विपरीत होगी अर्थात् समाजवाद मे उद्योगो पर समाज का स्वामित्व होगा। उत्पादन और वितरण के साधनो पर भी सामाजिक स्वामित्व होगा। सभी सम्पत्ति समाज की होगी। समाज मे पूंजीपति और मजदूर दो प्रकार के वर्ग नही होगे। यह एक सुन्दर और सुखद व्यवस्था होगी।

इस स्थिति को प्राप्त कैसे किया जायेगा ? मार्क्स का उत्तर है कि इसे साम्यवाद की स्थापना करके प्राप्त किया जायेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह दुनिया के मजदूरों को एक होने का आह्वान करता है। उसका कहना है, "दुनिया के मजदूरो, एक हो जाओ.. तुम्हारे पास खोने के लिए जजीरो के अलावा और कुछ नही है। सम्पूर्ण दुनिया तुम्हारे जीतने के लिए पडी है।"[13] मार्क्स का विचार है कि पूंजीपति सख्या मे कम हैं और मजदूर वर्ग सख्या मे अधिक है। पुन पूंजीपति सगठित नही है, कारण सभी के स्वार्थ अलग-अलग हैं, जब कि मजदूर वर्ग एक है। अत इस सघर्ष मे मजदूर वर्ग की जीत निश्चित है। सघर्ष के लिए वैधानिक तरीके उचित नही है। मार्क्स का कहना है कि हिंसक तरीको से सफलता प्राप्त होगी। उसका विचार है कि नये समाज का जन्म हिंसा रूपी दाई की सहायता से ही होता है।

सघर्ष के बाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होगी और उसके बाद साम्यवाद की स्थापना होगी। यह इतिहास की अन्तिम और स्वर्णिम व्यवस्था होगी। इसमे राज्य पर सर्वहारा वर्ग का अधिकार होगा। बाद मे राज्य भी समाप्त हो जायेगा। राज्यहीन समाज स्थापित होने पर, ऐन्जिल्स के शब्दो मे, मनुष्यो का मनुष्यो पर शासन न रह कर वे सभी वस्तुओ की व्यवस्था तथा उत्पादन प्रक्रिया को नियमित करेंगे।

राज्य के सम्बन्ध मे मार्क्स के विचार महत्त्वपूर्ण है। उसका कहना है कि

[13] "Workers of all countries, unite The proletarians have nothing to lose but their chains They have a world to win "

—K Marx and F Engels, *Manifesto of the Communist Party* p 94

आदिमकालीन साम्यवाद (Primitive Socialism : Communism) मे राज्य नाम की कोई सस्था नही थी। यह सस्था बाद मे विकसित हुई। राज्य शक्तिशाली वर्ग के हितों की रक्षा करता है। पूँजीवादी व्यवस्था मे वह पूँजीपतियों के हितों की रक्षा करता है। राज्य वर्ग सघर्ष को बनाये रखता है। पर समाजवाद की स्थापना के बाद ऐसा नही होगा। समाजवाद मे राज्य समाजवाद की स्थापना का एक साधन बनेगा। राज्य की शक्ति समाजवाद मे सर्वहारा वर्ग के हाथ मे आ जायेगी। तब राज्य के स्वामित्व मे कल-कारखानो के होने का तात्पर्य समाज के स्वामित्व मे कल-कारखानों का होना होगा क्योकि उस समय केवल एक ही वर्ग बचेगा। वह होगा सर्वहारा वर्ग और उसी का प्रतिनिधि होगा राज्य। मार्क्स इस व्यवस्था को सक्रमण-काल के लिए ही स्वीकार करता है।

यहाँ एक बात का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। मार्क्स ने केवल वैज्ञानिक दृष्टि-कोण ही नही दिया अपितु उसे व्यावहारिक रूप देने के लिए उसने अपने जीवन मे कार्य भी किया। उसने मजदूरो के सगठन स्थापित किये। ससार के मजदूरो को एक करने के लिए इण्टरनेशनल वर्किंग मेन्स एसोसियेशन (International Working Men's Association) स्थापित की जिसे सक्षेप मे इण्टरनेशनल (International) कहते हैं।

कार्ल मार्क्स और ऐन्जिल्स ने वैज्ञानिक समाजवाद के विचारों का प्रतिपादन सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो आधारो पर किया। दोनो की मृत्यु के पश्चात् समाजवादी आन्दोलन कई भागों और खेमो मे बँट गया। अगले अध्यायो मे हम उनमे से कुछ का अध्ययन करेंगे।

समाजवाद के आवश्यक तत्त्व

समाजवाद ने अपने लम्बे ऐतिहासिक और वैचारिक क्रम मे निश्चित रूप से विभिन्न प्रकार की प्रणालियो और मान्यताओ का प्रतिनिधित्व किया, परन्तु इसके मूलभाव सदैव अविचल और समान रहे हैं। समाजवाद के हर रूप, प्रकार और अवस्था ने इन भावो को व्यक्त किया। इस प्रकार उनमे मौलिक एकता देखने को मिलती है। समाजवाद के वे तत्त्व जिन पर सभी समाजवादी एकमत हैं, निम्न हैं[11] :—

1. सभी समाजवादी मानते हैं कि "समाज का वर्तमान ढाँचा जर्जर है और
हारा है तमे परिवर्तन की आवश्यकता है।"
लक्ष्य परस्पर वर्तमान समाज का ढाँचा पूँजीवादी किस्म का है। इसने सम्पत्ति के वितरण
दोनो मे सघर्षो विषमताएँ ला दी हैं। राष्ट्रीय आय का बहुत बडा भाग कुछ ही पूँजी-
सघर्ष अति प्रारु पास रह जाता है। वे राजसत्ता पर अधिकार करके उसका प्रयोग अपने
बने तभी से वर्ग-
समाजवाद के इन तत्त्वो पर *Encyclopaedia of Social Sciences*
मार्क्स पूँज र किया गया है।
क्या है ? पूँजीवादी

हितो की पूर्ति के लिए करते हैं । समाज की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय है। पूंजीपति वर्ग मानवता और सामाजिक न्याय के प्रति पूर्णत उदासीन रहता है। उनका हित ही मानवता है और वही न्याय है। समाज मे शोषण हो रहा है, उत्पीडन बढ रहा है। बहुत-से लोगो की जिन्दगी कुछ लोगो की खुशहाली के लिए तबाह हो रही है। समाजवादी मानते हैं कि हालत मे परिवर्तन की आवश्यकता है। समाज के बहुत छोटे वर्ग को बहुत बडे वर्ग का शोषण करने का कोई नैतिक और मानवीय अधिकार प्राप्त नही है। राजसत्ता का प्रयोग अब कुछ ही लोग अपने स्वार्थ के लिए नही कर सकते। यह स्थिति बदलनी ही चाहिए। समाज मे उपेक्षित, शोषित और निम्न समझे जाने वाले वर्ग को उसका उचित स्थान देना ही होगा। न्याय और सामाजिक समता से पूर्ण समाज स्थापित करना ही होगा।

2 समाज मे परिवर्तन लाने से पूर्व जिन नवीन आदर्शो पर उसे सगठित किया जाना है, उनका प्रतिष्ठापन पहिले से ही किया जाना आवश्यक है। इसका कारण स्पष्ट है। यदि समाज मे परिवर्तन करने के लिए क्रान्ति की गई और क्रान्ति करने से पूर्व आदर्शों को स्पष्ट नही किया गया तो समाज मे अराजकता पैदा हो जायेगी। समाज पुराने को ध्वस्त अवश्य कर देगा, पर नवीन का निर्माण नही कर पायेगा। कारण, नवीन के निर्माण का स्वरूप उसके सामने स्पष्ट नही होगा। अत आवश्यकता इस बात की है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए सक्रिय होने के साथ ही समाजवादी समाज जिन मूलभूत आदर्शों पर सगठित किया जाना है, उन आदर्शों का प्रतिष्ठापन और उनके प्रति विश्वास की स्थापना पहिले से ही की जाय। यह इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि आदर्शों की प्रतिष्ठा की प्रेरणा सघर्षरत व्यक्ति को पलायनवादी नही बनाती। उसके अभाव मे व्यक्ति पलायन कर जाता है। अत समाजवादी इस बात से सहमत हैं कि सामाजिक परिवर्तन के पूर्व नये समाज के सगठन के मूलभूत आदर्शों के प्रति समाज को समझा दिया जाय और उसकी स्थापना कर दी जाय।

3. समाजवादियो का मत है कि उनके द्वारा निर्धारित आदर्श व्यावहारिक हैं तथा उनको प्राप्त किया जा सकता है।

वैज्ञानिक समाजवादी विचारक मार्क्स के पूर्व के स्वप्नलोकीय समाजवादियो से इस बात मे अलग है कि जहाँ स्वप्नलोकीय समाजवादियो के सिद्धान्त निरे काल्पनिक और अव्यावहारिक थे, वहाँ वैज्ञानिक समाजवादियों के सिद्धान्त पूर्णत व्यावहारिक और यथार्थ हैं। इसका एक कारण यह भी है कि समाजवादी मान्यताओं का निर्धारण समाज के यथार्थ स्वरूप को समझने के पश्चात् किया गया है। वे ऊपर से ही थोपी हुई अथवा बिना सामाजिक परिस्थितियो को समझे ही नही बनाई गई हैं। उनका समाज से बडा सम्बन्ध है। वे व्यावहारिक हैं।

4. समाजवाद का विश्वास है कि सामाजिक विषमता व्यक्तियो ने पैदा की है। अत. व्यक्ति ही इसे दूर करेंगे।

सामाजिक वैषम्य को ईश्वर ने पैदा नही किया है। आदिम कालीन अवस्था

मे समाज के अन्दर किसी भी प्रकार का वैषम्य नही था। ऐसी स्थिति मे शोषण, असाम्य और उत्पीडन का प्रश्न नही था। समाज मे सभी सानन्द रहते थे। बाद की परिवर्तित स्थिति मे व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रवृत्ति पनपी। इसके परिणामस्वरूप सामाजिक वैषम्य प्रारम्भ हो गया। आज की यह वैषम्यपूर्ण स्थिति ऐसे चन्द लोगो ने पैदा की है जिनका सम्पत्ति के बहुत बडे भाग पर अधिकार हो गया है। ऐसी स्थिति मे हम सामाजिक न्याय अथवा सामाजिक साम्य की स्थापना का विचार नही कर सकते। जब तक वैषम्य रहेगा, तब तक न्याय नही स्थापित हो सकता। अतः समाजवादियो का विश्वास है कि उस वैषम्य को जिसको समाज मे चन्द व्यक्तियो ने अपने स्वार्थ के लिए जन्म दिया है, समाजवादी व्यवस्था दूर कर देगी। प्रत्येक प्रकार के भेदभाव को समाप्त करना ही होगा। कारण, वैषम्य समाज की एकता को नष्ट करता है और समाज के स्वरूप को विकृत करता है। यह शोषण को जन्म देता है। यह अन्याय है।

5. समाजवाद का विश्वास है कि केवल आदर्श नही पर कार्य अपेक्षित है।

समाजवाद केवल सिद्धान्त नही है अपितु कार्य भी है। केवल शिवम् सोचने से ही कल्याण नही हो जाता। सुन्दरम् के विचार से ही उसकी स्थापना नही हो जाती। किसी सत्य की प्रस्थापना के लिए प्रयत्न आवश्यक होता है। सिद्धान्त उस समय फलीभूत होते हैं जबकि उनके पीछे कठोर परिश्रम एव कार्य होता है। समाजवादियो का विश्वास है कि केवल सोचने मात्र से अथवा उच्च और महान् सिद्धान्तो की उद्घोषणा मात्र से ही समाजवाद नही आ जायेगा, पर उसके लिए सगठित प्रयत्न आवश्यक है। केवल कहने से पूँजीपति लोग अपने अधिकारो को नही त्याग देगे। इसी प्रकार से विचार मात्र से ही समानता और न्याय की स्थापना अथवा शोषण का अन्त नही हो जायेगा परन्तु उसके लिए कठोर कार्य करने की आवश्यकता है। दृढ सकल्प और उसे साकार कर सकने का व्यवहार आवश्यक है।

6. समाजवाद एक जीवन-दर्शन है।

समाजवादी विचारकों का मत है कि समाजवाद जीवन का एक दर्शन है। यह एक विशिष्ट जीवन-प्रणाली है। समाजवाद केवल राजनीतिक पद्धति अथवा आर्थिक व्यवस्था मात्र नही है, अपितु व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पक्ष का समाधानकारक विचार है। समाजवाद का एक दर्शन है। इस जगत् को समझने और देखने की उसकी एक दृष्टि है। प्रकृति के गुह्यतम रहस्यो को पहिचानने की एक दार्शनिक प्रक्रिया है। वह केवल एक भावुकता अथवा मात्र व्यक्तिवाद की प्रतिक्रिया नही है। एक नकारात्मक विचार नही है अपितु इससे अधिक यह एक व्यापक जीवन दर्शन है। इसकी कुछ मान्यतायें हैं। इनके कुछ भौतिक प्रतिमान हैं। समाजवाद की कुछ भावगत विशेषतायें हैं। यह भौतिकवादी दर्शन पर आधारित है जिसमे धर्म, रूढियो और परम्पराओ को कोई महत्त्व नही है।

समाजवाद के सामान्य सिद्धान्त

1. समाजवाद पूँजीवाद का विरोधी है। समाजवादियो की दृष्टि मे पूँजीवाद वर्तमान समय की सभी विषमताग्रो ग्रौर ग्रसमानताग्रो का मूल कारण है। पूँजीवादी श्रमिक ग्रौर मालिक दोनों के प्रयत्न से प्राप्त लाभ को हजम कर जाते हैं। समाजवाद पूँजीवाद को समाप्त करेगा। वह पूँजीवाद के दोषो को बतलाकर यह सिद्ध करता है कि यह मजदूरो का शत्रु है। पूँजीवादी समाज मे ईर्ष्या ग्रौर ग्रसन्तोष का वातावरण सदैव बना रहता है। यह व्यवस्था सम्पूर्ण समाज की प्रगति की ग्रौर मानवता की उन्नति की किसी भी प्रकार से कारण नही बन सकती। इस व्यवस्था मे सामाजिक विचार ही समाप्त हो जाते हैं। पूँजीवाद का कभी भी सामाजिक उद्देश्य नही होता। ग्रत इस व्यवस्था को तो बदलना ही है।

2 (ग्र) समाजवाद व्यक्ति ग्रौर समाज मे, समाज पर ग्रधिक जोर देता है। व्यक्ति की तुलना मे समाज बडा है। वूल्ज़े के ग्रनुसार, "कुछ थोडे ही व्यक्ति बातो की गम्भीरता मे उतरते है। समाजवाद की शक्ति—जिसके कारण उसे भारी जनता पर प्रभावशाली ग्रधिकार प्राप्त होता है—तर्क नही ग्रपितु समता की माँग है।"

सामाजिक लाभ के सामने व्यक्तिगत लाभ का कोई महत्त्व नही है। सभी योजनाएँ ग्रौर सभी प्रकार के प्रयत्न समाज-प्रधान होने चाहिएँ। समाज के बिना व्यक्ति का कोई मूल्य नही है। समाज मे सावयव एकता होती है, इस ग्रर्थ मे नही कि समाज एक सावयव रचना है, पर वस्तुत इस ग्रर्थ मे कि मनुष्य मे मूलत सामाजिक भावना होती है ग्रौर समाज के बिना उनका कोई महत्त्व नही। ग्रत उत्पादन समाज की ग्रावश्यकताग्रो को ध्यान मे रखकर ही किया जाना चाहिए, जिसका मूल लक्ष्य समाज का ग्रधिक से ग्रधिक लाभ है।

(ब) समाजवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता की ग्रपेक्षा समानता पर ग्रधिक जोर देता है। हालाँकि ये व्यक्ति भी स्वतन्त्रता की बात को स्वीकार करते है, पर इनका विचार है कि समानता के वातावरण मे ही स्वतन्त्रता की प्राप्ति सम्भव है ग्रौर इस प्रकार स्वतन्त्रता को हासिल करने के इनके तरीके व्यक्तिवादी तरीके से भिन्न हैं। सी० ई० एम० जोड का कहना है कि "दीर्घकालीन दृष्टि से समाजवादियो ग्रौर व्यक्तिवादियों के लक्ष्यो मे कोई ग्रन्तर नही है, दोनो का लक्ष्य व्यक्ति को ग्रधिकतम स्वतन्त्रता देना है।" वस्तुत समाजवाद द्वारा व्यक्ति को दी जाने वाली स्वतन्त्रता के तरीके मे ग्रन्तर है। व्यक्तिवादी यह सोचते है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित व्यक्ति के ग्रावश्यक है। उनके लिए स्वतन्त्रता बन्धनों के ग्रभाव मे ही ग मे निमग्न बन्धनो के ग्रभाव को ही स्वतन्त्रता कहते हैं। राज्य कोई का कोई पारस्परिक व्यवहारो मे किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नही मान्यता नही पर समाजवाद स्वतन्त्रता की प्राप्ति के इन तरीको को ग कि स्थिति ऐसी

कर मानता है। समाजवादियों के मत में सही स्वतन्त्रता की प्राप्ति उसी समय सम्भव है जबकि व्यक्ति भौतिक चिन्ताओं से मुक्त हो। भौतिक चिन्ताओं से मुक्त होने पर ही व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य कर सकता है। व्यक्ति के स्वतन्त्र हो जाने पर उसे आर्थिक दुश्चिन्तायें घेरे रहे तो वह कदापि अपनी स्वतन्त्रता का सही अर्थों में उपभोग नहीं कर पायेगा। ऐसी स्थिति में उसकी स्वतन्त्रता का विचार थोथा है। अतः व्यक्ति के स्वय के व्यक्तित्व के विकास के लिए उसका आर्थिक दुश्चिन्ताओं से मुक्त होना आवश्यक है। यह कार्य राज्य कर सकता है। अतः राज्य की शक्तियों का विस्तार आवश्यक है। व्यक्तिवादी समाज में, जहां शोषण होता हो, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य सम्भव नहीं, इसके लिए तो पारस्परिक सहयोग-पूर्ण वातावरण और समानतायुक्त समाज चाहिए। अतः व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तो दोनों ही चाहते हैं, पर समाज में उसे प्राप्त करने के दोनों के तरीकों में अन्तर है।

3 समाजवाद आर्थिक क्षेत्र में प्रतियोगिता को समाप्त कर उसके स्थान पर सहयोग की भावना का समर्थक है। प्रतियोगिता पूंजीवाद का अथवा व्यक्तिवादी अर्थव्यवस्था का मूलाधार है। समाजवाद प्रतियोगिता में विश्वास नहीं करता। इसमें आर्थिक अपव्यय अधिक होता है। डा० हेडन गैस्ट के शब्दों में, "मेरे मन में समाजवाद प्रतियोगिता की भावना के स्थान पर सहयोग की भावना का रूप है, चाहे वह स्थानीय, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों में हो।" निर्बन्ध प्रतियोगिता में अनुचित और अनुचित साधनों के अपनाये जाने की पूरी-पूरी सम्भावना रहती है, जिससे कि समाज भ्रष्ट बन सकता है। दूसरे, यह कुछ व्यक्तियों के निजी लाभ की चीज है, पूरे समाज के लाभ की नहीं है। अतः समाजवाद सहयोग पर विश्वास करता है, प्रतियोगिता पर नहीं।

4. समाजवाद भूमि, कारखानों और उद्योगों पर व्यक्तिगत स्वामित्व का विरोधी है। उसका मत है कि इन पर व्यक्तिगत स्वामित्व का मतलब है—पूंजीवाद का समर्थन। और फिर पूंजीवादी समाज के आवश्यक कुप्रभावों से जिनमें शोषण, अन्याय और असमानता प्रमुख है, जनता त्रस्त होती है तथा कुछ लोगों की खुशहाली के लिए समाज के शेष लोगों के जीवन की उपेक्षा की जाती है।

भूमि प्रकृति की चीज है। इस पर किसी एक व्यक्ति का स्वामित्व और किसी एक की स्वार्थ-सिद्धि के लिए उसका प्रयोग गलत और अन्यायपूर्ण है। ब्लैंचफोर्ड के शब्दों में, "किसी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं कि वह किसी ऐसी वस्तु को अपनी कह सके जिसे उसने बनाया नहीं है। कोई भी भूमि को बनाता
उसकी ए भूमि लोगों की है। परिणामतः समाजवाद के अधीन किसी भी
है। वह के र बात की अनुमति नहीं दी जा सकती कि वह भूमि के एक इंच
नकारात्मक ड़ सके।"
इसकी कुछ म
विशेषतायें हैं। प्रकार की स्थिति उद्योगों के सम्बन्ध में है। समाजवाद उद्योगों
परम्पराओं को मित्व के स्थान पर सामाजिक स्वामित्व—जो व्यवहार मे

राज्य का स्वामित्व होता है—का समर्थक है। व्यक्तिगत स्वामित्व के कारण उद्योगो का आधार व्यक्तिगत लाभ की भावना होती है। इसके विपरीत यदि समाज का स्वामित्व उन पर होगा तो उद्योग सामाजिक लाभ की दृष्टि से वस्तुओं का उत्पादन करेगा और लाभ भी समाज का होगा। जब सभी उद्योगो पर समाज का स्वामित्व होगा, तो स्वाभाविक रूप से प्रतियोगिता का स्थान सहयोग ले लेगा। समाजवाद भूमि और उत्पादन के सभी साधनो को राष्ट्रीय सम्पत्ति मानकर उन पर समाज के स्वामित्व का समर्थन करता है।

समाजवाद की आलोचना

1. कहा जाता है कि समाजवाद जीवन का पूर्ण दर्शन है, पर यह कहना गलत है। इसमे व्यक्ति के जीवन का पूर्ण विचार नही किया गया है। समाजवाद व्यापक रूप से केवल आर्थिक व्यवस्था का ही विचार करता है। मनुष्य एक चेतन प्राणी है। वह केवल भौतिक आवश्यकताओं का समुच्चय मात्र ही नही है, अपितु उससे बहुत कुछ अधिक है। उसकी कुछ आध्यात्मिक मान्यताएँ और आवश्यकतायें भी हैं जिनका पूर्ण होना उसके लिए आर्थिक दुश्चिन्ताओ से मुक्त होने से भी अधिक आवश्यक है। समाजवाद के पास उनको पूर्ण करने का कोई रास्ता नही है। वह ऐसी किसी भी व्यवस्था को विकसित नही कर सका है जिसमे कि मानव जीवन के इस पक्ष का समाधान उपस्थित किया गया हो। वस्तुत समाजवाद मे जीवन के इस पक्ष की पूर्णत उपेक्षा की गई है। पर ऐसी कोई भी व्यवस्था जो व्यक्ति के जीवन के इस आध्यात्मिक पक्ष को उपेक्षित करके चले, व्यक्ति का पूर्ण और सम्यक् विचार नही कर सकती। अत वह पूर्णत एकाकी, अपूर्ण और अविकसित मानी जानी चाहिए। वह जीवन का दर्शन नही पर अटपटी वृत्ति मात्र है। जीवन का पूर्ण दर्शन वह है जिसमें व्यक्ति के पूरे जीवन का विचार किया गया हो। व्यक्ति की सभी प्रवृत्तियो मे सामजस्य स्थापित करते हुए उसे उच्चतम स्थिति को प्राप्त करने के लिए अग्रसित (प्रवृत्त) किया गया हो। इस दिशा और विचार की प्राप्ति हम एक दूसरी व्यवस्था म होती है जिसे हम धर्म की व्यवस्था कहते हैं।

2. व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध मे समाजवादी दृष्टिकोण प्रकारान्तर से उसी दोष से ग्रसित है जिससे कि व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ग्रसित था। समाजवाद समाज को अधिकाधिक महत्त्व देता है और उसके सामने व्यक्ति को नगण्य कर देता है। यह ठीक है कि व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओ की सिद्धि समाज मे ही करता है, समाज व्यक्ति से बडा है तथा समाज के हित के सामने व्यक्ति के हित गौण हैं। पर समाजवादी तो व्यक्ति के व्यक्तित्व को ही समाज मे निमग्न कर देते हैं, उसको पूर्ण उपेक्षित कर देते हैं। समाजवाद के लिए व्यक्ति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही। वह व्यक्ति के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को भी मान्यता नही देता। उसके लिए व्यक्ति के जीवन की कोई गरिमा ही नही। जबकि स्थिति ऐसी

नही है। समाज बिना व्यक्तियों के नही बनता। उसकी संरचना के मूल में व्यक्ति अवस्थित है। वस्तुतः दोनों का सम्बन्ध अन्योन्य है। किसी एक की पूर्ण उपेक्षा और दूसरे की पूर्ण प्रतिष्ठा एकदम गलत और अधूरी है। यह एकांगी दृष्टिकोण है। समाजवाद व्यक्ति के बारे में एक भ्रामक दृष्टिकोण को अपनाता है और अनावश्यक रूप से उसे और उसके व्यक्तित्व को दबाने का प्रयत्न करता है। अतः समाजवाद मे मानव की गरिमा सुरक्षित नही है। हमे समाज और उसके समाजकत्व तथा मनुष्य और उसके मनुष्यत्व दोनो की रक्षा सम्यक् रूप से करनी है। अतः आवश्यकता एक सन्तुलित और स्वस्थ दृष्टिकोण की है जो दोनों मे तारतम्य और सन्तुलन बनाये रखे। समाजवाद मे यह नही है।

3. समाजवाद व्यक्ति को एक भौतिक प्राणी मानता है। वह व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताओं पर सर्वाधिक जोर देता है। उनकी पूर्ति के लिए वह विज्ञान और यान्त्रिक उन्नति का सहारा लेता है। पर इसका एक उल्टा ही प्रभाव हो रहा है। आज वैज्ञानिक आविष्कार उत्पादन के तरीकों पर हावी हो गए है। परिणाम-स्वरूप उत्पादन के साधनों का निर्धारण नवीन-नवीन यन्त्रों के अनुसार हो रहा है, मानव-कल्याण की दृष्टि से नही। उत्पादन की इस व्यवस्था में मनुष्य के स्वतन्त्र जीवन का, उसकी कला का और उसकी निपुणता का लोप हो रहा है। यन्त्रो के सामने उसका कोई महत्त्व नहीं। उसका महत्त्व आज मशीन से भी कम है। रही बात तो यह है कि वह मशीन का पुर्जा मात्र बनकर रह गया है। ऐसा लगता है जैसे आज मनुष्य का मशीन पर शासन नही है, परन्तु मशीन का मनुष्य पर शासन हो गया है। इस सबके पीछे मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के विचार ही भूमिका का कार्य कर रहे हैं। पर भौतिक उन्नति अथवा भौतिक समृद्धि ही तो सब कुछ नही है। वह दुःख, दैन्य और असन्तोष को दूर नहीं कर सकती। कारण वह तो एक पक्ष मात्र है। हमे व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन का विचार कर उसके अनुरूप उत्पादन की व्यवस्था को तथा उपभोग की प्रणाली को विकसित करना पड़ेगा। पर समाजवाद मे यह सब सम्भव नही है क्योंकि वह एक पक्ष को ही पूरा जीवन मानकर बैठा है। वह एक सार्थक जीवन की प्रेरणा नही है, अपितु जीवन को काट-छाँट कर आर्थिक प्राणी मात्र बनाने का विचार है।

4. जहाँ तक शोषण, दारिद्र्य, उत्पीडन और असमानता को समाप्त कर सर्व-हारा वर्ग को समाज मे समान और सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने का प्रश्न है, समाजवाद को इन भावनाओं से विरोध का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता, परन्तु जिन साधनों और पद्धति से समाजवादी असमानता को समाप्त करना चाहते हैं वह पद्धति परिणाम में ऐसी व्यवस्था स्थापित करती है जिसमे असन्तुलन तथा अशान्ति होना स्वाभाविक ही है।

कार्ल मार्क्स ने एक विचार और योजना दी थी। बोल्शेविकों ने उसके मुताबिक रूस की सत्ता पर अधिकार भी किया, पर इसके बाद जो शासन-तन्त्र वहाँ

स्थापित हुआ उसने नागरिक स्वतन्त्रता और राजनीतिक समानता दोनो का ही अन्त कर दिया। वस्तुतः समाजवादियो को लोकतान्त्रिक आदर्शों के कारण ही जन-सामान्य की सहानुभूति प्राप्त हुई थी। इतना ही नही, पर उन्होने भी राजनीतिक समानता की बातें कही थी, पर उनकी राजनीतिक व्यवस्था मे इन दोनों को कोई भी महत्त्व प्राप्त नही हुआ। व्यवहार घोषित विश्वासो और आस्थाओ की तुलना मे एकदम विपरीत और धोखा देने वाला निकला। इस प्रकार कुछ आकर्षक नारों—जिनमे *'सर्वहारा वर्ग की तानाशाही'* और *'वर्ग-विहीन समाज की स्थापना'* प्रमुख थे—के भ्रमजाल मे आकर नागरिक स्वतन्त्रता और राजनीतिक समानता के लोकतन्त्रीय आदर्शों को सदैव के लिए छोडना पडा। एकदलीय तानाशाही की स्थापना ने समस्त आशाओ पर तुषारपात कर दिया। इस प्रकार समाजवाद लोकतन्त्र से हटता हुआ चला गया। दीनदयाल उपाध्याय के शब्दों मे, "समाजवाद का पहला हमला *लोकतन्त्र पर हुआ।*"[15] प्रो० लीकाक का विचार है कि "समाजवाद के अधीन स्वतन्त्रता का अपहरण हो जाता है। निर्वाचित स्वामी के शासन को छोड़कर और कोई वस्तु दृष्टिगोचर नही होती। श्रमिक को उसके कार्य के लिए आज्ञा प्रदान की जाती है तथा उसे अवश्य आज्ञा का पालन करना चाहिए।

वस्तुतः लोकतन्त्र और समाजवाद का कोई मेल नही। दोनो के आदर्श, *मान्यतायें, अवधारणायें एव राजनीतिक रूप परस्पर भिन्न हैं। एक जनता की* आकाक्षाओ और भावनाओ का प्रतिरूप है, जबकि दूसरा अधिनायकवादी प्रवृत्तियों का स्थापक। समाजवाद अधिनायकवाद की ओर ले जाता है। हिटलर, मुसोलिनी, स्टालिन सभी अपने को समाजवादी कहते थे, पर सब तानाशाह थे। आज भी टीटो, माओ त्से-तुग, कोसीगिन समाजवादी हैं पर कोई भी प्रजातन्त्रवादी नही।

5 *आर्थिक क्षेत्र मे समाजवाद उत्पादन और वितरण के तरीको पर व्यक्ति-*गत स्वामित्व का विरोधी और समाज के स्वामित्व का समर्थक है। यह एक आकर्षक मान्यता है, पर समाज के स्वामित्व का क्या अभिप्राय ? सामान्य रूप मे इसका तात्पर्य यह होता है कि उद्योगों पर, कारखानो आदि पर सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व, पर व्यवहार मे *समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसा नही होता। वहाँ* उद्योग आदि पर राज्य के स्वामित्व को स्थापित किया जाता है। समाजवाद मे समाजीकरण नही वरन् राज्यीयकरण होता है, वह भी अतिराज्यीयकरण। उसमे राज्य के नियन्त्रण के अधीन उद्योगो का सचालन होता है। वही उत्पादक, व्यवस्थापक और वितरक होता है। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति की कार्य करने की स्वत प्रेरणा तो समाप्त होती ही है, पर साथ ही राज्य पर निर्भरता और परावलम्बन की कमजोरियो का भी समावेश हो जाता है।

इसके साथ ही इस व्यवस्था मे भी मजदूरो को कोई लाभ नही मिल पाता।

[15] दीनदयाल उपाध्याय, *राष्ट्रजीवन की समस्यायें, पृ० 29।*

उसके लिए एक पूँजीपति के स्थान पर एक राज्य उद्योग का मालिक बनकर आ जाता है। इससे अधिक और क्या होता है ? बल्कि देखा जाय तो एक हानि ही होती है। पूँजीपति की व्यवस्था से असन्तुष्ट होकर मजदूर राज्य के पास जा सकते हैं, आन्दोलन कर सकते हैं, पर जब राज्य ही एक पक्ष हो तो वह उसके खिलाफ किसके पास जायेंगे ? समाजवादी व्यवस्था मे औद्योगिक क्षेत्र मे राज्य एक पक्ष होता है।

जहां तक पूँजीवाद के दोषो और कुप्रभावो का प्रश्न है, उनसे असहमत होने का प्रश्न ही नही, पर समाजवाद स्वय दूसरे प्रकार के दोषो को पैदा करता है। वे भी कम भयकर और गम्भीर नही है। समाजवाद अपने लक्ष्यों को—जिनका सम्बन्ध पूँजीवाद की समाप्ति और मजदूरो के लाभ की प्राप्ति से है—नियोजित अर्थ-व्यवस्था द्वारा प्राप्त करता है पर ऐसी व्यवस्था का सबसे बडा दोष यह है कि इसमे नियोजन ही लक्ष्य रहता है, अन्य सब चीजे गौण हो जाती हैं। नियोजन की सफलता के लिए आर्थिक जीवन के अन्दर समय-समय पर काट-छाँट करनी होती है। इस क्रम मे अनेक वर्गों के हितो की हानि होती है जिससे उत्पीडन बढता ही है, कम नही होता।

व्यापार के क्षेत्र मे भी राज्य का प्रवेश और उसका 'एकाधिकार' तथा राष्ट्रीयकरण की प्रवृत्ति अनेक कुप्रभावो को जन्म देती है। अनुभव तो यही आया है कि उससे कोई विशेष जनहितकारी परिणाम सामने नही आते है। इसके विपरीत नौकरशाही की असीमित सत्ता का उदय होता है।

राजसत्ता के साथ ही अर्थसत्ता पर पूर्ण और निर्बन्ध अधिकार राज्य की शक्तियो मे अपरिमित वृद्धि करता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का रक्षण उस समय कम ही सम्भव है जब कि राज्य की शक्तियों मे इस प्रकार की अपरिमित और निर्बन्धित वृद्धि हो जाय। ऐसी स्थिति मे मनुष्य का जीवन पूरी तरह राज्येच्छा पर—फिर उसका स्वरूप कैसा भी हो—निर्भर हो जाता है एव मनुष्य के जीवन मे राज्य का हस्तक्षेप अधिकाधिक बढ जाता है। अपनी आर्थिक और राजनीतिक नीतियो के आधार पर समाजवादी अर्थ-व्यवस्था अनिवार्यतः हमे सर्व-शक्तिसम्पन्न राज्य (Totalitarian State) की ओर अग्रसित करती है—वह 'लेवायथन' राज्य की ओर व्यक्तियो को ले जाती है—एक ऐसे राज्य की ओर जिसे मनुष्यों ने कभी देखा नही, पर जिसकी पाशविक शक्ति के अधीन व्यक्तियो को रहना पडेगा। समाजवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति के पूर्ण उन्मूलन के समर्थक हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति के पूर्ण उन्मूलन का मतलब होता है 'दासता'।

6. राज्य के अधिकार-क्षेत्र एव कार्य-क्षेत्र मे वृद्धि का तात्पर्य है नौकरशाही मे वृद्धि। नौकरशाही स्वाभाविक रूप से लालफीताशाही को जन्म देती है। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति के सामने अनेक प्रकार की व्यावहारिक कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। ये दोनों शासन-तन्त्र की कुशलता को समाप्त कर देती हैं और उसके स्थान पर बहुत

ही बेकार पद्धति को जन्म देती हैं। वह एक स्वस्थ नही, पर विकृत तन्त्र की प्रतीक है जिसमें खर्च, समय, शक्ति का अपव्यय होता है।

7. समाजवाद धर्म की आलोचना ही नही करता वरन् खिल्ली उड़ाता है। धार्मिक मान्यताओ का और धार्मिक जीवन का उसके लिए कोई महत्त्व नहीं है। मार्क्स धर्म को 'अफीमी नशा' मानता था। इसी प्रकार के विचार नैतिक मूल्यों और मान्यताओ के सम्बन्ध मे हैं। पर धर्म का व्यक्ति के जीवन और समाज की व्यवस्था मे बहुत बडा स्थान है। धर्म उपासना-पद्धति नही है वह कर्त्तव्यो को निश्चित करने वाली एक आधारभूमि है।

सभी लोग चाहते हैं कि जीवन मे अर्थ और काम को सिद्ध किया जाय, पर इसके लिए समाज मे एक सुन्दर व्यवस्था अपेक्षित है। व्यवस्था के अभाव मे हम इनको प्राप्त नही कर सकते। इसके विपरीत हानि होने की ही सम्भावना रहती है। व्यवस्था के लिए नियम आवश्यक हैं। ये नियम ही समाज को बनाये रखते हैं।

इस प्रकार से बने समाज मे व्यक्तियो के अधिकार विकसित होते हैं। अधिकार हमें किसी कार्य को करने की शक्ति देते हैं। समाजवाद व्यक्ति का अधिकार देता है। वह अधिकारो की प्राप्ति के लिए सघर्ष का मार्ग भी बतलाता है, पर अधिकारो की प्राप्ति ही पर्याप्त नही है। केवल अधिकार सघर्ष को जन्म देते हैं। अत कर्त्तव्यो की आवश्यकता है। कर्त्तव्य सघर्ष को रोकते हैं और जीवन मे अभ्युदय की सिद्धि करते है। कर्त्तव्यो को समझना और तदनुसार आचरण करना—यही व्यक्ति के जीवन का आदर्श होना चाहिए। यही धर्म है। इस प्रकार धर्म का स्थान और तदनुसार आचरण हमारे स्वस्थ जीवन की गारन्टी है जिसे समाजवाद समझ ही नही सकता।

उपसंहार

मानव सभ्यता को समाजवाद की देन पर जब हम विचार करते हैं तो कुछ महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने उपस्थित होते हैं। हम समाजवाद की कितनी ही आलोचना करें, पर इसमें शक नहीं कि समाजवाद ने हमको एक नया दृष्टिकोण और प्रभावशाली निष्कर्ष दिये हैं। उसने व्यक्तिवादी और पूँजीपति समाज-रचना की कटु आलोचना करके एक नये समाज की रूपरेखा हमको दी। उसने सर्वहारा वर्ग को सगठित करके, उसे मानवीय प्रतिष्ठा दिलाने मे एक महान् ऐतिहासिक कार्य किया। उसने अन्तर्राष्ट्रीयता का एक नया विचार दिया और हमे छोटे और सीमित धरातल से उठने मे मदद दी।

समाजवाद ने सभी प्रकार के और सभी स्तरो के शोषण का विरोध किया। यह सच है कि धर्म की आलोचना करते समय समाजवाद ने काफी सीमित और सकुचित अपेक्षत प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण को अपनाया, पर उसने नवीन नैतिक मान्यताओ एव नवीन सामाजिक मूल्यो को स्थिर करने के आधार दिये। सबसे

बडी बात तो यह है कि समाजवाद ने एक विचार ही नही वरन् एक आन्दोलन और सगठन का तरीका भी दिया ।

सहायक पुस्तकें

Alexander Gray	*The Socialist Tradition*
Frederick Engels	*Socialist : Utopian and Scientific*
Marx and Engels	*Manifesto to the Communist Party*
Harry W. Laidler	*History of Socialist Thought*
कार्ल मार्क्स	पूंजी, प्रथम खण्ड
गैटिल	राजनीतिक चिन्तन का इतिहास
विद्याधर महाजन	आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ
सी० ई० एम० जोड	आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रवेशिका
अम्बादत्त पन्त	राजनीतिशास्त्र के आधार, द्वितीय भाग
दीनदयाल उपाध्याय	राष्ट्रजीवन की समस्यायें

5

संघ समाजवाद

(Syndicalism)

समाजवाद समाज-रचना का एक व्यापक आन्दोलन और आर्थिक विचार दर्शन रहा है। प्रारम्भ से लेकर अब तक देश-काल-परिस्थिति और कार्य-पद्धति की विविधता के कारण इसके अनेक रूप प्रकट हुए हैं। सघ समाजवाद उन अनेक रूपो में से एक है।

सघ समाजवाद फ्रेंच शब्द 'सिण्डीकलइज्म' (Syndicalism) का हिन्दी पर्यायवाची शब्द है। सिण्डीकलइज्म 'सिण्डीकेण्ट' से बना है जिसका तात्पर्य 'ट्रेड यूनियन' अर्थात् 'श्रमिकों का सघ' होता है। इसलिए इसे श्रमिक सघवाद भी कहा जाता है। सघ समाजवाद उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे फ्रान्स मे विकसित श्रमिक आन्दोलन की उपज है, अत इसे समाजवाद के फ्रान्सीसी प्रकार के रूप मे भी पहिचाना जाता है।

फ्रान्स के मजदूर आन्दोलन को कुछ ऐसी विपरीत और विशेष परिस्थितियो मे से होकर निकलना पडा जो ब्रिटेन के मजदूर आन्दोलन से भिन्न थी। इसका परिणाम यह हुआ कि फ्रान्स के मजदूर सगठनो मे ऐसी प्रवृत्तियां विकसित हो गई जो सामान्य अथवा प्रजातन्त्रीय नही थी।

फ्रान्स की रक्त-क्रान्ति के बाद सभी वर्गों ने सोचा कि उनकी स्थिति म सुधार होगा। पर श्रमिक वर्ग को कोई लाभ न मिला। क्रान्ति का लाभ फ्रान्स के उद्योगपतियो को मिला। उन्होने सरकार पर अपना नियन्त्रण स्थापित किया और अनेक मजदूर-विरोधी कानून बनवाए। इन कानूनों मे एक कानून 1803 का था, जिसके अनुसार यह व्यवस्था थी कि कोई भी मजदूर हडताल नही कर सकता और जो भी व्यक्ति मजदूरो को हडताल करने के लिए प्रोत्साहित करेगा, सरकार उसे अपराधी घोषित करके जेल भिजवा सकती है। इसके अलावा और भी कठोर कानून बनाये गये। उन सबका सम्बन्ध श्रमिक वर्ग पर तरह-तरह के प्रतिबन्धो को लादने से था। इन कानूनों के परिणामस्वरूप श्रमिकों पर अनेक तरह के अमानुषिक अत्याचार भी किए गए। 1834 मे बनाए गये कानून के अनुसार यह व्यवस्था थी कि यदि 20 व्यक्तियो का वर्ग किसी बडे समूह मे सम्बद्ध हो तो वह भी प्रतिबन्धित करार दिया जायेगा। इन सबका परिणाम कुछ अच्छा

नही निकला। कठोर कानूनो के कारण ऐसा नही हुआ कि मजदूरों ने सगठन बनाने त्याग दिये हो, अथवा अपनी स्थिति को सुधारने के प्रयत्न छोड दिये हो। इसके विपरीत फ्रान्स मे मजदूरों के अनेक गुप्त सगठन बनने लगे। ये सगठन बोर्सेज (Bourses du Travail) कहलाये। ये बोर्स क्रान्तिकारी सघवाद के सिद्धान्तो का प्रचार करते थे। यह स्थिति इगलैण्ड से एकदम भिन्न थी। वहाँ पर तो मजदूरों को अपने सगठन बनाने का अधिकार काफी पहले से मिल गया था। ट्रेड यूनियन सगठन को कानूनी मान्यता भी प्राप्त हो चुकी थी। 1868 मे मजदूरो को मताधिकार भी मिल गया था। यह ब्रिटेन की राजनीतिक व्यवस्थाओं को प्रभावित करने की, मजदूरो के गौरवशाली महत्व की स्वीकृति थी। अत वहाँ मजदूरो के गुप्त अथवा अप्रजातान्त्रिक सगठन नही बने। हाँ, 19वी सदी के उत्तरार्द्ध मे फ्रान्स मे श्रमिकों के प्रति सरकारी दृष्टिकोण मे कुछ परिवर्तन हुआ, पर इसका कारण श्रमिकों की स्थिति के प्रति सरकार का सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण नही था अपितु स्वय सरकार का स्वार्थ था। जब फ्रान्स की राजगद्दी पर लुई नेपोलियन बैठा तो उसने अपने शासन के लिए मजदूरो का सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से उन पर लगे अनेक प्रतिबन्धों मे ढील कर दी। आगे चलकर 1864 मे मजदूरों को हडताल करने का अधिकार दे दिया गया तथा 1884 मे मजदूर सगठन स्थापित करने के मजदूरों के अधिकार को भी स्वीकार किया गया। इसके परिणामस्वरूप 1886 मे पहली बार एक राष्ट्रीय सगठन की स्थापना की गई। पर इतना होने पर भी फ्रान्स का श्रमिक आन्दोलन प्रजातन्त्र विरोधी और हिंसक साधनों को अपनाने वाला बन गया। इसके मुख्य‌न दो कारण हैं —

प्रथम, फ्रान्स का श्रमिक आन्दोलन आशिक रूप म अपने अनुभव के कारण और काफी समय तक शासकीय कानूनों से त्रस्त रहने के कारण हिंसक और प्रजातन्त्र विरोधी बना। फ्रान्स के मजदूरो को लगभग पाँच दशको तक मजदूर विरोधी कानूनो के द्वारा दबाया गया। उन्हे उनके उचित अधिकारो से और वैध प्रजातन्त्रीय प्रयत्नो को अपनाये जाने तक से वचित कर दिया गया। रक्त-क्रान्ति के पश्चात् से लेकर तृतीय गणराज्य की स्थापना तक मजदूरो के प्रति सरकार का दृष्टिकोण बेहद कठोर और अमानवीय था। मजदूर सगठन बनाने तक की उन्हे अनुमति नही थी। अपने अधिकारो की प्राप्ति के लिए 1830, 1848 और 1870 मे श्रमिक क्रान्तियाँ हुई पर इन सबको कठोरता से कुचल दिया गया और मजदूरो पर भयकर अत्याचार किये गए। इसके परिणामस्वरूप मजदूरो मे अन्दर ही अन्दर घुटन और प्रस्थापित शासन के प्रति भयकर द्वेष के भाव गहराई से जमने लगे। श्रमिको मे यह धारणा गहरी हो चली कि राज्य पूंजीपतियो का पोषक और दमनकारी संस्था है। उससे सुधार अथवा लाभ की आशा करना व्यर्थ है। श्रमिक यह सोचने लगे कि पूंजीपति शोषण करता है और राज्य दमन करता है, अत दोनो ही नष्ट करने लायक हैं। अत जब काफी समय के बाद मजदूर कुछ स्वतन्त्र

हुए और उन्होंने अपने आपको मजबूत पाया तो प्रतिक्रिया के तौर पर उन्होंने प्रजातन्त्र, वैध तरीके, ब्रिटिश किस्म के समाजवाद, आदि सबको ठुकरा दिया और वर्ग-सघर्ष एव उग्र हिंसक तरीको को अपना लिया। वे एक तीव्र विरोध को लेकर सामने आये। उनके अनुभवो ने बतलाया कि प्रजातन्त्र अथवा कानून, शान्तिपूर्ण तरीके अथवा राजनीतिक सगठन, राज्य अथवा ससद्, कुछ भी मजदूरो की आशाओ को पूरा नही कर सकते। अपनी आशाओ को साकार करने के लिए तो क्रान्तिकारी साधन ही अपनाने पडेंगे। ग्रे का कहना है कि "जनतन्त्र को तराजू मे तौला गया और वह पूरा नही उतरा। सरकार बदली, कानून बनाये गए। मूल अन्याय ज्यो का त्यो रहा। असन्तुष्ट, कटुता मे भरे हुए और भ्रम-निवृत सिण्डीकलवादी चिल्लाये कि अब राज्य और ससदीय खेल की ओर से मुँह मोड लेने, और अपने ढग से मुक्ति प्राप्त करने का समय आ गया है।"[1]

द्वितीय, उस समय फ्रान्स मे दलीय राजनीति स्वस्थ और विकसित अवस्था मे नही थी। अनेक राजनीतिक दल थे जो अपनी-अपनी ओर जनता को खीचते थे। इस खीचतान के क्रम से मजदूर सगठन भी अछूते नही रहे। राजनीतिक दलो द्वारा मजदूर सगठनो को भी अपनी-अपनी ओर खीचने का प्रयत्न किया गया, पर मजदूरो की आशाओ को किसी ने भी पूरा नही किया। सबने मजदूर सगठनो को अपनी शक्ति के विस्तार का साधन बनाया।

इसका परिणाम मजदूर सगठनो पर अच्छा नही पडा। होता यह था कि जैसे ही कोई मजदूर सगठन किसी राजनीतिक दल का समर्थन करना निश्चित करता था, तो उसके ही कुछ सदस्य सगठन के इस निर्णय की आलोचना करने लगते थे और इस प्रकार वह सगठन टूट जाता था। इस सबका श्रमिक आन्दोलन के विकास पर गम्भीर प्रभाव पडा। श्रमिक आन्दोलन ठीक प्रकार विकसित नही हो सका। अत मजदूर सगठनो ने अपने को राजनीति से अलग रखने का निर्णय लिया।

राजनीतिक क्षेत्र मे श्रमिको को उत्साहप्रद अनुभव नही आया। इसके विपरीत उनके साथ विश्वासघात ही हुआ। श्रमिको के नेताओ ने जिनसे श्रमिको को काफी आशाएँ थी ससद् मे पहुँचकर श्रमिको की स्थिति सुधारना तो दूर रहा, उल्टे उनके हितों के विरुद्ध कार्य किया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रजातन्त्र मे श्रमिको की आस्था नही रही।

इस स्थिति ने सघ समाजवाद के विकास मे अपना योग दिया।

[1] "Democracy had been weighed in the balance and found wanting Governments had been changed, measures had been passed The essential injustice of things remained . Impatient, embittered, disillusioned, the Syndicals exclaimed that it was time to turn their backs on the state and the parliamentary game, and seek their own salvation in their own way"

—Gray, *The Socialist Tradition*, p 411

सूद, आधुनिक राजनीतिक विचारो का इतिहास, भाग 4, पृ० 39 मे उद्धृत

संघ समाजवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार करते समय उन संगठनों पर विचार करना आवश्यक है, जिन्होंने इस विचारधारा को बढ़ाया। उनमें सबसे पहिला संगठन था बोर्सेज। बोर्सेज एक प्रकार के संगठन थे जिन्होंने क्रान्तिकारी संघ समाजवाद के विचारों का प्रसार किया। बोर्स और सिण्डीकेट में अन्तर है। बोर्स में एक क्षेत्र के सभी व्यवसायों के मजदूर सम्मलित हो सकते हैं। पर सिण्डीकेट में ऐसा नहीं होता। उसमें एक क्षेत्र के एक ही व्यवसाय के मजदूर सम्मिलित हो सकते है।

सबसे पहिले 1887 में पेरिस के अन्दर प्रथम बोर्स की स्थापना की गई। इसके पश्चात् स्थान-स्थान पर अनेक बोर्स स्थापित किये गये। बोर्स वे केन्द्र थे जो मजदूरों को संगठित करते थे, उन्हें शिक्षा और सहायता देते थे तथा हड़ताल के समय उनकी नैतिक मदद करते थे। एफ० पेलूटिये (Pelloutier) के अनुसार बोर्सेज के चार उद्देश्य थे—मजदूरों में सम्पर्क एवं सहयोग बढ़ाना, उनको शिक्षित करना (राजनीतिक एवं व्यावसायिक दृष्टि से), वर्ग-संघर्ष एवं क्रान्तिकारी संघ समाजवाद के सिद्धान्तों का प्रसार करना तथा मजदूरों में उनके शोषण के विरुद्ध प्रतिरोधी भावनाओं को भरना। 1893 में बोर्सेज का एक राष्ट्रीय संघ (Federation du Bourses) बनाया गया। यह संघ कुछ ही समय में मजदूरों का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। 1895 में मजदूरों की एक नयी संस्था की स्थापना की गई जिसका नाम सी० जी० टी० (Confederation Generale du Travail) था। कुछ समय तक तो ये दोनों संस्थायें अलग-अलग कार्य करती रही पर 1903 में इन दोनों का विलय हो गया और दोनों मिलकर कार्य करने लगे। कुछ समय के पश्चात् इस संयुक्त संगठन के दो पक्षों में गम्भीर मतभेद पैदा हो गए। एक पक्ष का विचार था कि अपनी समस्याओं को सुलझाने के लिए सिण्डीकेटों को संसद में सदस्यों की सहायता लेनी चाहिए तथा पहिले शान्तिमय साधनों को अपनाना चाहिए एवं उसके पश्चात् ही प्रत्यक्ष कार्यवाही करनी चाहिए। इसके विपरीत एक दूसरा वर्ग था जिसका कहना था कि हमें समझौते एवं अहिंसक शान्तिमय साधनों का परित्याग करना चाहिए और क्रान्तिकारी एवं उग्र साधनों के द्वारा पूंजीपतियों से निबट लेना चाहिए। बलात् पूंजीपतियों को बाहर निकाल कर उद्योगों का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लेना चाहिए। दोनों पक्षों में यह संघर्ष चलता रहा पर 1906 में संघ के अधिवेशन में यह स्वीकार किया गया कि राज्य को समाप्त किया जाना चाहिए, क्रान्तिकारी साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए और प्रत्यक्ष कार्यवाही की जानी चाहिए। स्पष्टत: यह क्रान्तिकारी पक्ष की जीत थी। इस जीत ने फ्रान्स में संघ समाजवाद की विचारधारा को काफी विकसित किया। फ्रान्स के अलावा यह आन्दोलन मुख्यत स्पेन, इटली और कुछ अंशों में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में भी फैला। वहाँ 1905 में विलियम हेवुड (William Haywood), ई० वी० डेब्स (E. V. Debs) तथा डेनियल डी लियोन (Daniel De Leon) के प्रयत्नों ने I. W. W.

(Industrial Workers of the World) की स्थापना हुई। पर यह अधिक उग्र नही थी। स्पेन मे भी प्रथम विश्वयुद्ध के समय सघवादी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ पर उसे जनरल फ्रैंको (General Franco) के द्वारा दबा दिया गया। इसी प्रकार इटली में इसे फासिस्टो ने दबा दिया। आज यह विचारधारा समाप्तप्राय है।

संघ समाजवाद की विचारधारा

सघ समाजवाद की विचारधारा श्रमिक सघर्ष का परिणाम थी। इसके दर्शन और मान्यताओं का विकास होने से पूर्व ही इसका आन्दोलन फ्रान्स मे प्रारम्भ हो चुका था। इस पर कार्ल मार्क्स के विचारो की अपेक्षा प्रोधाँ के विचारो का अधिक प्रभाव पडा। इस अर्थ मे यह विचारधारा यूरोप की अन्य विचारधाराओं से भिन्न है। जिस समय यूरोप के अनेक देशों के श्रमिक सगठन कार्ल मार्क्स के विचारो से प्रभावित हो रहे थे, उस समय फ्रान्स का मजदूर आन्दोलन एक नवीन विचार को लेकर बढ रहा था। फ्रान्स मे प्रोधाँ के विचारों ने सामाजिक सगठन की नयी योजना को प्रस्तुत किया और फ्रान्स के श्रमिक आन्दोलन को अपनी ओर प्रभावित किया। प्रोधाँ ने जिस नये समाज की कल्पना की थी उसमे स्वतन्त्र ऐच्छिक सगठन होने थे जो समाज के विभिन्न कार्यों को पूरा करने वाले थे। सघ समाजवाद ने भी प्रोधाँ के समान यह कल्पना की कि पूंजीवादी राज्य के समाप्त हो जाने के पश्चात् उसका स्थान ऐसे श्रमिक सगठन लेंगे जो राजनीतिक सगठनो का प्रतिरूप होंगे।

सघ समाजवाद राष्ट्रीयता के विचार को स्वीकार नही करता। उसका विचार है कि श्रमिकों का वही देश है जहाँ वे कार्य करते है। अत 'यह मेरा देश है'—*इस प्रकार के शब्द अर्थहीन हैं। वे राज्य के भी घोर विरोधी थे। राज्य* मजदूर विरोधी और पूंजीपतियो का समर्थक है। वह मजदूरो के शोषण मे पूंजीपतियों का सहयोगी है। पूंजीपति वर्ग राज्य के ही बल पर अपनी सुविधाओं को जुटा पाता है। राज्य मजदूर वर्ग के आदर्शों की प्राप्ति मे सबसे बडी बाधा है। उनका विश्वास ससदीय प्रणाली मे नही था। ससदीय प्रणाली उनके लिए भ्रष्ट प्रणाली है, इससे मजदूर गुमराह होते हैं। वे प्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा राज्य को समाप्त करना चाहते हैं और राज्यविहीन, वर्गविहीन समाज की स्थापना का लक्ष्य अपने सामने रखते है।

सी० ई० एम० जोड का कहना है कि "सघ समाजवाद (Syndicalism) एक सामाजिक सिद्धान्त या सामाजिक सगठन का सिद्धान्त तथा एक क्रियात्मक योजना दोनो का नाम है।"[1]

हमें इन दोनो बातों का अध्ययन करना पडेगा। इस रूप मे सघ समाजवादी

[1] "Syndicalism is the name given both to a body of social doctrines or theory of social organisation, and to a plan of action "
—C E M Joad, *Modern Political Theory* p 62

विचारधारा को हम दो भागों मे विभाजित कर सकते है। पहिला सघ समाजवादी कार्यक्रम और दूसरा सामाजिक पुन निर्माण की योजना।

संघ समाजवादी कार्यक्रम

सघ समाजवाद का लक्ष्य वर्गहीन श्रमिक समाज की स्थापना करना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सघ समाजवादियो के पास एक निश्चित कार्यक्रम है। यह कार्यक्रम उन्होने अपने अनुभवो के आधार पर निर्धारित किया है। उनका यह दृढ विश्वास था कि श्रमिक समाज की स्थापना के लक्ष्य को राजनीतिक साधनो द्वारा प्राप्त नही किया जा सकता, अपितु उसे प्राप्त करने के लिए कुछ दूसरे ही प्रयत्न करने होगे। ये प्रयत्न प्रत्यक्ष सघर्ष (Direct action), हडताल (Strike), बहिष्कार (Boycott), ध्वसात्मक कार्य (Sabotage) आदि के द्वारा प्राप्त किए जा सकते हैं। वे राज्य-विरोधी है। कारण, उनका विश्वास है कि राज्य पूँजीपतियो की सहयोगी और मजदूरो का दमन करने वाली सबसे प्रबल सस्था है। इसी प्रकार सघ समाजवादियो का विश्वास ससदीय प्रणाली मे नही था। यह ससदीय प्रणाली पूँजीपतियो के द्वारा भ्रष्ट की जा सकती है। यह प्रणाली किसी भी प्रकार मजदूरो के लिए उनके सघर्ष मे उपयोगी नही हो सकती। अत. सघ समाजवादियो ने राज्य के विरुद्ध सघर्ष मे ससदीय प्रणाली का त्याग किया और वर्ग सघर्ष मे विश्वास रखते हुए अन्य साधनों को अपनाया।

राज्य के विरुद्ध जिस साधन को सघ समाजवादी सबसे अधिक सशक्त समझते हैं और जिसका वे प्रबल तरीके से प्रयोग करते है वह साधन है—आर्थिक क्षेत्र मे प्रत्यक्ष कार्यवाही का साधन। यह प्रत्यक्ष कार्यवाही क्या है? लेवाइन के शब्दो मे—

"प्रत्यक्ष कार्यवाही मजदूरो द्वारा मध्यवर्तियो के सहयोग के बिना स्वय की हुई कार्यवाही है। यह आवश्यक नही है कि यह हिंसात्मक ही हो, पर यह हिंसात्मक रूप भी धारण कर सकती है। यह कार्य करने वालो (एजेन्टो) की इच्छा और चेतना की निर्मिति है। यह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए शत्रु पर प्रत्यक्ष रूप से जोर डालना है।"[1]

प्रत्यक्ष कार्यवाही का समर्थन करने का यह भी कारण था कि उनको मजदूरो और पूँजीपतियो के बीच समझौतो के होने की सम्भावना मे विश्वास नही था।

[1] "Direct action is action by the working men themselves without the help of intermediaries; it is not necessarily violent action although it may assume violent forms; it is the manifestation of the consciousness and of the will of the external agent; it consists of pressure exerted directly for the sake of obtaining the ends in view."

प्रत्यक्ष कार्यवाही के चार रूप है—दो प्रमुख और दो साधारण। हडताल और विध्वसकारी कार्य इसके प्रमुख रूप हैं तथा लेबिल (Label) और बहिष्कार (Boycott) इसके साधारण रूप हैं।

हड़ताल

सघ समाजवादियों की कार्य-पद्धति मे हडताल का वही स्थान है जो गांधीजी की कार्य-पद्धति मे सत्याग्रह का है। सघ समाजवादी जहाँ भी और जब भी सम्भव हो, हडताल के लिए मजदूरो को प्रोत्साहित करते रहते हैं। हडताल के पीछे सघ समाजवादियो का एक पूरा दर्शन है। हडताल का उद्देश्य सीमित नही है वरन् व्यापक है। यह केवल मजदूरो की मांगो को स्वीकार करवाने के लिए पूंजीपतियो पर दबाव डालने मात्र का हथियार नही है अपितु यह तो सम्पूर्ण व्यवस्थाओं को और राजनीतिक, आर्थिक एव सामाजिक जीवन को परेशानी मे डालने का एक साधन है। हालांकि हडताल का प्रयोग सभी क्रान्तिकारी मजदूर आन्दोलनो मे प्रमुख रूप से किया जाता रहा है पर सघ समाजवादी कार्य-पद्धति की तो यह आत्मा ही है। तभी तो ग्रे का विचार है कि सघ समाजवाद का वर्णन उसे 'आम हडताल का सिद्धान्त और प्रचार' कहकर किया जा सकता है। हडताल का अर्थ है, सभी मजदूरो का सगठित रूप से अपना काम बन्द कर देना। ऐसा करने मे मजदूरो मे एकता और अनुशासन दोनो का समावेश होता है। ये दोनो सघर्ष के लिए आवश्यक हैं। सघ समाजवादी छोटी-छोटी हडतालो का समर्थन करते है। ये छोटी-छोटी और स्थानीय हडतालें 'आम हडताल' (General Strike) की तैयारी मात्र हैं। उनका विचार है कि ये हडतालें रिहर्सल अथवा रियाज का काम करती हैं। इस कारण यदि कोई हडताल अपने उद्देश्य की प्राप्ति मे असफल भी होती है तो उससे घबडाना या हतोत्साहित नही होना चाहिए। कारण, सभी हडतालें अन्तत अपने अन्तिम और सार्वभौम लक्ष्य को आम हडताल के द्वारा प्राप्त करेंगी ही। हडतालें मजदूरो को सघर्ष करने की और सगठित होकर कार्य करने की प्रेरणा देती हैं। ये मजदूरो को शिक्षा देती हैं और वर्ग-सघर्ष की भावना को तीव्र करती हैं।

सघ समाजवादियो का विश्वास है कि मजदूर वर्ग छोटी-छोटी हडतालें करेगा। इन हडतालो के पश्चात् सभी मजदूर मिलकर एक विश्वव्यापी 'आम हडताल' (General strike) कर सकेंगे। आम हडताल का विचार फ्रान्स के समाजवादी विचारक ब्लाके (Blanque) ने दिया। उनका विचार था कि इसमे *सभी मजदूरो का भाग लेना आवश्यक नही है, अपितु उनके बहुमत का ही भाग* लेना काफी है। उसी से कार्य-सिद्धि हो जावेगी। आम हडताल छोटी-छोटी हडतालो की अन्तिम और परमोच्च परिणति है। इस हडताल से यह होगा कि मजदूरो के सहयोग के अभाव मे सम्पूर्ण दुनिया के काम-काज रुक जावेंगे और इसके साथ ही मजदूर सगठन एवं उनकी शक्ति इतनी प्रबल हो जावेगी कि वे राज्य पर दबाव डालकर सम्पूर्ण सत्ता को अपने हाथ मे ले लेंगे। इस शक्ति के आगे

हाथ मे आ जाने के बाद मजदूर सम्पूर्ण समाज का अपने विचारों और मान्यताओं के आधार पर पुन निर्माण कर सकते हैं। 'आम हडताल' सघ समाजवादियों का सबसे बडा आकर्षण और विश्वास है। सोरेल का तो यहां तक कहना है कि आम हडताल मजदूरो के लिए एक अन्धश्रद्धा (Myth) बन जानी चाहिए। यह अन्धश्रद्धा मजदूरो को सघर्षशील बनाये रखेगी, उन्हे स्फूर्ति देगी और बार-बार हडताल करने के लिए प्रेरित करती रहेगी चाहे आम हडताल हो या न हो। अन्धश्रद्धा के विचार के पीछे बौद्धिक आधार नही है। इसी प्रकार सी० ई० एम० जोड का कहना है कि सामान्य हडताल का मूल्याकन करने या उसके उद्देश्यो का अनुमान करने के लिए "विवेचना की उन समस्त पद्धतियो का अनिवार्यत· परित्याग करना होगा जिन्हे राजनीतिज्ञ, समाजशास्त्री या राज्यशास्त्री सामान्यतः काम मे लाते है।"[4]

आम हडताल द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के सम्बन्ध मे एक बात और ध्यान देने की है। पुराने सघवादियो का मत है कि आम हडताल के समय यदि मजदूर अपना-अपना काम बन्द कर देंगे तो इतने मात्र से ही सफलता प्राप्त हो जायगी। पर नये सघ समाजवादियो का मत है कि आम हडताल करने से पूर्व लूट-पाट करनी चाहिए एव मशीन आदि को तोड डालना चाहिए जिसमे कि पूंजीपति नये मजदूरों को बुलाकर अपना काम न करवा सके। कुछ विचारक यह भी सोचते है कि कुछ प्रमुख उद्योगो मे ही हडताल होने से लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। सी० जी० टी० के पेरिस अधिवेशन मे यह बात कही गई कि आम हडताल कभी भी हो सकती है, पर सोरेल का ऐसा मत था कि आम हडताल नही होगी। यह तो केवल श्रमिकों को सगठित करने के लिए एक महामन्त्र है। अभी तक की स्थिति को देखते हुए लगता है कि सोरेल का अनुमान ठीक है। अभी तक तो इस प्रकार की आम हडताल विश्व मे हुई नही है और न अब होने की सम्भावना है।

ध्वसात्मक कार्य का तात्पर्य है—तोड़-फोड के कार्यों को करना। आम हडताल का विचार एक दिन मे कार्यान्वित किया जाने वाला नही है। उसे कार्यान्वित करने मे समय लगेगा, तब तक क्या किया जाय ? तब तक मजदूर ध्वसात्मक नीति का अवलम्बन करे। इस ध्वसात्मक नीति के अन्तर्गत अनेक कार्यक्रम आते है जैसे सुस्ती से कार्य करना, लापरवाही, कामचोरी आदि के तरीकों को अपनाना, आदि। यह नीति जहाँ तक हो सके उत्पादन की प्रक्रिया म बाधा डालने वाली और पूंजी-पति को परेशान करने की नीति है। यह नौकरी करते हुए भी काम न करने या

[4] For the purpose of estimating the worth or purpose of the general strike "all the methods of discussion which are current among politicians, sociologists, or people who pretend to political science, must be abandoned"
—C. E M Joad, *Modern Political Theory*, p. 72.

लगभग न करने की नीति है। इसे 'काम करते हुए हडताल' कहकर पुकारा गया है। इस नीति को प्रयोग मे लाने के अनेक साधन हैं, जैसे धीरे-धीरे काम करना, कानून के अनुसार ही काम करना, व्यावहारिकता को त्याग देना, ग्राहकों को माल के दोषों से परिचित कराना, मशीनो को हानि पहुँचाना, गलत पता लिखना, तेल की जगह जरा रेत मिलाकर मशीनो मे डाल देना। ध्वस नीति का एक रूप केकेनी (Ca'canny) है। यह मूलतः स्कॉच शब्द है। इसका कार्य ध्वस के कार्यों से मिलता-जुलता है, जैसे वेतन कम मिलने पर सुस्ती से काम करो, दो दिन का काम पाँच दिन मे पूरा करो। मालिक को हर सम्भव तरीके के द्वारा परेशान करो। एक बोर्स ड्यू त्रावे (Bourses du Travail) ने अपने सदस्यों को कहा कि यदि तुम मिस्त्री हो तो तुम बडी आसानी से तनिक-सी मिट्टी और रेत से अपनी मशीन को ठप कर सकते हो और ऐसा करके अपने मालिक को समय तथा मरम्मत के खर्च के रूप मे हानि पहुँचा सकते हो। यदि तुम फर्नीचर-निर्माता हो तो तुम्हारे लिए इससे अधिक सरल कार्य और कुछ नही हो सकता कि तुम फर्नीचर को इस प्रकार खराब कर दो कि तुम्हारा मालिक पहिले-पहिले तो उसे देख भी न सके। एक दर्जी को एक सूट अथवा कपडा बिगाडने के लिए अधिक सोच-विचार की आवश्यकता नही।[5]

सघ समाजवादी यह कहते हैं कि हमारा पूँजीपतियो से सीधा सघर्ष है। इस सघर्ष मे ध्वसात्मक नीति विनाश की नीति है, इसका पूँजीपति के विरुद्ध सघर्ष मे वही महत्त्व है जो शत्रु के विरुद्ध सघर्ष मे 'गुरिल्ला-नीति' का है। यह एक महत्त्व की बात है कि सघ समाजवाद का प्रमुख विचारक सोरेल इस नीति का समर्थक नही था। उसका कहना था कि इससे तो मजदूरो के चरित्र का पतन होगा।

उपरोक्त साधनो के अतिरिक्त प्रत्यक्ष कार्यवाही के और भी दो रूप हैं—वे हैं बहिष्कार तथा लेबिल। इसका महत्त्व हडताल एव ध्वस से कम है। लेबिल का तात्पर्य यह प्रदर्शित करना है कि अमुक वस्तु जिस कारखाने मे बनाई गई है, वहाँ सघ श्रम से काम लिया जाता है। सगठित उपभोक्ता इस मायने मे मिल-मालिको पर दबाव डाल सकते हैं कि वे उन वस्तुओ को नही खरीदें जिन पर कि लेबिल न लगा हो। बहिष्कार के अनेक प्रकार हो सकते हैं। किसी वस्तु का उपयोग न करना यह तो बहिष्कार है ही, इसके अतिरिक्त उस वस्तु का गलत प्रचार करना, उसकी गलतियाँ बतलाना, उसके प्रति भ्रम पैदा करना, ये भी बहिष्कार मे आते हैं।

अपनी पद्धति पर जोर देते हुए सघ समाजवादी केवल ससदीय तरीको और वैधानिक पद्धतियों का ही विरोध नही करते अपितु वे तो समष्टिवादी कार्य-पद्धति का भी विरोध करते हैं जिसका यह आधार है कि समाजवाद एकदम नही, अपितु

[5] ज्योति प्रसाद सूद, आधुनिक राजनीतिक विचारक, भाग 4, पृ० 52 से उद्धृत।

धीरे-धीरे क्रमशः आयगा। वे अधिक उग्र और क्रान्तिकारी माध्यमों को प्रयोग मे लाते हैं और श्रमिकों के समाजवाद को लाने के लिए अधिक व्यग्र दीख पड़ते हैं।

सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना

भविष्य के समाज की योजना के सम्बन्ध मे सघ समाजवादी अस्पष्ट हैं। सघ समाजवाद का सम्पूर्ण दर्शन उन साधनो को स्पष्टत: विकसित कर सका जिनके प्रयोग के द्वारा वे पूंजीवादी राज्य को समाप्त कर सकेंगे पर पूंजीवादी राज्य की समाप्ति के पश्चात्, समाज की रचना किन स्वस्थ आधारो पर निर्मित की जायगी, इसके सम्बन्ध मे वे विस्तार से कुछ भी नही कह सके। सघ समाजवादी विचारकों मे कुछ विचारक ऐसे भी थे जो क्रान्ति के बाद के समाज की रूप-रेखा अथवा योजना को बनाने की आवश्यकता अनुभव ही नही करते थे। उनका विचार था कि क्रान्ति के पश्चात् की परिस्थितियां स्वय यह सुनिश्चित कर देंगी कि समाज का स्वरूप कैसा होना चाहिए। निश्चित रूप से इन विचारकों का विचार था कि भविष्य के समाज को हम बुद्धि अथवा विवेक द्वारा नही अपितु अनुभूति द्वारा समझ सकते हैं। *अनुभूतिवाद का विचार मूलत सघ समाजवादी विचार नही है, अपितु यह फ्रान्सीसी* दार्शनिक बर्गसां (Bergson) की देन है। भावी समाज सम्बन्धी संघ समाजवादी धारणा पर उसकी छाप स्पष्ट है। प्रसिद्ध सघ समाजवादी विचारक जार्ज सारेल का भी यही मत था। उनने बर्गसां के सिद्धान्त को सामाजिक व्यवस्था की व्याख्या करने मे प्रयुक्त किया।

पर इसका यह तात्पर्य नही कि सघ समाजवाद भावी समाज के सम्बन्ध मे कुछ विचार ही नही करता। सघ समाजवाद के भावी समाज मे यह निश्चित है कि पूंजीवाद नही रहेगा, वर्ग-सघर्ष नही होगा, राज्य अथवा सरकार को कोई स्थान और महत्त्व नही होगा। इस प्रकार उनके भावी समाज पर विचारक प्रोधों और कार्ल मार्क्स के विचारों की स्पष्ट छाप होगी। राज्य का अन्त होगा—यह प्रोधों का विचार था, और वर्गहीन समाज की स्थापना—यह मार्क्स की अभिलाषा थी। राज्य और उसकी संस्थाओं के समाप्त हो जाने पर कार्य कौन करेगा? इसका उत्तर यह है कि विभिन्न प्रकार से कार्यों को करने के लिए अनेक सिण्डीकेट (सघ) होंगे। कारखाने की व्यवस्था अथवा उनका सचालन पूंजीपति अथवा उनके प्रबन्धक नही करेंगे अपितु कारखानों की सिण्डीकेट मे सगठित मजदूर करेंगे। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के स्थानीय उद्योग-धन्धो का नियन्त्रण एव संचालन स्थानीय *मजदूरों की सिण्डीकेटों के हाथों मे होगा तथा* देशव्यापी सेवाओं जैसे डाक, तार, रेल इत्यादि का कार्य एव प्रबन्ध मजदूरों की राष्ट्रीय सिण्डीकेट करेगी। होगा यह कि प्रत्येक उद्योग का पृथक्-पृथक् सिण्डीकेट होगा। प्रत्येक नगर मे विविध व्यवसायों के विविध सिण्डीकेट होंगे। इसके पश्चात् प्रत्येक प्रकार की सिण्डीकेट के प्रतिनिधि अपनी क्षेत्रीय सिण्डीकेट को बनायेंगे और विभिन्न क्षेत्रीय सिण्डीकेट के प्रतिनिधि अपना-अपना एक-एक राष्ट्रीय सिण्डीकेट (सघ)

बनायेंगे। इस प्रक्रिया से निर्मित प्रत्येक राष्ट्रीय सिण्डीकेट अपने-अपने मामलों और क्षेत्र में स्वतन्त्र होगी। ये ही राष्ट्रीय नीति का निर्धारण करेंगी। इस प्रकार सघ समाजवादी समाज का सगठन बहुलवादी होगा क्योंकि उसमे सत्ता का विकेन्द्रीकरण होगा, साथ ही वह अराजक भी होगा क्योंकि उसमें एक केन्द्रीय सत्ता सस्था (राज्य) का अभाव होगा और प्रत्येक सिण्डीकेट अपने-अपने क्षेत्र मे पूर्ण स्वतन्त्र होगा। इस समाज-रचना मे यह बात स्पष्ट है कि जो मजदूर होगा उसी के हाथ मे सिण्डीकेट का प्रबन्ध होगा। जो मजदूर नही होगा उसका कोई महत्व नही होगा। अत यह पूर्णत श्रमिको अथवा मजदूरो का सत्ता-दर्शन है। उपरोक्त व्यवस्था से यह बात स्वत सिद्ध है कि सघ समाजवादी समाज मे पुलिस, जेल, न्यायालय आदि कुछ भी नही होगे। एक बात महत्त्व की और है, वह यह कि सघ समाजवाद राज्यसत्ता का अन्त अवश्य करता है, पर इसका यह अर्थ नही कि वह व्यक्ति को स्वच्छन्द और स्वतन्त्र छोडकर सिण्डीकेटों के अधीन रखना है। व्यक्ति के उत्तरदायित्व सिण्डीकेट के प्रति हैं।

आलोचना

सघ समाजवाद फ्रान्स के मजदूर आन्दोलन की विशेष परिस्थितियों की देन है। यह मूलत एक मजदूर आन्दोलन की विचारधारा रही है। इस रूप मे इसकी कुछ विशिष्टतायें है और मान्यतायें भी हैं, पर वे एकदम अपूर्ण और अवैज्ञानिक हैं। *यही कारण है कि सघ समाजवाद की तीव्र आलोचना की गई है।*

1 जहाँ तक इसकी कार्य-पद्धति का प्रश्न है वह घोर आपत्तिजनक और त्याज्य है। यह वह कार्य-पद्धति है जो सघवाद के प्रति अविश्वास को पैदा करती है। सघ समाजवादी लक्ष्य-प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष कार्यवाही पर अत्यधिक जोर देते हैं। हडताल प्रत्यक्ष कार्यवाही का प्रमुख शस्त्र है, पर ग्रे (Gray) इसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गलत मानता है। हडताल अन्तत मजदूरो के लिए अहितकर ही है। कारण, उससे उत्पादन घटता है, और इसका मजदूरो पर सीधा प्रभाव पडता है। आम तौर से यह देखा गया है कि हडताल सफल नही होती, राज्य अपनी पुलिस और प्रचार साधनो के द्वारा हडताल की कार्यवाही को कुचल देता है। ऐसी स्थिति मे मजदूरों का मनोबल टूटने लगता है और इस बात की सम्भावना रहती है कि वे कही थककर और निराश होकर बीच मे बैठ न जायें। हडताल के सम्बन्ध मे तीन आशकायें हैं और सयोगवश ये तीनो आशकायें मजदूरो के हित मे नही हैं। पहली यह कि यह सम्भव नही कि हडताल के द्वारा मजदूर पूँजीपतियो को इस बात के लिए बाध्य कर सकेंगे कि वे अपने सब अधिकार मजदूरो को सौंप देंगे। ऐसा सोचना दिवास्वप्न है। दूसरी आशका यह कि मान लीजिए हडताल लम्बी चली, दो-तीन माह तक चली, तो इससे मजदूरो की ही हानि है, कारण आम मजदूर इतना सम्पन्न और भरापूरा नही होता कि वह अपने परिवार के लोगों का भरण-पोषण इतने दिनों तक बिना मजदूरी किये कर सके। इतने दिन घर पर बैठने से तो उसके सामने इतनी

आर्थिक समस्यायें पैदा हो जायेंगी कि उसका सिर चक्कर खा जायगा। उसके बच्चे भूख के मारे बिलबिलाने लगेंगे। हाँ, पूँजीपति इस हानि को झेल सकता है। तीसरी आशंका यह भी है कि हो सकता है कि लम्बी हड़ताल के कारण मजदूर-वर्ग शेष समाज की सहानुभूति खो दे। क्योंकि हड़ताल आम जनता के सामने असुविधाओं को उपस्थित करती है। सामान्य जनता यह सोच सकती है कि इस सब का कारण मजदूर है। इससे तो कटुता बढेगी और लाभ होने की अपेक्षा हानि की ही सम्भावना अधिक है। हड़ताल के सम्बन्ध मे एक बात और है। कुछ संघ समाजवादी कहते है कि हड़ताल करने के पूर्व लूटपाट एव तोड-फोड कर देनी चाहिए, पर विचार करने पर लगता है कि यह भी ठीक नही। कारण एक तो इससे चरित्र-पतन होता है तथा अनुशासनहीनता बढती है और दूसरे मान लीजिए कही हड़ताल मे मजदूरो की जीत होती है और फिर वे कारखानो मे आते हैं तथा प्रबन्ध सम्हालते हैं तो उन्हें क्या मिलेगा—उनके द्वारा तोडी मशीनें! पर इससे तो नई समस्यायें पैदा होगी। वे उत्पादन कैसे करेंगे? सार्वभौम 'आम हड़ताल' की बात सोचना तो शेखचिल्लियों जैसी बात है। इतनी बडी बात सोचना उतना आसान और सम्भव नही होता जितना की सघ समाजवादी सोच लेते हैं। सार्वभौम आम हड़ताल के बारे मे सोरेल का यह कहना कि उसे 'एक अन्ध श्रद्धा' (Myth) बना देना चाहिए कम आपत्ति और आलोचना की बात नही है। यह तो स्वय मजदूरो को भ्रमित करने की और उनको सदैव के लिए अधेरे के गर्त मे रखने की चाल है। यह इस आशका को बल देता है कि कही सघ समाजवादी अपने स्वार्थ व नेतृत्व के लिए मजदूरो की भावना का शोषण तो नही करते।

2. यही बात ध्वसात्मक कार्यों के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। ध्वसात्मक कार्यों की निन्दा तो स्वयं सघ समाजवादी विचारक सोरेल ने की है। उसका विचार है कि इससे मजदूरो के चरित्र का पतन होगा तथा उनकी मनोवृत्ति बिगडेगी। इन तरीको से मजदूरों की रचनात्मक शक्ति समाप्त हो जायगी और उनमें विध्वसात्मक प्रवृत्ति का प्रवेश होगा।

3. जिस भावी समाज के स्वरूप का विचार सघ समाजवादियों ने किया है उसकी भी आलोचना की गई है। सघ समाजवादियों के भावी समाज की अनेक व्यवस्थायें दोषपूर्ण हैं। सबसे पहिली चीज तो यह है कि सभी सघो की नीतियो को केवल उसमें काम करने वाले मजदूरो के द्वारा निर्धारित किया जायगा। इस प्रकार का नीति-निर्धारण असन्तुलित और दोषपूर्ण होगा। कारण वे केवल अपने लाभ का विचार अपने सामने रखेंगे। समूचे समाज का विचार अपने सामने नही रखेंगे।

4. प्रत्येक सघ मे उत्पादको के द्वारा उसकी व्यवस्था का सिद्धान्त गलत है। यह सिद्धान्त एक बार कपडे और इस्पात के उद्योग पर तो लागू हो भी सकता है—हालांकि वह भी गलत ही है—पर सेना पर कैसे लागू होगा? सेना मे यदि सैनिक सभी चीजों की व्यवस्था करेंगे एव नीति-निर्धारण करेंगे तो काम कैसे चलेगा?

5. सघ समाजवादी व्यवस्था के अनुसार सम्पूर्ण समाज अनेक व्यावसायिक समूहों मे बँट जायगा। ऐसी स्थिति मे यह केवल सम्भव ही नही, वरन् अत्यन्त स्वाभाविक है कि उन समूहो मे परस्पर मतभेद विकसित हो जावें तथा सघर्ष तक छिड जाय। ऐसी स्थिति मे क्या होगा? कौन पारस्परिक सघर्ष को टालेगा या सुलझायेगा? राज्य तो होगा नही। यह सघ समाजवाद की सबसे बडी समस्या है। वस्तुतः राज्य-विहीन अवस्था की व्यवस्थायें कोई वजनदार आधार नही रखती और अनेक विपरीत सम्भावनाओ को जन्म देने वाली होती हैं। वे आशकाओं और सम्भावनाओ से भरे अनेको प्रश्नो को अपने साथ रखती है।

6. सघ समाजवाद द्वारा देशप्रेम की निन्दा और देशप्रेम की भावना की उपेक्षा अनुचित है। देशप्रेम प्रगति की पहली शर्त है। अनेक सघर्षो का अन्त इस भावना मे है। देशप्रेम के अभाव मे समाज की कोई भी पुनर्रचना सफल नहीं हो सकती।

मूल्यांकन

सघ समाजवाद मे अनेक कमजोरियाँ हैं, पर इतना होने पर भी हम उसकी उपयोगिता और महत्त्व को रसल के इन शब्दो मे दुहरा सकते हैं —

"सघ समाजवाद की व्यावहारिकता के विषय मे कुछ भी विचार क्यो न हो, किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि इसने मजदूर आन्दोलन को पुनर्जीवित करने और उसे उन सिद्धान्तो का स्मरण दिलाने के लिए बहुत कुछ किया, जिनके भुलाये जाने का खतरा था।"[6]

सघ समाजवाद एक ऐसी विचारधारा है जिसने व्यावहारिकता पर और मजदूरो के सगठन पर अत्यधिक बल दिया है, हालांकि उसकी पद्धति और मान्यताओ मे स्वीकार करने योग्य कुछ भी नही है।

सहायक पुस्तकें

Levine	*Syndicalism in France*
W. A. Dunning	*A History of Political Theories*
Laidler	*A History of Socialist Thought*
Bertrand Russel	*Roads to Freedom*
Sorel	*Reflection on Violence*
MacDonald	*Syndicalism*
C. E. M Joad	*The Modern Political Theory*
ज्योति प्रसाद सूद	आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास, भाग ४

• "Whatever may be thought of the practicability of Syndicalism, there is no doubt that the ideas it has put into the world have done a great deal to revive the labour movement" —Bertrand Russel *Roads to Freedom*, p 9э.

6
श्रेणी समाजवाद
(Guild Socialism)

●

श्रेणी समाजवाद वर्तमान शताब्दी की एक विकसित विचारधारा है। इसका आरम्भ वर्तमान शताब्दी के आरम्भिक काल मे हुआ। यह ब्रिटेन की विशिष्ट परिस्थितियों की देन है। जिस प्रकार सघ समाजवाद, समाजवाद का फ्रान्सीसी रूप था, उसी प्रकार श्रेणी समाजवाद, समाजवाद का ब्रिटिश रूप है। जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole) का कहना है कि "श्रेणी समाजवाद, फ्रान्स के सघ समाजवाद की समानान्तर अग्रेजी विचारधारा है।"[1] यह कथन काफी सत्य है। टॉम मैन ने ब्रिटेन के मजदूर आन्दोलन को फ्रान्स के सघ समाजवाद और और अमेरिका के आई० डब्लू० डब्लू० (Industrial Workers of the World) के अनुकूल बनाने का भरसक प्रयत्न किया था, पर उसे कोई सफलता नही मिली। ब्रिटेन के मजदूरों के सस्कार एव वहाँ की परिस्थितियाँ ही ऐसी थी कि वे उग्र स्वरूप को अगीकार ही नही कर सके। पर टॉम मैन के प्रयत्नों से इतना अवश्य हुआ कि फेबियनवाद की कमजोरियाँ और असमानतायें उभरकर सामने आयी, जिसके परिणामस्वरूप एक नवीन विचारधारा विकसित हुई। लोग यह सोचने लगे कि फेबियनवाद के प्रयत्न और सिद्धान्त अपूर्ण और अधूरे हैं। उससे परिवर्तित समाज की आवश्यकताओं को पूरा नही किया जा सकता। उन्हे वर्तमान समाज का सगठन दोषपूर्ण लगा, वे सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता को गम्भीरता से अनुभव करने लगे। ऐसे समय मे सघ समाजवाद की विचारधारा ने जिसका ब्रिटेन के राजनीतिक चिन्तन मे प्रवेश हो चुका था, एक नया दृष्टिकोण दिया। इसके परिणामस्वरूप लोग यह सोचने लगे कि स्थापित पूँजीवादी व्यवस्था, जिसमे व्यक्तिगत लाभ एवं उद्योगो पर व्यक्तिगत नियन्त्रण की महत्ता है एव तद्रूप सामाजिक सगठन के स्थान पर एक ऐसी औद्योगिक व्यवस्था एव सामाजिक सगठन विकसित किया जाय जिसमे कि उद्योगो के सचालन मे मजदूरो का नियन्त्रण हो, किसी का शोषण न हो, उत्पादन या लाभ किसी व्यक्ति विशेष को न मिलकर सबको मिले, उत्पादन समाज की उपयोगिता और आवश्यकता के अनुसार हो तथा जिसमें प्रत्येक मजदूर अपने को स्वतन्त्र अनुभव करे, जिसमे कि वह अपनी सृजनात्मक

[1] G. D. H. Cole, *Self-Government in Industries*, p 321.

शक्ति (Creative power) का पूर्ण प्रयोग कर सके। इसी कारण उन्होंने सोचा कि उद्योगों में स्वशासन के आधार पर सामाजिक परिवर्तन किया जाना चाहिए। अत. वे औद्योगिक प्रजातन्त्र (Industrial Democracy) की बात करने लगे। यही श्रेणी समाजवाद के प्रारम्भ की मूल बात थी। अत श्रेणी समाजवाद फ्रान्स के सघवाद और ब्रिटेन के समष्टिवाद की प्रतिक्रियाओं की उपज है। रॉको (Rockow) ने ठीक ही कहा कि "श्रेणी समाजवाद अंग्रेजी फेबियनवाद तथा फ्रान्सीसी सघवाद का बौद्धिक शिशु है।"[2]

श्रेणी समाजवाद अग्रेजी के शब्द 'गिल्ड सोशलिज्म' (Guild Socialism) का हिन्दी पर्यायवाची शब्द है। गिल्ड मध्यकालीन (13वी-14वी सदी) यूरोप की एक प्रमुख औद्योगिक सस्था थी। इसकी प्रमुख विशेषता यह थी कि प्रत्येक उद्योग का एक गिल्ड होता था। उसके सदस्य उस उद्योग में काम करने वाले सभी मजदूर और कारीगर होते थे। उस उद्योग के सचालन मे तथा उसकी नीति-निर्धारण में प्रत्येक सदस्य का हाथ रहता था। गिल्ड पूर्णत स्वतन्त्र सस्था होती थी। वह स्वय-शासित होती थी, उसकी नीति-निर्धारण मे किसी वाह्य शक्ति या व्यक्ति का हाथ नही होता था। पूंजीवाद के उदय के पूर्व व्यवसाय में श्रेणियां प्रधान थीं। ये ही वस्तु का मूल्य, मात्रा, गुण आदि निर्धारित करती थी। इसके साथ ही सार्वजनिक हित के कार्य भी श्रेणी करती थी। औद्योगिक क्रान्ति (1750–1850) के परिणामस्वरूप श्रेणी प्रथा का अन्त हो गया।

वर्तमान समय मे श्रेणी समाजवाद का प्रारम्भ उपरोक्त मध्यकालीन व्यवस्था के प्रति ब्रिटिश विचारकों के आकर्षण के परिणामस्वरूप हुआ। उन्नीसवी सदी के मध्य मे जब पूंजीवादी व्यवस्था की अनेक बुराइयां उभर कर सामने आयी तो कुछ विचारकों के मस्तिष्क मे मध्यकालीन गिल्ड व्यवस्था का वह रूप जिसमें समाज विभिन्न स्वशासित गिल्डो में बँटा था और जिसमें प्रत्येक सदस्य का सम्मान था, सामने आया। इन विचारकों में एच० बैलोक (H Belloc) तथा सी० चेस्टरटन (C. Chesterton) प्रमुख थे। पर उस समय गिल्ड व्यवस्था के प्रति यह आकर्षण समाज-रचना का विशेष व्यवस्थित रूप नही ले सका।

1906 मे आर्थर जाजफ पेन्टी (A. J. Penty) की पुस्तक *The Restoration of the Guild System* (श्रेणी व्यवस्था की पुनर्स्थापना) प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में पहली बार श्रेणी समाजवाद का विचार विकसित रूप मे सामने आया। पेन्टी की उपरोक्त पुस्तक में श्रेणी को भविष्य के समाज की रचना का आधार बनाया गया। वैसे पेन्टी प्रारम्भ मे फेबियनवादी था, पर उसने फेबियनवाद से सम्बन्ध तोड़कर श्रेणी समाजवाद की विचारधारा को अपनाया। वह घटना काफी रोचक है जिसके कारण ए० जे० पेन्टी को फेबियनवाद से सम्बन्ध तोड़ने पड़े। बात यह

[2] 'Guild Socialism is the intellectual child of English Fabianism and French Syndicalism" —Rockow

थी कि 'लन्दन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स' के संस्थापक फेबियन थे। जब प्रश्न उक्त संस्था के भवन-निर्माण का ठेका लेने का आया तो ठेका उस व्यक्ति को दिया गया जो भवन-निर्माण फेबियनों की रुचि के अनुसार करे। पेन्टी को यह बात उचित नहीं लगी। उसे लगा कि फेबियनवाद कला का विकास स्वतन्त्र और उन्मुक्त रीति से नहीं होने देना चाहता। यह ध्यान देने योग्य बात है कि स्वयं ए० जे० पेन्टी एक प्रसिद्ध वास्तुकलाकार (Architect) था। पेन्टी ने औद्योगिक प्रणाली की कटु आलोचना की। आलोचना का एक आधार यह भी था कि औद्योगिक प्रणाली मे उत्पादन काफी मात्रा मे, पर हल्के किस्म का किया जाय। इससे हालाँकि उपभोक्ता को यह लाभ मिलता है कि उसे वस्तु सस्ते मूल्य पर मिल जाती है, पर उत्पादकों को इससे कोई लाभ नहीं होता। कारण, इस क्रम मे उनकी कलात्मक योग्यता और रचनात्मक क्षमताओं एवं शक्तियों का कोई उपभोग नहीं हो पाता। वे पूर्णत. समाप्त हो जाती हैं। जिन परिस्थितियों मे वे कार्य करते हैं उनमे अपनी प्रकृति और भाव के अनुकूल नवीन-नवीन वस्तुओं को निर्मित करने की रचनात्मक योग्यता का भी कोई मूल्य नहीं होता। उसकी इस प्रकार की समस्त शक्तियाँ कुंठित हो जाती हैं और कलाकार का जीवन पूँजीपति द्वारा रुपयों मे खरीदा हुआ रसहीन जीवनमात्र रह जाता है। ए० जे० पेन्टी के विचार के सम्बन्ध मे सी० ई० एम० जोड का कहना है कि "पेन्टी के तर्क अशत. भावुकता तथा अशत· सौन्दर्यात्मक आधारों पर आधारित हैं तथा वे बड़े पैमाने पर उत्पादन तथा व्यापार की आधुनिक पद्धतियों के विरुद्ध हैं।" यही कारण है कि पेन्टी ने जिस दस्तकारी की योजना को प्रस्तावित किया जिसमे 'स्वतन्त्र दस्तकारों के आधार पर उद्योगों के सगठन' की बात कही गई थी, वह आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थी।

पेन्टी के विचारों को न्यू एज (*New Age*) के सम्पादक ए० आर० ओरेज, एस० ओ० हाब्सन तथा जी० डी० एच० कोल ने और भी विकसित किया।

श्रेणी समाजवादी विचारकों ने मध्य काल की श्रेणी प्रथा मे वर्तमान समय और परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक परिवर्तन किये और उस व्यवस्था को पुनः प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया। वे आधुनिक समाज की अनेक व्यवस्थाओं, विशेषत· उसके आर्थिक और राजनीतिक सगठन के कटु आलोचक थे। उनके अनुसार वर्तमान राजनीतिक ढाँचा उन अनेक व्यवस्थाओं के लिए उपयुक्त नहीं है जिनको श्रेणी समाजवाद स्थापित करना चाहता है। अत. वे राज्य के कार्यक्षेत्र एवं अधिकार-क्षेत्र को उपभोक्ताओं एवं उत्पादकों के हितों के अनुरूप नये सिरे से संगठित करने के पक्ष मे थे। इसी प्रकार वर्तमान आर्थिक ढाँचा भी दोषपूर्ण है। मजदूरी प्रथा एवं वेतन प्रथा जो वर्तमान आर्थिक प्रणाली की विशेषता है श्रेणी समाजवाद के अनुसार एक प्रकार की गुलामी है। अत. श्रेणी समाजवाद एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था का समर्थक है जिसमे उत्पादन के साधनों पर केवल सामाजिक स्वामित्व ही नहीं हो वरन् उद्योगों की व्यवस्था और उसके सचालन मे मजदूरों का

नियन्त्रण हो। इस प्रकार की नवीन राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं के परिणामस्वरूप एक नवीन सामाजिक प्रणाली विकसित होगी जो न्यायपूर्ण और प्रजातान्त्रिक होगी। प्रसिद्ध श्रेणी समाजवादी विचारक जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole) का कहना है कि समाज की वर्तमान सम्पूर्ण व्यवस्था दोषपूर्ण है। इस व्यवस्था मे मूलत तीन त्रुटियाँ हैं :—

(1) *वर्तमान प्रजातन्त्रीय व्यवस्था* व्यक्ति को अपने शासकों को निर्वाचित करने का तो अधिकार देती है पर उसे यह अधिकार नही देती कि वह अपने आप पर शासन करे।

(2) अपने शासकों को निर्वाचित करने का अधिकार भी सीमित है। केवल राजनीतिक क्षेत्र मे यह अधिकार प्राप्त है। व्यवसाय और उद्योग के क्षेत्र में यह अधिकार प्राप्त नही है। वहाँ आज भी गम्भीर असमानता मौजूद है।

(3) वर्तमान काल मे राज्य के कार्यक्षेत्र मे *असाधारण वृद्धि हुई है।* जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे उसका हस्तक्षेप बढा है। वह अपने कानूनों के बल पर समाज के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करता है। इसके साथ ही निर्वाचन की वर्तमान पद्धति भी दोषपूर्ण है। आज निर्वाचन भौगोलिक (क्षेत्रीय) आधार पर होता है, इससे किसी भी वर्ग का सही प्रतिनिधित्व नही हो पाता।

वर्तमान समाज की उपरोक्त त्रुटियों के अतिरिक्त समाज के वर्तमान पूँजीवादी स्वरूप की गिल्ड समाजवादी कटु आलोचना करते हैं। वे इसकी आलोचना मनोवैज्ञानिक और नैतिक दृष्टि से भी करते हैं। उनका विश्वास है कि उत्पादन के समस्त साधनों पर किसी एक व्यक्ति अथवा वर्ग का नहीं अपितु समाज का अधिकार होना चाहिए। लाभ सम्पूर्ण समाज को मिले इसके लिए साधनों का समाजीकरण किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। समाजीकरण का यह तात्पर्य नहीं है कि जिस उद्योग का समाजीकरण किया गया है उसका सचालन राज्य करे, पर इसका यह तात्पर्य है कि उस उद्योग के श्रमिकों का उस पर नियन्त्रण रहे। इसका कारण स्पष्ट है। मजदूरी प्रणाली के सम्बन्ध मे जो दोष पूँजीवादी व्यवस्था मे पाये जाते हैं वे ही दोष राज्य द्वारा उद्योगो के सचालन मे भी पाये जा सकते हैं। जितना कठोर अमानवीय और असहिष्णु व्यवहार मजदूरो के प्रति एक पूँजीपति का होता है, वैसा ही राज्य का भी हो सकता है। अतएव यदि उद्योग का सचालन पूँजीपति के स्थान पर राज्य के हाथो मे चला गया तो मजदूरो को क्या लाभ हुआ ? मजदूरों के मालिकों मे परिवर्तन उनकी वास्तविक स्थिति मे परिवर्तन नहीं कहलाता। दोनों ही व्यवस्थाओ मे मजदूरों की गौरव भावना का अन्त होता है। अत इस स्थिति के अन्त के लिए यह आवश्यक है कि उद्योगों का सचालन मजदूरो के हाथों मे हो। उद्योगों पर मजदूरो का नियन्त्रण हो।

इसके अतिरिक्त एक कारण और भी है जिसके कारण मे गिल्ड समाजवादी विचारक उद्योगो पर राज्य के नियन्त्रण का विरोध करते हैं। गिल्ड समाज-

वादी, वर्तमान राजनीतिक सगठन को दोषपूर्ण मानते है। जी० डी० एच० कोल का कहना है कि राज्य का कार्य मूलत. आय और मूल्य का नियमन करना है, वस्तुओ के उत्पादन पर अधिकार करना नही है। वस्तुओ के उत्पादन मे मजदूरों का नियन्त्रण होना चाहिए। यह राज्य के कार्य-क्षेत्र और अधिकार-क्षेत्र के बाहर की बात है कि वह उद्योगो पर नियन्त्रण करे।

जी० डी० एच० कोल ने वर्तमान निर्वाचन की प्रणाली को दोषपूर्ण बतलाया है। वे इसे प्रतिनिधित्व के गलत सिद्धान्त पर आधारित मानते हैं। कोल की इस धारणा का कुछ विस्तार से विचार आवश्यक है। श्रेणी समाजवाद निर्वाचन की वर्तमान प्रणाली के स्थान पर, व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representation) का समर्थन करते हैं।[3] वे इसे प्रतिनिधित्व का वास्तविक आधार मानते हैं। उनका विश्वास है कि यह मान्यता कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों का जिनके हित, इच्छाएँ एव व्यवसाय अलग-अलग हैं, प्रतिनिधित्व कर सकता है, मिथ्या और भ्रमात्मक है। इसी प्रकार एक ही व्यक्ति का व्यक्तित्व विविधरूपी होता है। अत उसके व्यक्तित्व के सभी पक्षो का प्रतिनिधित्व कोई एक व्यक्ति नही कर सकता। अत अपने व्यक्तित्व के विविध पक्षों का समुचित प्रतिनिधित्व करने के लिए उसे विभिन्न प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होना चाहिए। कोल के शब्दो मे "मुझसे यह अनुरोध करना कि मैं किसी व्यक्ति को अपनी सम्पूर्ण समस्याओं का प्रतिनिधि बनाऊँ मेरी बुद्धि को अपमानित करना है।"

अत क्षेत्रीय अथवा भौगोलिक निर्वाचन पद्धति एक बहुत बडा पाखण्ड है। सच्चा प्रतिनिधित्व सदैव व्यावसायिक ही हो सकता है, अर्थात् एक व्यक्ति अपने क्षेत्र के सभी व्यक्तियो की इच्छाओ का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता वरन् एक व्यक्ति जिस व्यवसाय का है वह उस व्यवसाय को करने वाले अन्य लोगों की इच्छाओं, हितों और भावनाओ का प्रतिनिधित्व कर सकता है। वकील वकीलो का, डाक्टर डाक्टरो का, अध्यापक अध्यापको का, एव मजदूर मजदूरो का प्रतिनिधित्व कर सकता है। यही सच्चा और वास्तविक प्रतिनिधित्व है। श्रेणी समाजवाद की यह धारणा है कि एक व्यक्ति का प्रतिनिधित्व कभी नही किया जा सकता, प्रतिनिधित्व किसी वर्ग के सामान्य हितों का किया जा सकता है। ये वर्ग व्यावसायिक वर्ग होते हैं। अत इस सच्चे प्रतिनिधित्व की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण समाज को व्यावसायिक आधार पर पुनर्गठित किया जाना चाहिए। जोड का कहना है, "व्यावसायिक प्रतिनिधि निकायों के आधार पर सगठित समाज ही वास्तव में प्रजातान्त्रिक है। इनमे से प्रत्येक निकाय अपने सदस्यों के कुछ विशेष समान उद्देश्यों का प्रतिनिधित्व करता है।"[4] यही व्यावसायिक जनतन्त्र है।

[3] G. D. H. Cole, *Socialism Restated*, pp. 31-33.
[4] जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त-प्रवेशिका, पृ० 78।

श्रेणी समाजवादी समाज की रचना

श्रेणी समाजवाद जिस प्रकार के समाज का विचार करता है वह अनिवार्यत वर्तमान समाज से भिन्न है पर उसके भावी समाज के सगठन का कोई एक और सुस्पष्ट स्वरूप निश्चित नहीं किया जा सकता, कारण, इस सम्बन्ध मे सभी श्रेणी समाजवादी विचारक एकमत नही हैं ।

पूँजीवादी समाज के विकल्प मे जिस समाज का विचार श्रेणी समाजवाद करता है, उस समाज की इकाई 'श्रेणी' होगी । श्रेणी समाज के सगठन का मूलभूत आधार है । ओरेज (Orage) ने श्रेणी को परिभाषित करते हुए कहा है कि "'श्रेणी' समाज मे किसी कार्य विशेष को उत्तरदायित्वपूर्ण तरीके से सम्पन्न करने के लिए सगठित परस्पर निर्भर व्यक्तियो का एक स्वशासित सघ है।"[5] अर्थात् श्रेणी मे वे सब लोग सम्मिलित होगे जो किसी उद्योग मे कार्य करते हो, चाहे वे श्रमिक, प्रबन्धक, क्लर्क, टेक्नीशियन आदि कोई भी हो । इस प्रकार की श्रेणी एक स्वायत्त सस्था होगी । वह उद्योग की व्यवस्थाओ, नीतियो एव योजनाओ का निर्धारण करेगी तथा उन्हे कार्यान्वित करेगी । वह उद्योगो का प्रबन्ध स्वय के हितो की दृष्टि से नही परन्तु समाज की आवश्यकताओ की दृष्टि से करेगी । श्रेणी ही उस उद्योग को चलायेगी । क्योकि श्रेणी का सगठन प्रजातन्त्रीय होगा अतः श्रमिक तानाशाही की आशका जैसी कि साम्यवाद मे होती है, नही रहेगी । यहां इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि समाज मे कितनी श्रेणियाँ होगी ? समाज मे श्रेणियो की निश्चित सख्या का निर्धारण असम्भव है, पर कोल के अनुसार इतना अवश्य है कि समाज मे प्रत्येक उद्देश्य के लिए एक श्रणी होगी ।[6] समाज मे श्रेणियां केवल उत्पादको तथा उपभोक्ताओ की ही नही होगी, वरन् सामाजिक, शिक्षा एव स्वास्थ्य सम्बन्धी कार्यों की भी बनेगी । यद्यपि कृषि कार्य की कुछ विशेषतायें एव विशिष्टतायें होती हैं जैसे वह विकेन्द्रित होता है, तथापि वह कार्य भी श्रेणियो द्वारा होगा ।

समाज मे श्रेणियो के सगठन की पद्धति के सम्बन्ध मे सभी श्रेणी समाजवादी एकमत नही हैं, उनमे परस्पर मतभेद है । कुछ विचारक हैं जो यह चाहते हैं कि श्रेणियो का सगठन स्थानीय धरातल पर किया जाना चाहिए । पेन्टी और स्टलिन टेलर इसी मत के हैं । अपने मत के समर्थन मे उनका कहना है कि मध्यकालीन श्रेणियाँ भी स्थानीय ही होती थी । दूसरी बात यह है कि स्थानीय श्रेणियो मे श्रमिको को अधिक स्वतन्त्रता मिल सकती है । आन्दोलन की सफलता के लिए आवश्यक है कि स्थानीय श्रेणियों को अधिकाधिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए । यदि

[5] "A guild is a self governing association of mutually dependent people organised for the responsible discharge of a particular function of society "
—Orage *Alphabet of Economics* p 53

[6] Cole *Self Government in Industry* pp 33-34

ऐसा नहीं हुआ और स्थानीय श्रेणी केन्द्रीय श्रेणी के आदेशों और निर्णयों को मानने वाली एवं उन्हें पूरा करने वाली एक संस्था मात्र बन गई तो इससे मजदूरों की स्थिति लगभग वैसी ही होगी जैसी कि राज्य समाजवाद में होती है।

श्रेणियों के संगठन के सम्बन्ध में एक दूसरा भी विचार है। कुछ विचारक राष्ट्रीय श्रेणियों के समर्थक हैं, उनका आग्रह है कि श्रेणियाँ राष्ट्रव्यापी होनी चाहिएँ। कारण, आज मध्ययुग की स्थिति नहीं है, अब उद्योगों का संगठन और उनका विस्तार राज्यव्यापी हो गया है। अतः उद्योगों पर सफल नियन्त्रण करने के लिए शक्तिशाली राष्ट्रीय श्रेणी होनी ही चाहिए। कोल का कहना है कि श्रेणियों को आधुनिक युग की स्थिति के अनुरूप राष्ट्रीय ही होना चाहिए पर उन्हें अधिक से अधिक विकेन्द्रित होना चाहिए। एक उद्योग से सम्बन्धित एक क्षेत्र में स्थित सभी श्रेणियाँ स्थानीय श्रेणी में आवेंगी तथा उस उद्योग से सम्बन्धित सब स्थानीय श्रेणियों को मिलाकर एक राष्ट्रीय श्रेणी (National Guild) गठित की जा सकती है। सामान्य नीति का निर्धारण, बाजारों का निरीक्षण तथा अनेक स्थानीय श्रेणियों में संयोजन स्थापित करने का कार्य राष्ट्रीय श्रेणी करेगी। परन्तु उद्योगों के आन्तरिक प्रबन्ध का कार्य, लाभ का निर्धारण आदि स्थानीय श्रेणी का कार्य है। श्रेणी समाजवाद की यह विशेषता है कि इसमें समाज का संगठन दुहरा होगा। स्थानीय से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक एक ओर आर्थिक श्रेणियाँ होंगी तथा उनके समानान्तर दूसरी ओर राज्य की व्यवस्था होगी। श्रेणियों का संगठन और उनकी रचना काफी व्यवस्थित और योग्य पद्धति से की जायेगी। प्रत्येक कारखाने की एक समिति होगी। इसका गठन जनतन्त्रीय पद्धति से होगा। यह कारखाने की आम बातों को तथा वेतन, समय आदि को निर्धारित करेगी। इसके साथ ही उपभोक्ताओं की भी एक समिति होगी जो यह बतायेगी कि किस वस्तु का कितनी मात्रा में उत्पादन किया जाये। वस्तु के मूल्य आदि के प्रश्नों का निर्णय श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं की समितियों के सहयोग एवं विचार-विनिमय से किया जायेगा। स्थानीय श्रेणियों के ऊपर प्रादेशिक श्रेणियाँ होंगी। इनका निर्वाचन स्थानीय श्रेणियों द्वारा होगा। इसी के समानान्तर उपभोक्ताओं की भी समितियाँ होंगी। इनमें परस्पर सम्पर्क और सहयोग रहेगा। ये प्रान्तीय विषयों का विचार करेंगी। प्रान्तीय श्रेणियों द्वारा राष्ट्रीय श्रेणियों का गठन होगा। ये समितियाँ राष्ट्रीय उत्पादन के विषयों एवं प्रश्नों पर विचार करेंगी जैसे—लोहा, जहाज, इस्पात, आदि। सभी राष्ट्रीय श्रेणियों के ऊपर इनकी प्रतिनिधि संस्था श्रेणी कांग्रेस (Guilds Congress) होगी। इसमें सभी केन्द्रीय श्रेणियों को प्रतिनिधित्व मिलेगा तथा यह सामञ्जस्य के प्रश्नों पर विचार करेगी और श्रेणियों से सम्बन्धित प्रश्नों पर अपील के अन्तिम न्यायालय का कार्य करेगी। इस श्रेणी कांग्रेस के ही समानान्तर एवं इसके समकक्ष संसद् (राज्य की प्रतिनिधि संस्था) होगी जो राजनीतिक प्रश्नों पर विचार करेगी। यदि कुछ ऐसे प्रश्न होंगे जिनमें राजनीतिक और औद्योगिक दोनों प्रकार के प्रश्न

निहित हो तो उनका निर्धारण समद् और श्रेणी कांग्रेस के परस्पर विचार से होगा।

श्रेणी समाजवाद और राज्य

आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से समाज को सगठित करने के पश्चात् भी कुछ ऐसे कार्य होते है जो सार्वजनिक होते हैं तथा प्रकृति मे आर्थिक नही होते। जैसे बाह्य आक्रमण मे रक्षा, आन्तरिक शान्ति, विदेशों से सम्बन्धो की स्थापना, आदि। ये कार्य सामान्यत राजनीतिक कार्य कहलाते हैं—ऐसे कार्यों को कौन सम्पादित करे ? श्रेणी समाजवाद ऐसे कार्यो को सम्पादित करने के लिए राज्य को एक उचित और प्रभावशाली सस्था मानता है। इस प्रकार वह राज्य के उन्मूलन का समर्थन नही करता जैसा कि सघ समाजवाद करता है। हाँ, वह राज्य के कार्यो को सीमित अवश्य कर देता है। अर्थात् राज्य औद्योगिक उत्पादन की प्रक्रिया को प्रभावित नहीं करेगा। यह कार्य श्रेणियो द्वारा होगा, पर राज्य राजनीतिक कार्यो को बराबर करता रहेगा। इस प्रकार कोकर के अनुसार "श्रेणी समाजवाद उत्पादनकर्ताओ के विशिष्ट हितो के संघ समाजवादी विचार तथा सार्वजनिक हितो के राजनीतिक विचार मे सामजस्य स्थापित करने का प्रयास है। वह समाज मे न प्रादेशिक समुदायो को पूर्ण मानता है और न व्यावसायिक समुदायो को ही।"[7]

पर समाज मे राज्य का क्या स्थान होगा ? क्या वह सम्प्रभुतासम्पन्न राज्य होगा या श्रेणियो के सगठन के समकक्ष तथा उनके समतुल्य एक राजनीतिक सगठन मात्र होगा ? इस प्रश्न पर सभी श्रेणी समाजवादी एकमत नही हैं। हाब्सन के अनुसार राज्य समाज मे सम्प्रभु रहेगा। उसका विचार है कि राज्य समाज की एक अनिवार्य सस्था बना रहता है। राज्य नागरिकता का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार वह सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व करता है। अन्य सस्थायें ऐसा नही करती। वे समाज के किसी एक भाग का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। राज्य सत्ता का स्रोत है। अत राज्य सप्रभु के रूप मे आवश्यक है। अर्थात् एक श्रेणी समाजवादी समाज मे राज्य का कार्यक्षेत्र सीमित अवश्य है, पर वह सम्प्रभु और सर्वोच्च सस्था के रूप मे अवस्थित अवश्य रहेगा, वह अन्तिम निर्णायक होगा।

कोल के विचार हाब्सन से भिन्न थे। वह राज्य को दमनकारी और वर्गीय सस्था मानता था। उसके अनुसार राज्य सप्रभु और सर्वोच्च सत्तासम्पन्न सस्था नही है। कोल बहुलवादी (Pluralistic) था। उसके अनुसार सर्वोच्च राज्य का सिद्धान्त बीते युग की बात हो चुकी है। वह अन्य समुदायो की भाँति ही एक समुदाय है। अत अन्य सस्थाओ के समान उसके पास भी उतनी ही सत्ता होनी चाहिए जिसमे कि वह अपने कार्यो को समाज मे व्यवस्थित रूप से चला सके। इस दृष्टि से कोल ने एक ओर समष्टिवादी विचारधारा को तथा दूसरी ओर हॉब्सन

[7] कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृ० 289–290।

जैसे श्रेणी समाजवादी विचारक की आलोचना की जो मानता था कि "राज्य का सर्वोच्च कार्य समाज की आत्मा की अभिव्यक्ति करना तथा समाज के विविध समुदायों के कार्यों का निर्देशन तथा उनमें सम्बन्ध स्थापित करना है।"[8]

राज्य का एक कार्य ऐसा है जो समाज में उसकी उपयोगिता को बनाये रखता है और उसे सप्रभु कर देता है। वह कार्य है विभिन्न समुदायों में सामञ्जस्य स्थापित करने का कार्य, पर कोल इस कार्य के कारण भी राज्य को स्वीकार नहीं करता। वह राज्य के स्थान पर कम्यून (Commune) का विचार करता है जो राज्य से श्रेष्ठ और उच्च संस्था होनी थी, पर यह अनिवार्यतः राज्य से भिन्न होगा। कम्यून उपभोक्ताओं, उत्पादनकर्त्ताओं, व्यावसायिक संस्थाओं तथा किसी सीमा तक प्रादेशिक आधार पर प्रतिनिधित्व का सम्मिलित एवं प्रतिनिधि रूप होगा।[9] यह स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय संस्था होगी। स्थानीय कम्यून में प्रत्येक वार्ड के कुछ सदस्य चुने जा सकेंगे। प्रादेशिक कम्यून में नगरों एवं ग्रामों के प्रतिनिधि होंगे तथा राष्ट्रीय कम्यून में प्रादेशिक कम्यून के प्रतिनिधि, औद्योगिक, कृषक तथा नागरिक राष्ट्रीय श्रेणियों के प्रतिनिधि होंगे।

कम्यून को पर्याप्त एवं व्यापक अधिकार होंगे। कर निश्चित करने, विभिन्न व्यावसायिक संघों के बीच सत्ता-विभाजन, युद्ध एवं शान्ति की घोषणा, सैन्य बल पर नियन्त्रण, वैदेशिक सम्बन्धों पर नियन्त्रण आदि का अधिकार कम्यून को होगा। कोल का विचार था कि कम्यून राज्य का नया रूप नहीं वरन् उससे एक भिन्न संस्था होगी। वस्तुतः इसमें सप्रभुता को कई श्रेणियों में बाँट दिया गया है। कोल कहता था कि यदि मनुष्य ने राज्य का निर्माण किया है, तो वह उसका अन्त भी कर सकता है। यह अन्त कम्यून की स्थापना से होगा। पर कम्यून की शक्ति के बारे में कारपेन्टर का मत कुछ संकेत करने वाला है, जबकि वह कहता है कि "यद्यपि सिद्धान्त में सप्रभुता का श्रेणीकरण कर दिया गया है तथापि वास्तव में यदि कम्यून एकमत होकर कार्य करे तो वह राज्य से भी अधिक शक्तिशाली और प्रभुतासम्पन्न होगा और विभिन्न समुदायों तथा सवामों के कार्यों में हस्तक्षेप कर सकेगा।"[10]

श्रेणी समाजवादियों की कार्य-पद्धति

श्रेणी समाजवादी कार्य-पद्धति के प्रश्न पर भी एकमत नहीं थे। पर इतना अवश्य था कि आमतौर पर सभी राजनीतिक साधनों की अपेक्षा वे आर्थिक साधनों पर अत्यधिक बल देते थे। श्रेणी समाजवाद राजनीतिक साधनों के प्रति उदासीन था। उनका विश्वास था कि समाज में आमूल परिवर्तन राजनीतिक साधनों के आधार पर

[8] वही, पृष्ठ 293।

[9] Cole, *Guild Socialism Restated*, pp. 124–125.

[10] Carpenter, *Guild Socialism*, pp. 178–179. प्रभुदत्त पन्त की पुस्तक राजनीति-शास्त्र के आधार, भाग 2, पृ० 290–291 से उद्धृत।

नहीं किया जा सकता। कारण, पूंजीवादी समाज में यह सम्भव ही नहीं लगता कि सभी श्रमिक एक साथ मतदान कर सकेंगे और फिर मान लीजिए मजदूरों में राजनीतिक चेतना आ गई और उन्होंने शासन पर अधिकार कर भी लिया तो जनतन्त्र में परिवर्तन का क्रम इतना मन्द और धीमा रहता है कि कोल के अनुसार श्रेणी समाजवाद की स्थापना में कम से कम एक शताब्दी का समय लगेगा। इसके साथ ही श्रेणी समाजवादी संघ समाजवाद की इस धारणा में विश्वास करते हैं कि राजनीतिक शक्ति के पूर्व आर्थिक शक्ति आती है। अतः उन्होंने आर्थिक साधनों पर ही अत्यधिक जोर दिया।

उनका आर्थिक कार्यक्रम नवीन तरीके से श्रमिक संगठनों को संगठित करने से प्रारम्भ होता है। उनकी दृष्टि में अभी तक के मजदूर संगठनों में अनेक त्रुटियाँ थीं, जैसे एक ही कारखाने में श्रमिकों के अनेक अलग-अलग संघ होते थे। इससे होता यह था कि किसी भी प्रश्न पर सभी श्रमिक संगठनों को राजी करना कठिन होता था। जैसे मान लीजिए हड़ताल करनी है। अब इसके लिए सबको राजी करना कठिन है। इससे होता यह था कि पूंजीपति एक-दो संगठनों को अपनी ओर करके हड़ताल असफल करवा देते थे। ऐसे अनेक कटु अनुभव आने के कारण श्रेणी समाजवाद ने व्यावसायिक संघों का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने कहा—एक कारखाने में एक ही संघ होना चाहिए। इसके सदस्य उस कारखाने के सभी लोग होंगे, चाहे वे कर्मचारी हों, श्रमिक हों अथवा टेक्नीशियन हों। इस प्रकार गठित श्रमिक संघ (श्रेणी) का अधिकार सम्पूर्ण श्रम-शक्ति पर होगा, उसके किसी अंश पर अथवा भाग पर नहीं।

इस प्रकार के संगठन गठित करने के पश्चात् अतिक्रमणकारी नियन्त्रण की नीति (Policy of encroaching control) के अनुसार कार्य करना चाहिए अर्थात् व्यवसाय में पूंजीपतियों के प्रभुत्व को धीरे-धीरे समाप्तप्राय और निष्क्रिय करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए कारखाने की व्यवस्था को अपने हाथ में लेने का, अनुशासन को लागू करने का, श्रमिकों की नियुक्ति तथा उनको निकालने का कार्य अपने हाथों में लेने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके अलावा एक कार्य और किया जा सकता है। वह है सामूहिक ठेके (Collective contract) की नीति, अर्थात् किसी काम को पूरा करने के लिए दैनिक पारिश्रमिक के स्थान पर मिल मालिक से उस काम का ठेका ले लेना तथा उसके पैसे तय कर लेना। ऐसा करने में उस काम का निरीक्षण तथा प्रबन्ध भी मजदूरों को करना पड़ेगा तथा जो रुपया वे मिल मालिक से लेंगे उसे आपस में बाँट लेंगे। 1920 में श्रेणी समाजवादियों ने ऐसा किया भी था। उन्होंने एक 'राष्ट्रीय भवन निर्माण श्रेणी' (National Buildings Guild) की स्थापना की। इस श्रेणी ने सरकार से सस्ते और मजबूत मकान बनाने का ठेका देने को कहा। सरकार ने कुछ ठेके दिये भी। श्रेणी ने

सस्ते और मजबूत मकान बनाये भी थे। इसी प्रकार दर्जियो की भी श्रेणी बनी तथा उसने भी कार्य किया।

वैसे श्रेणी समाजवाद शान्तिपूर्ण एवं अहिंसक साधनों पर जोर देते हैं तथा हिंसक क्रान्ति की आवश्यकता पर जोर नही देते, तथापि वे इस सम्भावना को भी मानते थे कि मजदूरो के सगठित और अनुशासित प्रयत्न मे पूँजीपति यदि दमन-नीति का प्रयोग करेंगे तो ऐसी स्थिति में सम्भव है कि मजदूरों को शस्त्र उठाने पड़े।

आलोचना

श्रेणी समाजवाद की विचारधारा का मजदूर आन्दोलन और उसके सिद्धान्तों पर काफी प्रभाव पडा, परन्तु इस विचारधारा मे गम्भीर दोष भी हैं जिनके लिए इसकी आलोचना की जाती है।

1 सबसे पहिली बात तो यह है कि स्वय श्रेणी समाजवादी विचारक अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर एकमत नही थे। राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में, समाज मे उसके स्थान के सम्बन्ध मे, कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध मे उनमे गम्भीर मतवैभिन्य था। इसका परिणाम यह हुआ कि श्रेणी समाजवाद एक निश्चित और व्यवस्थित दर्शन नही बन सका। इसने अनेक विचारको को प्रभावित किया पर किसी ने भी इसे ग्रहण नही किया।

2. श्रेणी समाजवाद एक बहुलवादी विचारधारा है। यह राज्य की संप्रभुता को समाप्त कर देना चाहती है। इसके परिणामस्वरूप समाज का सगठन दोहरा करने का विचार ये प्रस्तुत करते हैं। स्थानीय से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक समाज का सगठन दुहरा होगा—राजनीतिक और आर्थिक। बहुलवादी विचार होने के कारण जो दोष बहुलवाद के हैं वे भी श्रेणी समाजवाद मे आ गये हैं। एक बात और है—समाज के आर्थिक सगठन मे सर्वोच्च सस्था है श्रेणी कांग्रेस और राजनीतिक सगठन मे सर्वोच्च सस्था है राज्य। अब यदि इन दोनों में किसी प्रश्न पर मतभेद पैदा हो जायें, जो कि सम्भव भी हैं, तो कैसे दूर होंगे? श्रेणी समाजवाद पर ऐसा कोई भी मान्य और प्रभावशाली आधार नही है जिसके द्वारा मतभेद अनिवार्यतः दूर किये जा सकें।

3. श्रेणी समाजवाद प्रत्येक उद्योग मे एक स्वायत्त श्रेणी के होने की बात कहता है जिसका सगठन जनतन्त्री हो और जिसमे उस उद्योग मे कार्य करने वाले सभी कर्मचारी सदस्य हो और जो उस उद्योग का सचालन करे। यह विचार अच्छा और सुन्दर अवश्य लगता है पर इसकी व्यावहारिकता मे सन्देह है। विभिन्न प्रकार के और हितों के सभी व्यक्तियो द्वारा एक श्रेणी का बनाया जाना असम्भव है। यह सहज और सामान्य मनोविज्ञान के भी विपरीत है।

4. श्रेणी समाजवाद द्वारा अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए राजनीतिक साधनों की उपेक्षा और आर्थिक साधनो पर जोर देना कहाँ तक उचित और साफल्य की प्राप्ति मे सहायक होगा—यह कहना भी कठिन है। केवल आर्थिक साधनों के

द्वारा ही नवीन राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने की बात सोचना थोथी आशावादिता है। इस विचार में भी कोई वजन नही है कि पूँजीपति अपने आप ही शान्ति के साथ उद्योगों के सचालन के अधिकार को श्रेणियों को दे देंगे। सत्य तो यह है कि श्रेणी समाजवाद के उपायो से पूँजीवाद को बदलना एकदम कठिन और असम्भव है।

5. कोल ने राज्य के स्थान पर कम्यून का विचार किया है। शक्ति, स्वरूप और कार्य की दृष्टि से देखा जाय तो इसमें और राज्य में कोई अन्तर नही है। सज्ञा अवश्य बदली है। कोल के कम्यून सम्बन्धी विचारो से ऐसा लगता है, जैसे समाज मे कोई न कोई सर्वोच्च सस्था चाहिए ही। वह राज्य न होकर कम्यून होगी। अत क्यो न राज्यो मे ही आवश्यक सशोधन या परिवर्तन कर उसे जनकल्याणकारी बनाया जाय।

मूल्यांकन

श्रेणी समाजवाद का विकास 20वीं सदी के प्रारम्भिक काल मे हुआ और आज अपने अल्पकाल मे ही यह इतिहास का विषय बन गया। राजनीतिक विचारो के मध्य इसका महत्त्व एक अल्पकालिक दर्शन के रूप मे है, इससे अधिक नही। 1925 मे नेशनल गिल्ड लीग (National Guild League) को विघटित कर दिया गया, पर अपने अल्पकाल मे इसने काफी प्रभावशाली कार्य किये जो महत्त्वपूर्ण प्रभाव छोड गये। यद्यपि इस विचारधारा का प्रारम्भ इग्लैंड मे हुआ पर अमेरिका, कनाडा, फ्रान्स, रूस, जर्मनी, आस्ट्रेलिया आदि अनेक देशो के विचारको को इसने प्रभावित किया। इसने ब्रिटेन के समष्टिवादी विचारको को भी प्रभावित किया। श्रेणी समाजवाद द्वारा राज्य की आलोचना ने राज्य के निरर्थक प्रभुत्व के खोखलेपन को स्पष्ट किया, इसने नौकरशाही की भी आलोचना की। व्यावसायिक सघ की योजना सर्वप्रथम श्रेणी समाजवाद ने ही दी।

सहायक पुस्तकें

Orage	*Alphabet of Economics*
Carpenter	*Guild Socialism*
G. D H Cole	*Self-Government in Industries*
	Guild Socialism Restated
फ्रान्सिस डब्लू० कोकर	आधुनिक राजनीतिक चिन्तन
अम्बादत्त पन्त	राजनीति-शास्त्र के आधार, द्वितीय भाग

7

राज्य समाजवाद

(State Socialism)

राज्य समाजवाद अथवा समष्टिवाद समाजवाद का एक प्रकार है। इसे केवल समाजवाद के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। राज्य समाजवाद एक ओर राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी व्यक्तिवादी मान्यता के विरुद्ध एक सशक्त और प्रबल विचारधारा है, तथा दूसरी ओर मार्क्सवादी और अन्य उग्र समाजवादी मान्यताओं के विरुद्ध एक प्रभावशाली आन्दोलन है।

कार्ल मार्क्स के साम्यवादी सिद्धान्तों का अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे प्रसार करने दृष्टि से 1889 मे द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की स्थापना की गई। प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सगठन (सन् 1864) की स्थापना मार्क्स के जीवन-काल मे ही की गई परन्तु बारह वर्ष पश्चात् पारस्परिक मतभेदों—मार्क्सवादी और अराजकतावादी—के कारण वह भग हो गई। द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की स्थापना के समय इसके प्रतिनिधि पुनः दो भागो मे विभक्त हो गये—मार्क्सवादी और समाजवादी। काफी समय तक ये लोग परस्पर सम्बद्ध भी रहे। परन्तु रूसी क्रान्ति के पश्चात् उनमे अनेक गम्भीर मतभेद प्रगट रूप मे सामने आये। प्रारम्भ मे रूसी क्रान्ति के प्रति *ससार के सभी समाजवादियो का दृष्टिकोण उत्साहप्रद और आशाप्रद था पर कुछ ही समय बाद उनका उत्साह फीका पड गया। रूसी क्रान्ति जार-विरोधी ही नही वरन् प्रजातन्त्र-विरोधी भी सिद्ध हुई।* अत सन् 1919 मे समाजवादियों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे एक प्रस्ताव पास कर यह कहा गया कि बोल्शेविकवाद समाजवादी पार्टियों का आदर्श नही हो सकता है क्योकि "कोई भी पुनर्गठित समाज जिसमे अधिकाधिक मात्रा मे समाजवादी सिद्धान्तों का समावेश हो, उस समय तक कायम नही रह सकता, जब तक वह लोकतन्त्र की विजयो पर आधारित न हो और उसकी नीव स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों पर न रखी गई हो।"[1]

बर्ट्रेण्ड रसल ने भी—जिसने कि सन् 1920 मे सोवियत रूस की यात्रा की और जो रूसी क्रान्ति को समाजवाद को मूर्त रूप देने का प्रयत्न मानते थे—बोल्शेविक-वाद की आलोचना की। उनका कहना था—"दो कारणों से मैं बोल्शेविकवाद को अस्वीकार करने को बाध्य हो गया हूँ। एक, बोल्शेविकों के तरीकों से समाजवाद

[1] *गाईल्स रेडिस, लोकतन्त्री समाजवाद, पृष्ठ 30।*

की स्थापना के लिए मानवता को जो कीमत चुकानी होगी, वह बहुत भयंकर है। दूसरे मुझे इस बात का विश्वास नहीं है कि यह कीमत चुकाने के बाद भी वही परिणाम प्राप्त होगा, जो बोल्शेविक कहते हैं।" और भी, "पर बोल्शेविज्म की एक बात से मेरा मूलगामी मतभेद है। बोल्शेविज्म अब केवल राजनीतिक मतवाद नहीं रहा, वह अनेक सिद्धान्तों तथा प्रेरणापूर्ण ग्रन्थों वाला एक धर्म-सम्प्रदाय बन गया है।"[2]

यह सैद्धान्तिक मतभेद था। इसी प्रकार का मतभेद समाजवादी संगठनों में भी प्रगट हुआ। जो समाजवादी बोल्शेविक जैसी क्रान्ति के समर्थक थे, वे प्रजातन्त्र-विरोधी थे तथा उनका विश्वास अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति में था। कुल मिलाकर जो साम्यवादी थे उन्होंने एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की, जिसका नेतृत्व सोवियत रूस के हाथों में दिया। इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन से वे समाजवादी पृथक् रहे जो प्रजातन्त्र-समर्थक एवं विकासवादी थे। अत: तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के पश्चात् सन् 1923 में यूरोप के सभी समाजवादी दलों ने मिलकर एक पृथक् मजदूर और समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की जिसके परिणाम-स्वरूप एक नवीन और विकसित विचारधारा अस्तित्व में आयी। यही विचारधारा राजकीय समाजवाद अथवा समष्टिवाद की विचारधारा है। इस प्रकार सन् 1923 में पहली बार एक स्वतन्त्र राजदर्शन और व्यवस्था के रूप में राज्य समाजवाद अथवा समष्टिवाद की विचारधारा सामने आयी।

इसे राज्य समाजवाद क्यों कहते हैं? इसका एक कारण है—क्योंकि यह राज्य को व्यक्तिवाद की तरह आवश्यक बुराई नहीं मानता और न ही साम्यवाद की तरह अन्त में राज्य को समाप्त कर राज्यविहीन समाज के लक्ष्य में विश्वास करता है। इसके विपरीत यह सिद्धान्त राज्य के कार्यक्षेत्र में विस्तार का समर्थक है। इस सिद्धान्त में विश्वास करने वाले विचारकों का विश्वास है कि राज्य और उसके कानूनों के द्वारा ही समाज-कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार यह राज्य के अस्तित्व में ही नहीं वरन् राज्य के कार्यक्षेत्र के विस्तार में भी विश्वास करता है। अतः इसे राज्य समाजवाद कहते हैं। राज्य समाजवादियों का तर्क है कि राज्य लोक-कल्याण के आदर्श को प्राप्त करने का एक प्रमुख साधन है, यह अपनी सभी प्रकार की योजनाओं को लोक कल्याण की दृष्टि से ही बनाता है। अत व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के आधार पर राज्य की शक्तियों का विरोध किया जाना अनुचित और अतर्कयुक्त है।

लोक-कल्याण, व्यक्ति-कल्याण के विपरीत या विरोधी नहीं, वरन् उसका साधक और सहायक होता है। राज्य समाजवादियों का विचार है कि राज्य का कार्य अपने नागरिकों की आर्थिक, सामाजिक और वैज्ञानिक प्रगति के मार्ग को

[2] बोल्शेविज्म : व्यवहार और सिद्धान्त, हिन्दी अनुवाद, नि० छ० जमीदार, भूमिका, पृष्ठ (म)।

प्रशस्त करना है। अतः उसकी शक्ति एवं कार्यक्षेत्र में विस्तार आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य है। राज्य की शक्ति हमारे व्यक्तित्व के विकास में बाधक नहीं अपितु इसके विपरीत वह अपनी शक्ति के प्रयोग के द्वारा एक ऐसी राजनीतिक और आर्थिक प्रणाली को विकसित करेगी, जिसमें मानवता अपने परमोच्च विकसित रूप में प्रस्फुटित हो सकेगी और शोषण, उत्पीड़न एवं असमानता को समाप्त किया जा सकेगा। प्रो० इलाई (Ely) के शब्दों में, "समाजवादी (राज्य समाजवादी) वह है जो अधिक पूर्ण आर्थिक वितरण तथा मानवता के उत्थान के लिए राज्य के रूप में सगठित समाज की ओर देखता है।"[3]

एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (*Encyclopaedia Britannica*) के 77वें संस्करण में जो समाजवाद की परिभाषा दी गई है उससे राज्य समाजवाद का स्वरूप काफी स्पष्ट हो जाता है। उसमें कहा गया है कि "समाजवाद वह नीति या सिद्धान्त है *जिसका लक्ष्य किसी केन्द्रीय प्रजातान्त्रिक शक्ति की कार्यवाही द्वारा अच्छे वितरण की व्यवस्था करना है, और इसी शक्ति की अधीनता में धन की उत्पत्ति की वर्तमान से अच्छी व्यवस्था करना है।*"[4]

राज्य-समाजवाद नाम इसलिए भी उपयुक्त है कि ये लोग भूमि और उद्योग पर व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर राज्य के अधिकार को स्थापित करना चाहते हैं। *इस विचारधारा को समष्टिवाद (Collectivism) के नाम से भी पहिचाना* जाता है।

समष्टिवाद कहने का एक विशेष कारण है। सामान्यतः समाजवाद के सभी प्रकार वर्ग-संघर्ष में विश्वास करते हैं। उनकी दृष्टि में समाज पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग में बँटा हुआ है। इन दोनों वर्गों के हित और लाभ अलग-अलग हैं। *ये लाभ परस्पर विरोधी हैं। इन दोनों वर्गों में पारस्परिक संघर्ष अनिवार्य है।* अतः वे वर्ग-संघर्ष में विश्वास करते हैं। समाजवादियों के इस दृष्टिकोण के विपरीत राज्य-समाजवाद वर्ग-समन्वय और वर्ग-सहयोग में विश्वास करता है। राज्य-समाजवादी विचारक वर्ग-चेतना की भावना को बढ़ाने में विश्वास नहीं करते (वर्ग-चेतना की भावना मार्क्सवाद की प्रमुख विशेषता है) वरन् वर्गों के पारस्परिक सहयोग और सहानुभूति में विश्वास करते हैं।

समष्टिवादी विचारकों का मत है कि समाज में सभी वर्ग आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे पर आधारित हैं। एक के हित दूसरे के सहयोग पर टिके हुए हैं। समाज का स्वरूप संश्लिष्ट है और उसके वर्ग परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। अतः हमें राज्य

[3] "A socialist is one who looks to society organised in the state for aid on bringing about a more perfect distribution of economic goods and an elevation of humanity."

[4] Socialism is "that policy or theory which aims at securing by the action of the central democratic authority a better distribution and in due subordination thereto the better production of wealth than now prevails."

मे रहने वाले सभी व्यक्तियो के हितो का विचार करना चाहिए। किसी एक व्यक्ति अथवा वर्ग के हित का नही। यही कारण है कि समष्टिवादी विचारक उत्पादन के साधनों को किसी एक वर्ग—सर्वहारा वर्ग (श्रमिक वर्ग)—के अधिकार-क्षेत्र में लाने की अपेक्षा सम्पूर्ण समाज के अधिकार-क्षेत्र मे लाने का समर्थन करते हैं। ये समाजवाद को किसी वर्ग विशेष का नही अपितु सम्पूर्ण समाज का समझते हैं। इस कारण इस विचारधारा को समष्टिवाद कहते हैं।

उपरोक्त दो नामों के अतिरिक्त इसे सुधारवादी समाजवाद, विकासवादी समाजवाद अथवा जनतान्त्रिक समाजवाद भी कहा जाता है। ये सब विचार मूलतः इस भाव पर टिके हैं कि सामाजिक परिवर्तन के लिए अथवा शोषण के अन्त के लिए हिंसक क्रान्ति की आवश्यकता नही है अपितु उसे प्रजातन्त्रीय तरीको से, जनमत जागृत करके और कानून बनाकर प्राप्त किया जा सकता है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

समष्टिवाद पर फेवियनवाद—जो अंग्रेजी समाजवादी आन्दोलन है—और सशोधनवाद—बर्न्सटाईन द्वारा प्रारम्भ किया मार्क्सवाद मे सुधारवादी आन्दोलन—दोनों का काफी प्रभाव पडा है। अत समष्टिवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए उपरोक्त दोनो आन्दोलनो के सम्बन्ध मे जानना आवश्यक है।

मार्क्स ने अपने जीवन के अन्तिम दिन इगलैण्ड मे ही व्यतीत किये और उसने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ वही लिखे। फिर भी मार्क्सवाद का प्रभाव इगलैण्ड पर काफी समय तक नही पडा। वहां के लोग मार्क्स की रचनाओ से न तो परिचित ही हुए और न प्रभावित ही। वह (मार्क्स) तो सन् 1917 मे सोवियत रूस की बोल्शेविक क्रान्ति के पश्चात् ग्रे (Gray) के शब्दो मे, "लेनिन के कधो पर सवार होकर इगलैण्ड वापिस आया।"[5]

परन्तु इसके बाद भी इगलैण्ड मे मार्क्सवाद का अधिक प्रचार नही हो पाया, इसके अनेक कारण थे। इनमे इगलैण्ड का परिवर्तित राजनीतिक रूप, ट्रेड यूनियन सगठनो को प्राप्त कानूनी मान्यता तथा मताधिकार का व्यापक होना प्रमुख था। इसके कारण आम नागरिक ससद् को अपने विचारो के अनुरूप पर्याप्त रूप मे प्रभावित कर सकते थे। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था भी एक कारण थी। वहाँ समस्या पूंजीपति और मजदूर वर्ग की नही वरन् भू-स्वामियो की थी। यही कारण था कि सन् 1775 ई० मे ही स्पेन्स ने 'न्यू कौंसिल' की दार्शनिक सोसाइटी में भूमि के राष्ट्रीयकरण का सुझाव दिया था। इगलैण्ड मे स्थापित फेबियन सोसाइटी ने भी पूंजी की अपेक्षा लगान पर ही आर्थिक आक्रमण किया। बर्नार्ड शा द्वारा तैयार फेबियन सोसाइटी के घोषणा-पत्र मे जो सितम्बर 1884

[5] Gray, *The Socialist Tradition*, Ch XIV, p 384.

मे स्वीकार किया गया वहा गया था कि "जमीन का राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिये ।"[6]

वस्तुतः इगलैण्ड मे समाजवादी विचारो का प्रचार मुख्यतः फेबियन सोसाइटी के द्वारा हुआ ।

फेबियन सोसाइटी की स्थापना इगलैण्ड मे कुछ प्रबुद्ध व्यक्तियों और समाज-सुधारको द्वारा सन् 1884 मे की गई । इन लोगों मे श्रीमती सिडनी वैब (Sidney Webb), जार्ज बर्नार्ड शॉ (George Bernard Shaw), सिडनी ओलीवर (Sidney Oliver), ग्राहम वालेस (Graham Wallas), लेडी ऐनी बेसेंट (Mrs. Annie Besant) तथा ब्रेलसफोर्ड (H. N. Brailsford) प्रमुख थे। इन सबका यह लक्ष्य था कि ब्रिटेन की राष्ट्रीय और स्थानीय सरकारो के ऊपर इस बात का दबाव डाला जाये कि वे अपनी नीतियो और कार्यक्रमो को समाजवाद के आधार पर कार्यान्वित करे । इन लोगो ने इस सोसाइटी का नाम 'फेबियन सोसाइटी' एक विशेष कारण से रखा। फेबियस कान्क्टेटर (Fabius Conctator) रोम का एक महान् सेनापति था । जब हैनीबाल (Hannibal) के विरुद्ध युद्ध हुआ, तो इस सेनापति ने एक विशिष्ट युद्ध-नीति को अपनाया। यह युद्ध-नीति "उचित समय की प्रतीक्षा करते हुए शनै-शनैः आगे बढने, समय आने पर पूरी शक्ति और गति से आगे बढने तथा प्रहार करने की थी।" फेबियनवाद की भी प्रमुख नीति उपरोक्त सिद्धान्त से मिलती-जुलती ही है । वह है क्रमिक विकास मे विश्वास और कार्य करने के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा । वे समाजवाद की स्थापना क्रमिक और शनैः-शनैः तरीको से करना चाहते हैं ।

फेबियनवाद का विश्वास हिंसक क्रान्ति मे नही था, इसके विपरीत वे मानते थे कि संवैधानिक और शान्तिपूर्ण माध्यम से समाजवाद की स्थापना की जा सकती है । उनका विश्वास था कि प्रजातान्त्रिक तरीका समाजवाद का आधार होना चाहिए ।

वे समाज मे व्याप्त अन्याय एव शोषण को दूर करना चाहते थे परन्तु उसके लिए उनके तरीके अनिवार्यतः मार्क्सवाद से भिन्न थे ।

मार्क्स द्वारा अन्ततः राज्य को समाप्त करने की दलील के विपरीत वे भूमि के राष्ट्रीयकरण के और उद्योग के क्षेत्र मे राज्य की शक्ति मे वृद्धि के समर्थक थे । वे चाहते थे कि भूमि एव पूंजी पर स्वामित्व व्यक्ति का न होकर समाज अथवा राज्य का हो । इस सबके लिए फेबियन सोसाइटी का तरीका वैधानिक और लोकतन्त्री था । वे मार्क्स की इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या और हिंसक क्रान्ति के विचारों से प्रभावित नही थे । वस्तुतः फेबियनवाद समाजवाद के उस उदारवादी रूप को व्यक्त एव विकसित करने का एक आन्दोलन था जिसमे वर्ग-संघर्ष और

[6] फ्रांसिस डब्लू कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 109 ।

हिंसक पद्धति आदि न हो। कई फेबियन तो अपने कार्य-क्रम को उदारवाद का विस्तार मात्र मानते थे। उदाहरणार्थ सिडनी वेब ने 'फेबियन ऐसेज' (1889) नामक पुस्तक में लिखा है कि "लोकतन्त्रात्मक विचार का आर्थिक पक्ष ही समाजवाद है।" उसने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि समाज की प्रगति प्रजातन्त्र और समाजवाद की दिशाओं में हो रही है।[7]

सिडनी ओलीवर ने तो यहाँ तक कहा है कि "समाजवाद केवल विवेकयुक्त व्यक्तिवाद है। उसकी नैतिकता जीवन के शाश्वत आवेग की, जो उच्चतम तथा पूर्ण सक्रियता के साथ अपनी तुष्टि चाहता है, अभिव्यक्ति है।"

फेबियन विचारक समाज के पुनर्गठन के समर्थक थे जिससे कि भूमि तथा औद्योगिक सम्पत्ति पर चन्द लोगों के स्वामित्व को समाप्त किया जा सके और उस पर सामाजिक नियन्त्रण को स्थापित किया जा सके। ये लोग चाहते थे कि राष्ट्रीय धन का वितरण सामाजिक हित की दृष्टि से किया जाये तथा समस्त भौतिक साधनों का समाजीकरण किया जाये। उनका विचार था कि शासन पूर्णत. लोकतन्त्रात्मक होना चाहिए। इन अनेक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए फेबियन विचारक समाजवादी विचारों के प्रचार के समर्थक थे।

समष्टिवाद की मान्यताओं और नीतियों के निर्धारण में सशोधनवाद का भी गम्भीर प्रभाव पड़ा है। *सशोधनवाद मूलत मार्क्स की मान्यताओं में सशोधन* से सम्बन्ध रखता है। फेबियनवाद जहाँ इगलैण्ड के बुद्धिजीवियों की विचारधारा थी वहाँ सशोधनवाद शेष यूरोप की मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रति प्रतिक्रिया थी। वह एक आन्दोलन था। इस आन्दोलन का नेतृत्व जर्मनी में बर्न्सटाईन[8], फ्रान्स में जीन जोरेस (Jean Jaures), बिनॉय मैलन (Benoit Malon), बेल्जियम में एडवर्ड अन्सील (Edward Anseele), इटली में लीओण्डा बिस्सोलाटी (Leonida Bissolati), रूस में टूगन बैरोनोव्स्की (Tugan Baronowsky) तथा स्वीडन में कार्ल ब्रटिंग ने किया।[9] इन विचारकों के अतिरिक्त विभिन्न देशों में विभिन्न राजनीतिक दलों ने भी सशोधनवादी मान्यताओं को अपनाया।[10] वस्तुत प्रजातन्त्र के विकास के परिणामस्वरूप जो नयी सम्भावनायें सामने आयी उनका कट्टर

[7] Sidney Webb, 'The Historical Basis of Socialism' in the *Fabian Essays on Socialism*

[8] एडवर्ड बर्न्सटाईन का जन्म 1850 में बर्लिन म हुआ। उसकी मृत्यु 1932 में हुई।

[9] फ्रान्सिस डब्ल्यू० कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 115।

[10] बेल्जियम में मजदूर दल, दक्षिण जर्मन राज्यों की समाजवादी प्रजातान्त्रिक पार्टियाँ, फ्रान्स की स्वतन्त्र समाजवादी पार्टियाँ तथा ब्रुसिस्टो (Broussists) इटली की समाजवादी पार्टियाँ।

मार्क्सवादी समाजवादियो एव इस प्रकार के राजनीतिक सगठनों पर भी काफी असर पडा। ये सब इस बात को सोचने के लिए बाध्य हुए कि क्या साम्यवाद परिवर्तित परिस्थितियो के अनुरूप है या उसमे परिवर्तन की आवश्यक्ता है? सशोधनवाद का प्रमुख विचारक बर्न्सटाईन था। एडवर्ड बर्न्सटाईन एक युवक जर्मन समाजवादी था। 1878 मे जब जर्मनी में समाजवाद-विरोधी कानून बना तब उसके परिणामस्वरूप वह 20 वर्ष तक जर्मनी से निष्कासित रहा। 1900 के लगभग बर्न्सटाईन जर्मनी वापिस आया, तभी उसने पूरी तरह संशोधनवादी आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ मे लिया।

बर्न्सटाइन का यह विचार था कि मार्क्स की भविष्यवाणियाँ गलत सिद्ध हुई हैं। अपने निबन्ध विकासवादी समाजवाद (Evolutionary Socialism) मे जो उसके जर्मन निबन्ध का अनुवाद है बर्न्सटाइन ने यह तथ्य उपस्थित किया कि मार्क्स द्वारा समाज का विश्लेषण एव उसके द्वारा निरूपित सिद्धान्त गलत सिद्ध हुए हैं। अत उनमे सशोधन की आवश्यकता है। बर्न्सटाइन मार्क्सवाद की कमजोरियो को काफी पहिले से ही सामने लाना चाहता था, परन्तु क्योंकि अपने निर्वासित जीवन-काल मे उसकी मित्रता ऐंजिल्स से हो गई थी अतः उसने मार्क्स की आलोचना कुछ समय तक प्रकाशित नही की।

बर्न्सटाइन कार्ल मार्क्स को स्वप्नलोकीय कहता था। उसका कहना था कि सर्वहारा वर्ग द्वारा अधिनायकवाद स्थापित करने के पश्चात् यह सोचना कि सभी समस्याएँ तत्काल ही हल हो जायेंगी स्वप्न जैसी बात है। समाज पूंजीवादी स्थिति से समाजवादी स्थिति पर एकदम 'हनुमान-कूद' नही कर सकता। बर्न्सटाइन का यह कहना था कि मजदूर वर्ग के सुधारों के लिए तथा सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति होने तक के समय की प्रतीक्षा मे बैठे रहना उचित बात नही है। हमे पूंजीवादी समाज मे भी मजदूर वर्ग के लिए अधिक से अधिक लाभ को प्राप्त करने के प्रयत्न करने चाहियें।

बर्न्सटाइन का सबसे बडा तर्क वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे था। उसका मत था कि समाजवाद की स्थापना वर्ग-सघर्ष से नही वरन् श्रमिक सुधारो के द्वारा होगी। समाज मे केवल सर्वहारा और पूंजीपति दो ही वर्ग नहीं हैं। एक तीसरा भी वर्ग है जो मध्यम वर्ग है। मार्क्स ने मध्यम वर्ग के अस्तित्व को स्वीकार ही नही किया था। मार्क्स केवल दो वर्गों का ही विचार कर सका। इसके विपरीत बर्न्सटाइन मध्यम वर्ग के अस्तित्व को मानता था। बर्न्सटाइन का यह भी विचार था कि मजदूर वर्ग मे भी सगठन का अभाव है। कारण उसमे भी अनेक प्रकार के भेद हैं, उदाहरण के लिए कुशल मजदूर और अकुशल मजदूर का भेद। इसी क्रम मे बर्न्सटाइन मार्क्स के इस कथन का भी खण्डन करता है कि धीरे-धीरे पूंजीपतियो की सख्या कम हो जायेगी। उसका कहना है कि इसके विपरीत समय यह बतलाता है कि पूंजीपतियो की सख्या मे वृद्धि हो रही है। पूंजी

उत्तरोत्तर चन्द पूंजीपतियों के हाथों में केन्द्रित नहीं हो रही जैसी कि भविष्यवाणी मार्क्स ने की थी। इसके विपरीत उसके स्वामियों की सख्या में वृद्धि हो रही है। इस वृद्धि का कारण है मिश्रित एवं सहकारी कम्पनियों और समितियों का अस्तित्व में आना। दूसरी ओर मजदूरों की स्थिति भी सुधरती जा रही है। उनको नागरिक जीवन की सुविधाएँ मिल रही हैं तथा प्रजातान्त्रिक सरकारों के विकास के कारण प्रजातन्त्र में मजदूरों की आवाज का महत्व भी उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। उसने कहा, *"श्रमजीवी वर्ग की बढ़ी हुई शक्ति से सम्भव हो गया है कि श्रमजीवी वर्ग अपने* ससदीय और मजदूर सघों के प्रतिनिधियों के माध्यम से धीरे-धीरे सवैधानिक तरीकों से वर्गहीन समाज की स्थापना कर सकता है।

अत. बर्न्सटाइन साधनों में परिवर्तन पर जोर देता है। उसके अनुसार समाजवाद शान्तिपूर्ण तरीकों के द्वारा धीरे-धीरे आयेगा। आवश्यकता हिंसक क्रान्ति की नहीं अपितु क्रमिक सुधारों की है। समाजवाद का रास्ता रक्तिम क्रान्ति के ऊबड़-खाबड़ रास्तों से होकर नहीं अपितु विकास और लोकतन्त्र को विकसित करने के सीधे और सरल मार्ग से होकर है।

हालांकि बर्न्सटाइन सामान्यत इतिहास की भौतिक व्याख्या को पसन्द करता था, तथापि उसका कहना था कि मार्क्स और ऐंजिल ने इस सिद्धान्त को सीमित रूप मे ही लिया। इसी प्रकार उसने 'अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त' (Theory of Surplus Value) की भी आलोचना की और इसे अवास्तविक बतलाया। क्योंकि बर्न्सटाइन प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तो का समर्थक था अत. वह सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का विरोध करता है। यह तानाशाही प्रत्येक स्थिति मे प्रजातन्त्र-विरोधी है।

यही समष्टिवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। समष्टिवाद पर उपरोक्त दोनो प्रकार के आन्दोलनो का—जो मूलत विकासवादी आन्दोलन थे, निर्णायक और *प्रभावशाली असर पड़ा है। इसी कारण उसकी कार्य-पद्धति एव मान्यताओं मे उन* समाम तत्त्वो का सहज समावेश है, जो प्रजातन्त्रीय, उदार और साम्यवाद-विरोधी हैं।

राज्य समाजवाद—सिद्धान्त और व्यवस्थायें

राज्य समाजवाद के सिद्धान्त समय-समय पर 'समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय' द्वारा लिए गये निर्णयो एव महत्त्वपूर्ण उद्घोषणाओं मे व्यक्त हैं। 'समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय' की 1962 की ओसलो घोषणा मे कहा गया है कि "हम लोकतन्त्री समाजवादी *अपने इस विश्वास की घोषणा करते हैं कि राजनीतिक गतिविधियों का अन्तिम लक्ष्य* प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास है।"[11]

उपरोक्त लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए एव तदर्थ सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक व्यवस्थाओं मे परिवर्तन के लिए राज्य समाजवादी जिन तरीकों एव

[11] *गाईल्स रेडिस, लोकतन्त्री समाजवाद*, पृ० 39।

सिद्धान्तो को अपनाते तथा स्वीकार करते हैं वे सर्वथा जनतान्त्रिक एवं सवैधानिक हैं। उनका दृष्टिकोण साम्यवाद अथवा व्यक्तिवाद से पूर्णतः भिन्न है।

जनतन्त्रीय प्रणाली

राज्य समाजवाद का विश्वास जनतन्त्रीय प्रणाली मे है। इनका मार्क्सवादियो की तरह रक्तिम क्रान्ति मे विश्वास नही है। मार्क्सवादी रक्तिम क्रान्ति को परिवर्तन के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक मानते हैं। परन्तु राज्य-समाजवादियों का विचार इसके बिलकुल विपरीत हैं। जर्मन समाजवादी विचारक एफ० इवर्ट (F. Ibert) का कहना था कि क्रान्ति पाप है। इनका विश्वास है कि प्रजातन्त्र के बिना समाजवाद की स्थापना असम्भव है। द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय की बर्न बैठक (जनवरी 1919) के ब्रैटिंग (स्वीडन के श्रमिक नेता) प्रस्ताव मे ही कहा गया था कि "समाजवादी समाज उस समय तक निश्चित रूप से स्थायी नहीं हो सकता जब तक कि वह जनतन्त्र और स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों पर आश्रित न हो।"

बर्नस्टीन का कहना था, "जनतन्त्र अपने आप मे साधन और साध्य दोनो है। यह समाजवाद की स्थापना के सघर्ष का साधन है और वह स्वरूप भी जो सघर्ष की सफलता के बाद वह ग्रहण करता है।" जनतन्त्रीय पद्धति में सरकार को बदलने के लिए जिस तरीके को स्वीकार किया गया है उसमे प्रत्येक नागरिक के योग को वयस्क मताधिकार की स्वीकृति के द्वारा मान्यता प्रदान की गई है, अत. जब हम निर्वाचन के द्वारा सरकार को बदल सकते हैं तब हिंसक क्रान्ति की आवश्यकता ही कहाँ है ? जब जनतन्त्रीय तरीकों से हम अपनी असुविधाओं को दूर कर सकते है तब क्रान्ति की बात एक बाहियात कार्यवाही है। राज्य समाजवादियो का यह दृढ विश्वास है कि जनतन्त्रीय नीति द्वारा ही समाजवाद की स्थापना की जा सकती है।

वर्ग-सहयोग

राज्य समाजवाद का विश्वास वर्ग-समन्वय मे है, वर्ग-सघर्ष मे नही। यह इनके विचार का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। वर्ग-सघर्ष मार्क्सवाद का मूल सिद्धान्त है। वे समाज मे वर्गों और उनके निहित लाभो की कल्पना करते हैं। उनकी दृष्टि मे वर्ग-सघर्ष द्वारा साम्यवाद को प्राप्त किया जायेगा। इसके विपरीत समष्टिवादी विचारक वर्ग-सहयोग मे विश्वास करते हैं। उनका विचार है कि सभी वर्ग आर्थिक दृष्टि से परस्पर एक दूसरे पर आधारित हैं। हालांकि राज्य समाजवादी विचारक इस बात को मानते है कि पूंजीपतियो मे और श्रमिको मे सघर्ष स्वाभाविक है, परन्तु इस स्थिति को वे समाज का आधार स्वीकार नही करते। फेबियन विचारक भी वर्ग-सघर्ष को मान्यता नही देते और न उसे वे सामाजिक एव आर्थिक परिवर्तन का साधन ही मानते हैं। प्रो० कोल (Cole) का कहना था कि "फेबियन्स की धारणा के सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन का साधन वर्ग-सघर्ष अथवा क्रान्ति नही है बल्कि लोकतन्त्री साधनो द्वारा शनैः-शनैः तथा क्रमिक परिवर्तन है।"

शनैः-शनैः-वाद

राज्य समाजवादी विचारक इस मत के हैं कि समाजवाद की स्थापना धीरे-धीरे होनी चाहिये। समाज मे परिवर्तन धीरे-धीरे ही होता है। वे एकदम कानून बनाकर समाजवाद नही लाना चाहते, परन्तु पहिले समाज को उसके लिए तैयार करना चाहते हैं और उसके पश्चात् क्रम-क्रम से समाजवादी नीतियों पर अमल करना चाहते है। वे सत्ता को प्राप्त करने के पश्चात् पहिले अत्यन्त महत्वपूर्ण और फिर क्रमश: उपयोगिता की दृष्टि से अन्य व्यवसायो का राष्ट्रीयकरण करने के समर्थक हैं। राष्ट्रीयकरण समाजवाद का सार है, परन्तु यह केवल साधन है, साध्य नही। अत राष्ट्रीयकरण एक साथ एकदम सब उद्योगो का नही होगा, इससे परेशानी बढ जायेगी। राष्ट्रीयकरण शनै-शनै होगा। इससे एक लाभ होगा। मान लीजिये एक उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया। उसका राष्ट्रीयकरण करते समय जो अनुभव आया उसका लाभ बाद मे दूसरे उद्योग के राष्ट्रीयकरण के समय ले सकते हैं। इस प्रकार अनुभव से लाभ लिया जा सकता है। एकदम राष्ट्रीयकरण करने मे अनुभव से लाभ नही लिया जा सकता और कमजोरियो से छूट नही मिल सकती। अत शनै-शनै कार्य करने से गलतियाँ सुधरती हैं और लाभ भी होता है, अन्यथा हानि की आशका बनी रहती है। वस्तुत समाजवाद के लिए अत्यधिक उतावलापन और अत्यधिक निष्क्रियता दोनो ही अलाभदायी हैं।

वैधानिक पद्धति

राज्य समाजवाद का विश्वास क्रान्ति और अवैधानिक पद्धति मे नही है, वरन् विकास और सुधार के तरीको म है। वे ससदीय तरीके के द्वारा कार्य करना उचित समझते हैं। सी० ई० एम० जोड के अनुसार, "राज्य को वे जनमत द्वारा प्रभावित करेंगे, और जनमत को वे व्यापक समाजवादी प्रचार की सहायता से ढालेंगे और यह जनमत निर्वाचनो के द्वारा राज्य को समाजवादी आदर्शों के अनुकूल परिवर्तन करने के लिए विवश करेगा।"[12]

इनका विश्वास है कि किसी भी समाजवादी दल को सबसे पहिले जनता मे अपने विचारो का प्रचार करना चाहिए। समस्त वैध एव ससदीय माध्यमो के द्वारा जन-जागृति करनी चाहिए। इसके पश्चात् निर्वाचन मे भाग लेना चाहिए और धीरे-धीरे अपने कार्यक्रम, योजनाओ और नीतियों के आधार पर ससद् मे बहुमत लाना चाहिए, जैसा कि मजदूर दल ने किया—उसके पश्चात समाजवादी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कानून बनाना चाहिए। यही वैध और उचित पद्धति है। इसमे बाध्यता या रक्तपात नही है वरन् इसमे जनता की सम्मति सम्मिलित है, यह सुधारवादी पद्धति है जो मानवीय मूल्यो के लिए है। इसीलिए इसे सुधारवादी समाजवाद भी कहते हैं।

[12] सी० ई० एम० जोड, आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त प्रवेशिका, पृ० 52।

आर्थिक नीति

1951 की 'समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय' मे जो जर्मनी मे हुई, अपने आर्थिक कार्यक्रम को स्वीकार करते हुए कहा गया, "समाजवाद पूँजीवाद का स्थान उस पद्धति द्वारा लेना चाहता है जिसमे कि सार्वजनिक हित, व्यक्तिगत लाभ से प्राथमिकता लेंगे। समाजवादी नीति के तात्कालिक आर्थिक उद्देश्य सभी को रोजगार की पूर्ण सुविधा, अधिक उत्पादन, उच्च जीवन-स्तर, सामाजिक सुरक्षा तथा आय और सम्पत्ति का उचित वितरण हैं।

"इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि जनहित को ध्यान मे रखते हुए उत्पादन को नियोजित किया जाय।

"जब तक आर्थिक शक्ति कुछ लोगो के हाथो मे केन्द्रित है, तब तक इस प्रकार का नियोजन असम्भव है। इसके लिए अर्थ-व्यवस्था पर प्रभावशाली प्रजातान्त्रिक नियन्त्रण आवश्यक है।

"अत प्रजातान्त्रिक समाजवाद पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था और एकाधिकारवादी अर्थ-व्यवस्था दोनों ही के तीव्र विरुद्ध है, क्योकि ये दोनों ही उत्पादन पर जन-नियन्त्रण तथा उत्पादन के लाभो के समुचित वितरण को दूर रखते हैं।...

"समाजवादी नियोजन का यह तात्पर्य नही है कि उत्पादन के सभी साधनो पर राज्य का स्वामित्व स्थापित किया जाए। यह प्रमुख क्षेत्रो मे व्यक्तिगत स्वामित्व के साथ भी स्थित हो सकता है, उदाहरणार्थ कृषि, हस्त उद्योग, खुदरा व्यापार और लघु तथा मध्यम उद्योग।"[13]

[13] "Socialism seeks to replace capitalism by a system in which the public interest takes precedence over the interest of private profit

"The immediate economic aims of socialist policy are full employment, higher production, a rising standard of life, social security and a fair distribution of incomes and property

"In order to achieve these ends production must be planned in the interest of the poeple as a whole.

"Such p'anning is incompatible with the concentration of economic power *in the hands of a few It requires effective democratic control of the economy*

"Democratic socialism therefore stands in sharp contradiction both to capitalist planning and to every form of totalitarian planning These exclude public control of production and a fair distribution of its results .

"Socialist planning does not presuppose public ownership of all the means of production It is compatible with the existence of private ownership in important fields for instance in agriculture, handicraft, industries, retail trade and small and middle-sized industries "

Quoted from Aims and Talks of Democratic Socialism, adopted by the *Socialist International at the Eight Plenary Session of the International* held at Frankfurt-am-Main-Germany, June 27–July 3, 1951. Published by the Socialist Party, United States, New York. —*Encyclopaedia Americana*, p. 195.

उपरोक्त घोषणा में समाजवादी आर्थिक नीति को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है। समाजवादी आर्थिक नीति 'यद् भाव्यम् नीति' और 'कठोर राष्ट्रीयकरण की नीति' की बुराइयों और कमजोरियों से बची हुई है। वैसे समाजवादी आर्थिक नीति का मूल इस मान्यता में है कि उत्पादन, वितरण तथा विनिमय के साधनों पर व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं होना चाहिए वरन् इन सब पर समाज का अधिकार होना चाहिए। पर इस प्रश्न पर समष्टिवादी विचारक पर्याप्त सतुलित दृष्टिकोण अपनाते हैं। 1951 में फ्रेंकफर्ट में हुई समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय की घोषणा में कहा गया है कि "समाजवादी आयोजन की पहली शर्त उत्पादन के सब साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व नहीं है।" यह बात ठीक है कि सार्वजनिक स्वामित्व समाजवादी नीति का मुख्य अंग है, पर ये सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों की मिली-जुली अर्थव्यवस्था को भी स्वीकार करते हैं।

राज्य समाजवादी विचारक इस बात को मानते हैं कि राष्ट्रीय अर्थ दो प्रकार का होता है, पहिला व्यक्तिगत, दूसरा सामाजिक क्षेत्र वाला। पहले पर व्यक्ति का अधिकार होता है एव उसका सचालन भी व्यक्ति ही करता है। दूसरे पर समाज अथवा राज्य का अधिकार होता है, और उसका सचालन भी समाज अथवा राज्य करता है। समाजवाद इस बात में विश्वास करता है कि क्रमश. सभी को सामाजिक क्षेत्र में लाया जाए तथा शनैः-शनैः व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर राष्ट्रीय और सामूहिक स्वामित्व को स्थापित किया जाए। समाजवादी अर्थव्यवस्था की दिशा पूँजीवादी व्यवस्था से क्रमश समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की ओर होती है। पर व्यवसायों एव उद्योगों का राष्ट्रीयकरण एकदम आतुरता में नहीं होगा अपितु परिस्थिति और उपयोगितानुसार होगा। इस दृष्टि से व्यवसाय को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(1) वह व्यवसाय जिसका राष्ट्रीकरण एकदम किया जाए। ये वे व्यवसाय हैं जो बुनियादी हैं। उदाहरणार्थ—रेल, बैंक, कोयला खदानें, इस्पात, जहाजरानी, आदि। (2) वह व्यवसाय जो मध्यम कोटि का है, जिसका तत्काल राष्ट्रीयकरण नहीं किया जा सकता पर उसे धीरे-धीरे विकसित करके उसका प्रबन्ध अपने हाथ में लेकर राष्ट्रीयकरण किया जाना चाहिए। उदाहरणार्थ कपडा, कागज, साबुन तथा तेल का व्यवसाय। (3) वह व्यवसाय जिसका राष्ट्रीकरण नहीं किया जाना चाहिए। जैसे दर्जी, धोबी, नाई, होटल आदि का व्यवसाय। इस सन्दभ में स्वीडन की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के 1960 के घोषणा-पत्र में कही गई बात भी महत्त्वपूर्ण है। उसमें कहा गया— 'समाजवादी लोकतन्त्र प्राकृतिक साधनों और उद्योगों पर सामाजिक स्वामित्व या सामाजिक नियन्त्रण की माग का उस हद तक समर्थन करता है, जिस हद तक यह कार्य करना सार्वजनिक हितों के सरक्षण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।"

यहाँ एक प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। क्या राष्ट्रीयकरण करते समय उस व्यवसाय के व्यक्तिगत मालिक को मुआवजा दिया जाए ? अधिकाश समष्टिवादी विचारक

इस मत के हैं कि मुआवजा दिया जाना चाहिए। प्रसिद्ध फेबियन विचारक बर्नार्ड शॉ का कथन था कि मुआवजा दिया जाना चाहिए। ब्रिटेन मे मजदूर दल की सरकार भी मुआवजा देने के पक्ष मे है। लार्ड एटली ने कहा था कि हमें सारी जनता को अपने साथ रखना है। जनता ऐसे (मुआवजा न देने के) अन्याय को सहन नही करेगी।

समष्टिवादी विचारक सहकारी समितियों को प्रोत्साहन देने के समर्थक हैं। जहां-जहां इस किस्म की सरकारें हैं वहां पर सहकारी समितियो को प्रोत्साहन दिया गया है। इसी प्रकार इनका लक्ष्य बेरोजगारी का अन्त करना है।

इसी सन्दर्भ मे एक बात और महत्त्व की है। जब समष्टिवादी विचारक यह कहते हैं कि व्यवसायो का प्रबन्ध और सचालन राज्य के हाथों मे होना चाहिए तो इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि यह सचालन केन्द्रीय सरकार के हाथों मे होगा, उसके ही कर्मचारी इनकी पूरी व्यस्था करेंगे। वरन् होगा यह कि जो उद्योग अखिलदेशीय होगे केवल उनका सचालन केन्द्रीय सरकार करेगी तथा अन्य उद्योगों का प्रबन्ध प्रान्तीय, स्थानीय सरकारो अथवा नगर निगमो के हाथों मे होगा। इस प्रकार समष्टिवादी अति-केन्द्रीकरण के समर्थक नहीं हैं। प्रसिद्ध फेबियन समाजवादी विचारक बर्नार्ड शॉ का कहना था कि "कोई भी प्रजातन्त्रवादी राज्य उस समय तक प्रजातान्त्रिक समाजवादी राज्य नही बन सकता जब तक उसकी जनसख्या के प्रत्येक केन्द्र में कोई ऐसा स्थानीय शासकीय निकाय न हो जिसका सगठन उतना ही प्रजातान्त्रिक न हो जितना केन्द्रीय ससद् का है। इतना अवश्य है कि सभी स्तर के उद्योगों मे उत्पादन की प्रेरक शक्ति व्यक्ति विशेष का हित न होकर समाज की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार उत्पादित वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण का आधार व्यक्तिगत लाभ का विचार न होकर सामाजिक आवश्यकता होगा। इसी क्रम मे राज्य समाजवाद इस बात पर भी जोर देता है कि अतिरिक्त मूल्य का उपभोग सामाजिक हित मे किया जाएगा।

स्वतन्त्रता एवं समानता सम्बन्धी विचार

राज्य समाजवादी विचारक समाज रचना मे व्यक्ति के महत्त्व के प्रति दृढ विश्वास प्रगट करते हैं। यही कारण है कि वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, समानता के विचारो के प्रति अपनी आस्था प्रगट करते हैं। 'समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीय' की १९६२ की ओसलो घोषणा मे स्पष्टत: कहा गया था कि "हम लोग समझते हैं कि मनुष्य के सुख के लिए स्वतन्त्रता और समानता दोनों मूल्यवान् और आवश्यक हैं। ये वे दो विशाल स्तम्भ हैं, जिन पर मानव भ्रातृत्व के आदर्श का भवन खड़ा है।[14]

उपरोक्त दोनों सिद्धान्त केवल समाजवाद की ही देन नही हैं। तथ्य तो यह है कि समाजवादी दृष्टकोण के विकसित होने के पूर्व ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एव

[14] गाईल्स रेडिस, लोकतन्त्री समाजवाद, पृष्ठ 40।

समानता सम्बन्धी धारणायें पूर्णतः विकसित हो चुकी थी। ग्रीक चिन्तन से लेकर औद्योगिक क्रान्ति के समय तक के राजदर्शन की ये लगभग प्रमुख मान्यताएँ रही हैं। समाजवाद ने इतना किया कि औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप परिवर्तित राजनीतिक एव सामाजिक जीवन मे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एव समानता की सकल्पना को नवीन स्वरूप दिया। मूलत· यदि देखा जाये तो समाजवाद की सफलता ही इस तथ्य पर निर्भर है कि वह इन दोनों सिद्धान्तो को कितने प्रभावी तरीके से कायम रखता है एव तदनुसार अपनी मान्यताओं को विकसित करता है।

ऐटली का कहना था कि "समाजवाद का लक्ष्य व्यक्ति को अधिक स्वतन्त्रता देना है।" परन्तु स्वतन्त्रता सम्बन्धी अवधारणा अनिवार्यत व्यक्तिवादी अवधारणा से भिन्न है। समाजवाद की दृढ आस्था है कि स्वतन्त्रता किन्ही अल्प लोगों का विशेषाधिकार नही है, अपितु सभी की स्वाभाविक और सहज स्थिति है। अत कुछ लोगो को अधिक लोगों का शोषण करने के लिए छोड देना किसी भी आधार पर न्यायसगत अथवा बुद्धिमगत नही है। यदि ऐसा होगा तो टावनी का यह कथन अपने आप मे वजनदार लगेगा कि "शक्तिशाली की स्वतन्त्रता कमजोर का उत्पीडन है।" ऐसी स्थिति मे स्वतन्त्रता का विचार एक धोखा और ढोंग बनकर रह जायेगा। अत समाजवादियो के लिए स्वतन्त्रता व्यक्ति की आर्थिक निश्चिन्तता और आर्थिक समानता की स्थिति मे ही सम्भव है। स्वतन्त्रता के लिए 'यद् भाव्यम् नीति' और राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित करने की आवश्यकता नही है। सरकार का कार्य स्वतन्त्रता की रक्षा करना है, अत उपरोक्त धारणा के विपरीत स्वतन्त्रता के स्थायित्व के लिए राज्य को अपना कार्यक्षेत्र बढाना पडेगा, उसे आर्थिक क्षेत्र मे हस्तक्षेप कर शोषण और उत्पीडन को समाप्त करना पडेगा, तभी सब नागरिक स्वतन्त्रता का वरण कर सकते है, शोषण और उत्पीडन से रहित व्यक्ति के विचार स्वतन्त्र हो सकते हैं।

ऐसा ही विचार समानता के सम्बन्ध मे भी है। समानता का तात्पर्य प्राकृतिक समानता नही है। समानता का यह अभिप्राय नहीं है कि सभी को समान वेतन और आराम मिले। परन्तु समानता का यह अभिप्राय अवश्य है कि आर्थिक वैषम्य अधिक न हो, आय के वितरण मे बहुत अधिक अन्तर न हो। सामाजिक सुरक्षा और स्वास्थ्य आदि सेवाओ मे अन्तर न हो। कुल मिलाकर दो विपरीत वर्ग समाज मे न हो। *'अवसर की समानता' का समाजवादी विश्लेषण यह है कि वह सामाजिक समानता की पहली शर्त है।* अत शिक्षण सस्थाओ मे तथा अन्य स्थानो पर भेदभाव समाप्त *किया जाना चाहिए और उनमे प्रवेश सम्बन्धी विशेषाधिकारो को भी समाप्त किया* जाना चाहिये। इसी प्रकार अन्य असमानताओं का दूर किया जाना अभीष्ट है।

समष्टिवाद और साम्यवाद में अन्तर

कुछ ऐसे समान आधार हैं जो समाजवाद और साम्यवाद को काफी निकट लाते हैं, जैसे—दोनों प्रकार की विचारधाराओं का मूल लगभग एक ही है। औद्योगिक

क्रान्ति का दोनों से निकट सम्बन्ध है। दोनो ही साम्राज्यवाद तथा पूंजी पर व्यक्तिगत स्वामित्व के विरोधी हैं। पर इतना होते हुए भी समष्टिवाद और साम्यवाद मे काफी अन्तर है। यह अन्तर सिद्धान्त, कार्य-पद्धति और आर्थिक व्यवस्थाओं से स्पष्टत झलकता है। समाज-निर्माण के दोनो ही के प्रयत्न लगभग भिन्न प्रकार के हैं।

समष्टिवादी विचारक जहाँ विकासवादी और सुधारवादी पद्धति को अपनाते हैं तथा उसे सामाजिक परिवर्तन का मूल आधार मानते हैं वहाँ साम्यवाद हिंसक क्रान्ति मे विश्वास करता है। साम्यवाद एक क्रान्तिकारी पद्धति है। इसका विश्वास है कि समाज म सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति आवश्यक ही नही अपितु अपरिहार्य है। इसका कोई विकल्प नही। समष्टिवाद का विश्वास प्रजातन्त्र मे है। प्रजातन्त्रीय व्यवस्थाओं के द्वारा समाजवाद को लाने मे उसका विश्वास है। इसके विपरीत साम्यवाद प्रजातन्त्र का आलोचक है। वह इसे पूंजीवाद की रक्षक व्यवस्था मानता है। साम्यवाद और प्रजातन्त्र का कोई सम्बन्ध नही है।

समष्टिवाद वर्ग-समन्वय और वर्ग-सहयोग का दर्शन है। इसका विश्वास है कि वर्ग-सघर्ष कभी भी समाज का आधार नही बन सकता और इसे आधार मान कर स्वस्थ और उन्नत समाज की प्रस्थापना नही की जा सकती। इसके विपरीत साम्यवादी दर्शन की रीढ ही वर्ग-सघर्ष का विचार है। साम्यवाद का यह प्रमुख सिद्धान्त है कि समाज मे वर्ग-सघर्ष विद्यमान है। समाज पूंजीपति और सर्वहारा दो वर्गो मे विभक्त है, इन दोनो के हित पृथक् ही नही अपितु परस्पर विरोधी भी है। इस वर्ग-सघर्ष की भावना के आधार पर ही सर्वहारा वर्ग सगठित होकर पूंजीपति वर्ग का विनाश कर सकेगा। ऐबेन्सटिन का विचार है कि "साम्यवादी एकमात्र क्रान्तिकारी कार्य तथा गृहयुद्ध द्वारा पूंजीवाद का अन्त करना चाहते हैं, किन्तु समाजवादी इसके विपरीत वैधानिक साधनो को अपनाते हैं। वे गोली की अपेक्षा मत द्वारा सत्ता हस्तगत करते हैं। वे जानते है कि इस सत्ता का उपयोग चिरकाल तक नही करना है अपितु उन्हे अगले चुनाव मे पदच्युत किया जा सकता है।"

राज्य का अस्तित्व

समष्टिवाद राज्य-विरोधी नही है। समष्टिवाद राज्य और उसकी सत्ता का उपयोग लोक-कल्याण के लिए करता है। राज्य सामाजिक परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण माध्यम है। समष्टिवाद राज्य के कार्यक्षेत्र को अधिकाधिक व्यापक करना चाहता है। राज्य की शक्तियो के विस्तार मे और जनकल्याण के प्रयत्नो मे कोई परस्पर विरोध नही। लोक-कल्याण राज्य मे जुडा हुआ है। इसके विपरीत साम्यवाद का लक्ष्य सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित करना तथा तत्पश्चात् राज्य को समाप्त कर राज्यविहीन समाज की स्थापना करना है। साम्यवाद राज्य के विलीनीकरण मे विश्वास करता है।

आर्थिक व्यवस्था

आर्थिक प्रश्नो और व्यवस्थाओं के सम्बन्ध मे भी समष्टिवाद और साम्यवाद मे मतभेद है। उदाहरण के लिए राष्ट्रीयकरण का ही प्रश्न लिया जा सकता है। राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे साम्यवादी दृष्टिकोण काफी उग्र और कठोर है। वे हर परिस्थिति और हर मूल्य पर उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने के समर्थक हैं। इसके विपरीत समष्टिवादी विचारक इस प्रश्न पर उदार दृष्टिकोण अपनाते हैं। वे सभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने के समर्थक नहीं हैं। वे प्रमुख और विकसित उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना चाहते हैं। राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध मे समष्टिवादी तरीका शनैः-शनैः वाद का है। साम्यवाद राष्ट्रीयकरण करते समय जनमत का कतई ध्यान नही रखता। इसके विपरीत समष्टिवाद बिना जनमत को प्रभावित किये और समझे कोई भी कार्य नही करना चाहता। साम्यवाद जनमत उपेक्षी और समष्टिवाद जनमत-समर्थक है।

इसी तरह की स्थिति मुआवजा देने के प्रश्न पर है। प्रश्न यह है कि व्यापार और उद्योगो का राष्ट्रीयकरण करने के पश्चात् क्या उद्योगो के स्वामियो को जिनका व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त कर उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया गया है मुआवजा देना चाहिए अथवा नहीं। साम्यवाद की व्यवस्था क्रान्ति के पश्चात् तत्काल राष्ट्रीयकरण करने की और उद्योगपति को मुआवजा न देने की है। इसके विपरीत समष्टिवादी व्यवस्था उद्योगपति को उचित मुआवजा देने की है। उनका कहना है कि मुआवजा दिया जाना चाहिए।

व्यक्तिगत सम्पत्ति

समष्टिवाद व्यक्ति के निजी सम्पत्ति पर अधिकार का समर्थक है। वह व्यक्तिगत लघु उद्योग के होने का भी समर्थक है। यह ठीक है कि शोषण का सभी प्रकार से अन्त करने का और श्रमिकों एव कर्मचारियों के अधिकारों की रक्षा का दायित्व राज्य का है, पर इसके लिए वह सभी प्रकार के और सभी स्तर के उद्योगों को व्यक्तिगत अधिकार-क्षेत्र से छीनना नही चाहता। साम्यवाद की व्यवस्था इसके विपरीत है। साम्यवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोधी है। वह समाज की तमाम बुराइयों का मूल इसे मानता है। अत उसकी दृष्टि मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन कर दिया जाना चाहिए। सबको राज्य के अधिकार-क्षेत्र मे कर दिया जाना चाहिए।

समष्टिवादी विचारक, प्रमुखत बर्नस्टाइन, का कहना था कि हम समाज को केवल पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग में ही विभाजित नहीं कर सकते। समाज मे एक तीसरा वर्ग भी है और वह है मध्यम वर्ग। इस वर्ग मे वे लोग आते हैं जो न तो पूंजीपति होते हैं और न मजदूर होते हैं। उदाहरणार्थ प्रोफेसर, वकील, डाक्टर, आदि। हम किसी भी प्रकार से इस वर्ग के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर सकते।

हमे अपनी व्यवस्था मे इस वर्ग को महत्त्व देना ही होगा। साम्यवाद का विचार इसके विपरीत है।

साम्यवाद का निष्कर्ष है कि समाज मे केवल दो वर्ग—पूँजीपति और सर्वहारा—हैं। इन दोनो वर्गों की स्थिति और हित परस्पर विरोधी है। इस प्रकार जहाँ समष्टिवाद समाज मे तीन प्रमुख और प्रभावी वर्गो के होने की बात करता है, वहाँ साम्यवाद समाज मे केवल दो वर्गो के होने की बात करता है।

समष्टिवाद व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का समर्थक है। उसकी मान्यतायें और व्यवस्थायें अन्तत ऐसे समाज-निर्माण की दिशा मे सक्रिय हैं जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके और आर्थिक दु.श्चिन्ताओ से मुक्त हो स्वातन्त्र्य के वातावरण मे विचरण कर सके। समाजवाद प्रत्येक व्यक्ति के मूल्य को स्वीकार करता है। इसके विपरीत साम्यवाद व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के विचार को पूँजीवादी और बुर्जुआ विचार मानता है। वह स्वतन्त्रता के विचार का विरोधी है।

समष्टिवाद प्रजातन्त्र और ससदात्मक प्रणाली का समर्थक है। उसका विश्वास है कि प्रजातन्त्र के बिना समाजवाद आ ही नही सकता। प्रजातन्त्रीय नीति द्वारा ही समाजवाद की स्थापना की जा सकती है। इसके विपरीत साम्यवाद प्रजातन्त्र को एक धोखा मानता है। वह इसे पूँजीवादी व्यवस्था मानता है। साम्यवाद प्रजातन्त्र-विरोधी है। समष्टिवाद सम्पूर्ण समाज का विचार लेकर चलता है। जबकि साम्यवाद प्रमुखत मजदूर वर्ग का दर्शन है। एक व्यापक है, दूसरा सकीर्ण है।

साम्यवाद कठोर अनुशासन और एकदलीय पद्धति मे विश्वास करता है। वह सगठन के एकत्व पर जोर देता है। साम्यवादी दल मे जनवादी केन्द्रीयकरण (Democratic centralism) की प्रथा प्रचलित है। इसके विपरीत समष्टिवाद मे कठोर अनुशासन और एकत्व पर जोर नही है। इसमे इतना ही आवश्यक है कि एक व्यक्ति की निष्ठा सुधारवादी समाज मे हो फिर चाहे उस व्यक्ति की वैचारिक पृष्ठभूमि कैसी भी हो। ब्रिटिश मजदूर दल इसका सबसे सुन्दर उदाहरण है। उसमे अनेक सस्कार और विश्वास के लोग थे। लीज स्मिथ उदारवादी था तथा सर स्टेफर्ड क्रिप्स धार्मिक समाजवादी था। इतना होने पर भी सब मूलत समष्टिवादी विचारक थे।

समष्टिवाद की आलोचना

समष्टिवाद मध्यमार्गी विचारधारा है। एक ओर यह व्यक्तिवाद का विरोधी है तथा दूसरी ओर यह अनेक समाजवादी विचारधाराओं का तथा साम्यवाद का विरोधी है। अत. समष्टिवाद की दो विपरीत दृष्टिकोणो से आलोचना की जा सकती है। एक ओर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से, दूसरी ओर समाजवादी तथा साम्यवादी दृष्टिकोण से इसकी आलोचना की जाती है।

1. व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से आलोचना—समष्टिवाद राज्य के कार्य-क्षेत्र मे विस्तार का समर्थक है। उसके अनुसार लोक-कल्याण की प्राप्ति राज्य के कार्य-

क्षेत्र मे वृद्धि करके की जा सकती है। राज्य के द्वारा अधिकाधिक कार्य सम्पादित किये जाने चाहिएँ। पर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से लोक-कल्याण के लिए राज्य के कार्य-क्षेत्र मे वृद्धि अनुचित है। यह विपरीत परिणाम प्रगट करने वाली सिद्ध होगी। इसका एक स्वाभाविक परिणाम विशाल नौकरशाही की वृद्धि होगा। अन्तत राज्य के कार्यों को राज्य कर्मचारी ही तो सम्पादित करेंगे, पर नौकरशाही की अपनी भयकर कमजोरियाँ होती हैं। अनुभव बतलाता है कि उसके कारण लालफीताशाही मे वृद्धि होती है, परिणामत कार्य मे विलम्ब होता है। पक्षपात, रिश्वतखोरी और भाई-भतीजावाद सब आप ही आप विकसित होने लगते हैं। ये सब नौकरशाही के सहधर्मी है। इन सबके विकास से लोक-कल्याण होना तो दूर रहा, उल्टे लोक-हित का विरोध होता है। कार्य-सम्पादन मे अनावश्यक विलम्ब ही नही होता, बल्कि इसके विपरीत भ्रष्टाचार मे वृद्धि होती है। प्रत्येक स्तर पर और प्रत्येक प्रश्न पर राज्य का हस्तक्षेप प्रशासन के स्तर को गिराता है और जनता को परेशान करता है। छोटे-छोटे कारणो से कई दिनो तक ऑफिसो के चक्कर लगाने से जनता मे राज्य और उसकी व्यवस्था के प्रति घृणा और नफरत पैदा होती है।

आखिर इस सबका क्या परिणाम होगा? जहाँ रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार बढेगा वहाँ क्या होगा? वहाँ जनता का नैतिक चरित्र गिरेगा, उसका उत्साह और कार्यशक्ति समाप्त होगी। यह स्थिति किसी भी प्रकार समाज के विकास मे सहायक नही हो सकती। अत व्यक्तिवाद का कहना है कि राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित किया जाना चाहिए।

2. समष्टिवाद यद्यपि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को स्वीकार करता है, और अपनी व्यवस्थाओ के द्वारा उसे कायम रखने का एक विचार (तरीका) भी उसने विकसित किया है, तथापि व्यक्तिवादी विचारको का मत है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य सम्बन्धी समष्टिवादी धारणा पूर्णत गलत और दिखावा मात्र है। राज्य समाजवादी व्यवस्था मे मनुष्य पर कठोर राजकीय नियन्त्रण थोप दिये जायेंगे। प्रत्येक क्षेत्र मे क्योंकि राज्य हस्तक्षेप करेगा अत प्रत्येक क्षेत्र के सम्बन्ध मे राज्य कानून भी बनायेगा, उन कानूनो के अनुसार ही व्यक्ति को अपने व्यवहार और आचरण का नियमन करना पडेगा, ऐसी स्थिति मे एक व्यक्ति अपने विवेक और अपनी बुद्धि द्वारा नही लेकिन राजकीय विधि और व्यवस्था द्वारा निर्देशित होगा और उसका व्यवहार राजकीय व्यवस्था द्वारा नियन्त्रित होगा। यदि ऐसा नहीं हुआ तो यह माना जायेगा कि उसने राजकीय व्यवस्था की अवहेलना की है, अत उसे दण्डित किया जा सकेगा। इस प्रकार प्रत्येक समय और प्रत्येक अवस्था मे व्यक्ति पर राज्य के कानून तलवार के समान लटकते रहेंगे। मैक्केनी (McKechnie) के अनुसार "समाजवाद को व्यवहार मे लाने वाला राज्य विद्रूप हो जायेगा। उसमें शासन निरकुश होगा और वह बडी कठोरता मे मानव जीवन की प्रत्येक बात मे हस्तक्षेप करेगा।" (No travesty of a healthy state is more deplorable than a political

socialism in the form of an absolute government directing with inquisitional and irresistible sway every detail of human life.)[15]

यह स्थिति व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की मूल अवधारणा को ही समाप्त कर देती है। और तब सर एरस्किन मे (Sir Erskine May) का कथन कितना सार्थक लगने लगता है कि इस प्रकार के (समाजवादी) सिद्धान्तो का स्वाभाविक प्रभाव मानव जाति की शक्तियो के दमन मे हुआ है और समाजवाद का स्पष्ट ध्येय व्यक्तियो की सभी शक्तियो तथा श्रेष्ठ ध्येयो का बहिष्कार है। (The natural effect of such theories would be to repress the energies of mankind, and it is their avowed object to proscribe all the more elevated aims and faculties of individuals.)[16]

समाजवाद की तमाम व्यवस्थाओ का परिणाम व्यक्तिगत चरित्र के ह्रास मे हुआ है। जहाँ आस्था, विश्वास और जीवन के मानवीय मूल्य नही वहाँ व्यक्तिगत और समाजगत जीवन मे चरित्र की श्रेष्ठता का प्रश्न ही नही। समाजवाद मे ऐसा ही कुछ है।

3. समष्टिवाद के आर्थिक सिद्धान्त की भी आलोचना की गई है। समष्टिवाद राष्ट्रीयकरण का समर्थक है। ऐसी स्थिति मे उद्योग और व्यवसाय आदि का सचालन राज्य के हाथो मे चला जायेगा, पर इसमे अनेक दोष हैं। सबसे पहला दोष तो यह है कि राज्य के हस्तक्षेप के कारण और राज्य के स्वामित्व के कारण 'उद्योग मे राज्यीय एकाधिकार' को प्रोत्साहन मिलेगा, फिर वस्तुओ के मूल्य, प्रकार, मात्रा इन सबका निर्धारण राज्य करेगा। ऐसी स्थिति मे जो भी और जैसा भी राज्य तय कर देगा वह स्वीकार करना पडेगा। आज तो व्यापार एव उद्योग मे राज्य का हस्तक्षेप नही है अत प्रतियोगिता है। इस प्रतियोगिता के कारण मूल्यो मे कमी रहती है। वस्तुएँ भी अच्छी बनती हैं, बाजार मे सस्ती मिलती है। पर यदि प्रतियोगिता समाप्त हो गयी तो निश्चित रूप से जितनी भी कीमत राज्य निश्चित करेगा उतनी देनी पडेगी। उदाहरण के लिए भारत मे रेल-व्यवस्था को ले सकते हैं। रेल पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण है, अत: सुविधाओं की कमी और यातायात की दरो मे वृद्धि होती रहती है। प्लेटफार्म टिकट की दरे भी ऊँची होती जाती हैं। व्यक्तिवादियो का कहना है कि यह सब एकाधिकार का परिणाम है। एकाधिकार मनमानी को जन्म देता है। इसके विपरीत प्रतियोगिता उत्पादन की वृद्धि मे सहायक और उपभोक्ताओ का लाभ जुटाने वाली होती है।

इसी प्रकार राष्ट्रीयकरण का दूसरा दोष यह है कि इसमे क्योकि लाभ-हानि व्यक्तिगत नही होती, सब राज्य को ही होती है, अत: व्यक्तिगत लाभ के

[15] Quoted by Garner, *Political Science and Government*, p. 412.
[16] Sir Erskine May, *Democracy in Europe*, p LXV.

अभाव में कार्य करने की प्रेरक शक्ति समाप्त हो जाती है। मनुष्य जिन तमाम उद्योगों में कार्य करता है उनकी प्रेरक शक्ति व्यक्तिगत लाभ का विचार है। इसके समाप्त हो जाने पर व्यक्ति पूरी शक्ति और सामर्थ्य से कार्य नहीं करता। अतः उत्पादन घटता है। एक कुशल व्यक्ति अपनी प्रतिभा का पूरा उपयोग नहीं करता। उसे मालूम है कि वह कुछ भी करे, उसकी तनख्वाह पर कोई असर नहीं पड़ने का। उसे कोई प्रोत्साहन नहीं। यहाँ व्यक्तिगत जिम्मेदारी सामूहिक जिम्मेदारी में बदल जाती है। अतः लोग उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं करते, बल्कि उसे टालते हैं। इस व्यवस्था में यह भावना घर कर जाती है कि "सबका काम किसी का नहीं है।"[17] इस प्रकार उद्योगों का राष्ट्रीयकरण समस्याओं को सुलझाना कम है, उनको उलझा अधिक देता है।

राष्ट्रीयकरण की एक बुराई और है। अन्तत इसमें मजदूर को लाभ कम ही होगा। यदि उद्योगों का संचालन व्यक्तिगत क्षेत्र में है, और यहाँ मजदूरों के हितों पर आघात पहुँचता है, तो मजदूर राज्य के पास न्याय के लिए आ सकता है, उसे हस्तक्षेप करने के लिए और अपने अधिकारों का प्रयोग करने के लिए कह सकता है। पर यदि संचालन स्वयं राज्य के हाथों में हो तब वह कहाँ जायेगा ? यह व्यवस्था उसके सामने एक परेशानी पैदा करती है।

राज्य औद्योगिक क्षेत्र में भी कठोर और सख्त कानूनों और व्यवस्थाओं को लागू करने लगता है जिसका मजदूर की कार्य करने की शक्ति पर, कर्मचारी की सक्षमता पर और उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

समाजवादियों तथा साम्यवादियों द्वारा आलोचना

राज्य समाजवाद की आलोचना समाजवाद में विश्वास रखने वाले इनके सहधर्मी विचारकों के द्वारा भी की गई है। ये विचारक किसी सीमा तक उग्र विचारक हैं। वर्ग-संघर्ष और संशोधनवादी तरीकों की आलोचना के अतिरिक्त राज्य समाजवाद की कुछ मूलभूत मान्यताओं और नीतियों की भी आलोचना की गई है।

(1) राज्य समाजवाद, समाजवाद को लाने के लिए प्रजातन्त्रीय तरीकों में, जो मूलतः निर्वाचन के माध्यम से जनमत को प्रभावित करने का तरीका है, विश्वास करते हैं, पर अन्य समाजवादियों का कहना है कि इन तरीकों से समाजवाद आ नहीं सकता। प्रजातन्त्र के द्वारा पूँजीवाद को समाप्त नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि इस तरीके से पूँजीपति लोग छोटे-मोटे सुधार तो करने देंगे, पर बड़े और मूलभूत सुधार, का विरोध करेंगे। बड़े-बड़े प्रलोभन देकर श्रमिक नेताओं तथा अन्य प्रतिनिधियों को खरीदा जा सकता है और उनको पथ-भ्रष्ट किया जा सकता है। फ्रान्स का अनुभव इनके साथ है। इनका कहना है कि पूँजीवाद को समाप्त करने का तरीका केवल एक है और वह है क्रान्ति।

[17] "Everyman's work is no man's work."

(2) समष्टिवाद मजदूरों की स्थिति में मूलत परिवर्तन नहीं कर सकता। यह मालिकों को बदल सकता है। राष्ट्रीयकरण के कारण उद्योग का मालिक कोई व्यक्ति न होकर राज्य हो जाएगा, पर मजदूर, मजदूर ही रहेगा। यह ठीक है कि कुछ सुविधायें और अधिकारों में वृद्धि हो सकेगी पर उसकी स्थिति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आ पायेगा।

(3) कई समाजवादी विचारक समाजवाद को छद्म वेश में राजकीय पूंजीवाद का दूसरा रूप मानते हैं। वे कहते हैं कि अन्तर इतना ही है कि कई पूंजीपतियों के स्थान पर केवल एक बड़ा पूंजीपति रह जायेगा और तमाम छोटे-छोटे पूंजीपति बने ही रहेंगे। इनका विश्वास है कि राज्य के कर्मचारियों का दृष्टिकोण पूंजीपतियों जैसा हो जायेगा। इससे शोषण में कोई परिवर्तन आने वाला नहीं है।

जी० डी० एच० कोल का मत है कि समष्टिवाद में मजदूर, मजदूर ही बनकर रहेगा, और राज्य पूंजीपतियों की स्थिति ले लेगा।

साम्यवादी विचारक विचार और कार्य-पद्धति दोनों ही दृष्टि से समष्टिवाद की आलोचना करते हैं। प्रजातन्त्रीय तरीके, शान्तिपूर्ण और संवैधानिक तरीकों से समाजवाद की स्थापना का प्रयत्न, समाजहित के विचार से उत्पादन, राष्ट्रीयकरण का विचार, यह सब साम्यवाद की दृष्टि में दिखावे और मूल मार्ग से भटकाने वाले प्रलोभन हैं। सही मार्ग क्रान्ति का, सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का और, अन्ततः, राज्यहीन और वर्गहीन समाज की स्थापना का मार्ग है।

सहायक पुस्तकें

Alexander Gray	*The Socialist Tradition*
Garner	*Political Science and Government*
C. E. M. Joad	*Modern Political Theory* (English, Hindi)
गाईल्स रेडिस	लोकतन्त्री समाजवाद
फ्रांसिस डब्लू कोकर	आधुनिक राजनीतिक चिन्तन
महादेव प्रसाद शर्मा	आधुनिक राजनीति में विभिन्नवाद

8
साम्यवाद
(Communism)

●

साम्यवाद एक ऐसी राजनीतिक विचारधारा है, जिससे आज का प्रबुद्ध वर्ग काफी कुछ परिचित है। साम्यवादी मान्यताओं, व्यवस्थाओं और तकनीक का सम्यक् ज्ञान कुछ चन्द लोगों को ही है, पर विश्व राजनीति में 'साम्यवाद' शब्द का प्रयोग एक आम बात है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ कह पाना कई बार कुछ असुविधाजनक रहा है,[1] फिर भी आज साम्यवाद से जो अर्थ सहज रूप में ग्रहण किया जाता है वह विश्व भर की साम्यवादी पार्टियों की रीति-नीति और योजनाओं से है। हालांकि इस सामान्य विचार में भी उस समय प्राय असुविधा उत्पन्न हो जाती है जबकि यह तथ्य सामने आता है कि आज विश्व के साम्यवादी दलों और साम्यवादी आन्दोलन में भी फूट और दरारें है तथा गम्भीर सैद्धान्तिक मतभेद हैं, उन सबकी कोई सुनिश्चित और सुनिर्धारित एक दिशा नही है।

कार्ल मार्क्स वर्तमान साम्यवाद का प्रवर्तक था। यद्यपि आज का साम्यवाद कार्ल मार्क्स के साम्यवाद से कुछ भिन्न है, तथापि उसका दार्शनिक आधार और मूलभूत मान्यताएँ, जिनमें द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, अर्थ-व्यवस्था के मूल आधार, समाज-रचना सम्बन्धी दृष्टिकोण, ऐतिहासिक क्रम-विकास सम्बन्धी मान्यताएँ, वर्ग-संघर्ष और अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त आदि प्रमुख हैं, लगभग ज्यों की त्यों हैं। अन्तर राज्य की स्थिति और कुछ परिवर्तित कार्यपद्धति में आया है। यह सब देखकर मार्क्सवाद और साम्यवाद में भी कभी-कभी अन्तर किया जाता है। कार्ल मार्क्स ने जिन अनेक विचारों को भिन्न-भिन्न समय पर और भिन्न-भिन्न पुस्तकों में व्यक्त किया है वह सामान्यत मार्क्सवाद के रूप में पहिचाने जाते हैं, मार्क्सवाद कार्ल मार्क्स के विचारों के लिए प्रयुक्त शब्द है। मार्क्स की मृत्यु के पश्चात् लेनिन ने उसके सिद्धान्तों को आगे बढ़ाते हुए उसमें कुछ परिवर्तन और आवश्यक संशोधन कर, उसे व्यावहारिक रूप देने का जो प्रयत्न किया और जिस दर्शन को विकसित किया

[1] सी० ई० एम० जोड के अनुसार "साम्यवाद एक ऐसा शब्द है जिसके अनेक अर्थ हैं।"

वह सामान्यत. साम्यवाद कहलाया। वैसे 'साम्यवाद' शब्द का प्रयोग कार्ल मार्क्स सहित कई अन्य विचारको ने किया है। पर आज जिस रूप मे उसका प्रयोग होता है वह लेनिन द्वारा विकसित किया हुआ है। एक 'विकासशील दर्शन' होने के कारण साम्यवाद मे अनेक सशोधन और परिवर्तित परिस्थितियो में नयी-नयी व्याख्याएँ सामने आ रही हैं। लेनिन की मृत्यु के पश्चात् सोवियत रूस का नेतृत्व स्टालिन (Joseph Stalin, 1879–1953) के हाथों मे आया। उसने मार्क्सवाद (साम्यवाद) की पुन. व्याख्या की जो लेनिन की व्याख्या से कुछ आगे थी। ट्राट्स्की (Leon Trotsky, 1877–1940) ने भी साम्यवाद की व्याख्या की। इसी प्रकार 1956 मे ख्रुश्चोव (N. S. Khrushchov) ने स्टालिन की व्याख्या को गलत ठहराते हुए साम्यवाद (मार्क्सवाद) की नयी व्याख्या उपस्थित की। साम्यवाद की ये सब व्याख्यायें सोवियत रूस के नेतृत्व ने की थी। इन सबसे पृथक् चीनी नेता माओ त्से-तुग (Mao Tse-Tung, 1893) ने साम्यवाद की नये सिरे से नयी व्याख्या की है। वर्तमान समय मे विभिन्न व्याख्याओ के कारण साम्यवाद की एक और असदिग्ध व्याख्या की सत्यता और उसकी सामयिक उपयोगिता तथा तकनीक को लेकर साम्यवादी पार्टियों मे गम्भीर मतभेद हैं, अतः साम्यवाद की व्याख्या का कौन-सा सस्करण ठीक है, यह एक अलग ही प्रश्न है।

साम्यवाद शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध मे मॉरिस क्रैन्सटन के विचारों पर दृष्टि डालना काफी उपयोगी है। उनके अनुसार "उन्नीसवीं शताब्दी मे 'साम्यवाद' शब्द का प्रयोग सामान्य स्वामित्व के सिद्धान्त को दर्शाने के लिए होता था। सबसे पहले 1840 के बाद के वर्षों मे इगलैण्ड मे ओवेनवादी लेखको ने इस शब्द का प्रचलन किया। जहाँ तक उन लोगो का सम्बन्ध था, उन्होने इसे फ्रान्सीसी भाषा के शब्द 'कोम्युनिसस' से लिया और फ्रान्सीसी भाषा मे इसका अर्थ प्राचीन ग्राम इकाई 'ल कम्यून' से होता था। इस प्रकार प्रथम 'साम्यवाद' को हम 'ग्राम साम्यवाद' समझ सकते हैं या इसे उन छोटी-छोटी बस्तियो की व्यवस्था के रूप मे समझ सकते हैं, जिनमे प्रत्येक वस्तु पर सामान्य स्वामित्व होता था, जिसका उपयोग राबर्ट ओवेन ने किया।"

पर आज स्थिति भिन्न है। मार्क्स ने साम्यवाद शब्द का प्रयोग 'वैज्ञानिक' और 'काल्पनिक' समाजवाद का अन्तर स्पष्ट करने के लिए किया और वर्तमान मे क्योंकि इस शब्द को विश्व की कम्युनिस्ट पार्टियों ने लगभग अपना लिया है अत. इसका वह अर्थ है जो पहिले व्यक्त किया जा चुका है।

साम्यवादी सिद्धान्त

मार्क्सवाद के सम्बन्ध मे प० जवाहरलाल नेहरू का कहना है कि "यह इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, मानव जीवन और मानव इच्छाओ को समझने का एक तरीका है। इसमे उसूल भी हैं और कुछ कर गुजरने की पुकार भी है। यह ऐसा तत्वज्ञान है जो मनुष्य जीवन के ज्यादातर कामो के बारे मे कुछ न कुछ

बात बताता ही है। इसमें मानव-इतिहास पर—गुजरे हुए, आजकल के और आगे आने वाले जमाने पर—विचार करके यह साबित करने की कोशिश की गई है कि यह सब कड़े तर्कों या दलीलों के मुताबिक चलने वाली प्रणाली है। किस्मत की तरह इसके कानून भी टल नहीं सकते।"[2] मार्क्स ने जिन अनेक तथ्यों को सामने रखा और जिनका विश्लेषण किया वे काफी महत्त्वपूर्ण और वर्तमान विकास की दिशा को निर्धारित करने में काफी सहायक रहे हैं। उसके निम्न सिद्धान्त प्रमुख हैं।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

कार्ल मार्क्स के दार्शनिक विचार 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' कहलाते हैं। संसार की मार्क्सवादी समझ को 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' कहा जाता है। मार्क्स ने अपने सभी सिद्धान्तों को भौतिकवादी दृष्टिकोण पर आधारित किया है, और इसी भौतिकवादी दृष्टिकोण से उसने संसार का, उसके विकास का, एवं विकास की गति को निर्धारित करने वाले तत्वों एवं नियमों का पता भी लगाया है। उसके इस दृष्टिकोण की कुछ विशेषतायें भी हैं। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि संसार केवल भौतिकवादी ही नहीं है वरन् उसके कुछ और भी गुण हैं जिन्हें द्वन्द्वात्मक नाम से पुकारते हैं। यही उसके विकास में क्रियाशील सिद्धान्त है। यह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद क्या है? एमिल बर्न्स का कहना है कि "आम तौर से समझा जाता है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कोई विचित्र रहस्यमय चीज है। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि यह वास्तविक संसार का प्रतिबिम्ब ही तो है और रोजमर्रा की साधारण चीजों का वर्णन करके जिन्हें हर आदमी जानता है, 'द्वन्द्वात्मक' शब्द का अर्थ समझाया जा सकता है।"

द्वन्द्वात्मक प्रणाली मार्क्स का मौलिक सिद्धान्त नहीं है, इसका प्रारम्भ हीगेल के राज्यदर्शन से हुआ है। हीगेल आत्मवादी जर्मन दार्शनिक था। उसने द्वन्द्वात्मक विकास के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया है तथा उसके मूल में 'विश्वात्मा' को माना है।

द्वन्द्वात्मक शब्द 'डायलेक्टिक्स्' का अनुवाद है। इसका तात्पर्य होता है वाद-विवाद करना, लेकिन यहाँ इसका अभिप्राय अन्तर्विरोध से है, प्रत्येक वस्तु अन्तर्विरोध का परिणाम है। भौतिक जगत् में प्रत्येक वस्तु जीवन के लिए अनेक तत्वों से संघर्ष करती है, यह द्वन्द्ववाद है।

हीगेल ने यह समझाया है कि द्वन्द्वात्मक पद्धति के द्वारा विकास कैसे होता है। इसके लिए उसने एक क्रम बतलाया है। यह क्रमवाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis) और संवाद (Synthesis) के रूप में आन्तरिक विरोध से संचालित होता है। प्रत्येक विचार (वाद) में अन्तर्विरोध होता है और वह अपूर्ण भी

[2] जवाहरलाल नेहरू, विश्व इतिहास की झलक, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ 776।

होता है, ग्रत स्वभावत. विरोधी विचार (प्रतिवाद) पैदा होता है, और अन्त मे इन दोनो से सत्य (सवाद) का प्रादुर्भाव होता है। पर यह क्रम यही नही रुकता, वाद और प्रतिवाद से प्रादुर्भूत सवाद अग्रिम विकास के लिए पुन. वाद बन जाता है, और पुन. वही प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

मार्क्स हीगेल की इस बात से पूर्णत. सहमत था कि इतिहास की प्रगति द्वन्द्वात्मक पद्धति से होती है, पर वह यह मानने के लिए तैयार नही था कि इस विकास अथवा प्रगति के मूल मे 'विचार' नियामक तत्त्व का कार्य करता है। मार्क्स का कहना था कि वस्तुत विकास के मूल मे विचार नही अपितु पदार्थ है।

मार्क्स का कहना था कि आत्मा अथवा विचार को हम प्रत्यक्ष देख नही सकते। इसके विपरीत हम भौतिक पदार्थ को देख सकते हैं, ग्रत. वे हमारे लिए चिर सत्य हैं। अत मार्क्स ने हीगेल के 'द्वन्द्वात्मक आत्मवाद' (*Dialectical Spiritualism*) के स्थान पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (*Dialectical Materialism*) को अपने दर्शन का आधार बनाया। हीगेल कहता है कि सभी भौतिक चीजें आत्मा से जन्मी हैं, इसके विपरीत मार्क्स का विचार था कि स्वय आत्मा भौतिक शरीर से उत्पन्न हुई है। हीगेल के सिद्धान्त को गलत और अतथ्यपूर्ण बतलाते हुए तथा स्वयं की प्रक्रिया को उससे अलग बतलाते हुए मार्क्स ने दास केपिटल के दूसरे जर्मन सस्करण के परिशिष्ट मे लिखा है कि "मेरी द्वन्द्वात्मक पद्धति हीगेलवादी पद्धति से न केवल भिन्न है, बल्कि ठीक उसकी उलटी है। हीगेल के लिए मानव-मस्तिष्क की जीवन-प्रक्रिया, अर्थात् चिन्तन की प्रक्रिया, जिसे 'विचार' के नाम से उसने एक स्वतन्त्र कर्त्ता तक बना डाला है, वास्तविक ससार की सृजनकर्त्री है और वास्तविक ससार 'विचार' का बाहरी, इन्द्रियगम्य रूप मात्र है। इसके विपरीत, मेरे लिए विचार इसके सिवा और कुछ नही कि भौतिक ससार मानव-मस्तिष्क मे प्रतिबिम्बित होता है और चिन्तन के रूपों मे बदल जाता है।"[3] उसने आगे लिखा है कि "हीगेल के यहाँ द्वन्द्ववाद सिर के बल खडा है। यदि आप उसके रहस्यमय आवरण के भीतर ढके हुए विवेकपूर्ण सार-तत्व का पता लगाना चाहते है, तो आपको उसे पलट कर फिर पैरो के बल सीधा खडा करना होगा।"[4]

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को लेनिन ने विकासवाद का सिद्धान्त माना है। इसे गति सम्बन्धी सिद्धान्त भी कहा जा सकता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के तीन प्रमुख सिद्धान्त है .—

1. प्रत्येक वस्तु का विकास सदैव सरल और सुगम तरीके से नही होता, अपितु टेढी-मेढी, चक्करदार, गूढ और गहन रीति के द्वारा होता है। इस क्रम मे प्रत्येक अवस्था वाद, प्रतिवाद और सवाद की तीन विभिन्न स्थितियों से पूर्ण होनी

[3] कार्ल मार्क्स, पूंजी, खण्ड 1, पृष्ठ 27।
[4] वही, पृष्ठ 28।

है। विकास आगे की ओर होता है।

2. द्वन्द्ववाद के अनुसार विश्व की कोई वस्तु स्थिर अथवा गतिहीन नहीं होती। हमारा सारा ज्ञान इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि प्रत्येक वस्तु या तो बढ़ती है या घटती है , या तो प्रत्येक वस्तु विकसित होती रहती है या फिर वह गिरती रहती है। क्योंकि गतिशीलता स्वयं अपने आप में विरोधमय है, अत आन्तरिक विरोध द्वारा विकास होता है।

3. मात्रात्मक अन्तर अधिक होने से उसी में गुणात्मक अन्तर भी आ जाता है। सामान्यत दीखने में पानी पानी है पर उसका तापमान एक निश्चित सीमा तक बढ़ाने पर वह भाप बन जाता है और इसके विपरीत निश्चित सीमा तक गिराने पर वह बर्फ भी बन जाता है।

मार्क्स का विश्वास था कि सभी चीजें भौतिक परिस्थितियों पर निर्भर रहती हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का यह दावा है कि वह संसार की सबसे अच्छी समझ है। इसी आधार पर मार्क्स ने सामाजिक स्थिति का विश्लेषण भी किया है। उसने सामाजिक घटनाओं को भी भौतिकवाद के दायरे में लाकर, यह प्रमाणित कर दिया कि समाज के विकास में उत्पादन प्रणाली की भूमिका प्रमुख और निर्णायक है। सामाजिक चेतना सामाजिक सत्ता से, प्रधानत भौतिक सम्पदा के उत्पादन से, निश्चित होती है। समाज का विकास भौतिक कारणों पर निर्भर है, न कि लोगों के विचारों और इच्छाओं पर। *"द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सृजन कर, और सामाजिक घटनाओं को भी उसके सिद्धान्त के दायरे में लाकर, मार्क्स और एंजिल्स ने दर्शन में सबसे बड़ी क्रान्ति सम्पन्न की।*[5]

ऐतिहासिक भौतिकवाद

कार्ल मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या का आधारभूत सिद्धान्त उसका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त है। मार्क्सवादियों का कहना है कि "राजाओं, महाराजाओं, वीर पुरुषों का वर्णन करना इतिहास का लक्ष्य न होकर *सम्पूर्ण जनता की स्वाभाविक जीवन-स्थिति, उत्पादन-साधन और उनके परस्पर सम्बन्ध तथा उसके परिणामों का विकास ही इतिहास का मुख्य विषय होना चाहिए। अत इतिहास न तो जैसा कि वाल्टेयर कहता था मानसिक शक्ति का वर्णन ही है, और न ही हीगेल के अनुसार* "इतिहास ईश्वर की आत्मकथा है। वह मनुष्यों को अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने देता है। उसका फल वही होता है, जो ईश्वर चाहता है।" और न इतिहास जैसा कि डामरे ने कहा है सार्वजनिक घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन ही है, अपितु वह तो समाज में आर्थिक सम्बन्धों के परिणामस्वरूप उत्पन्न परिवर्तनों का विवेचन करता है। मार्क्स का विचार था कि ऐतिहासिक परिवर्तनों तथा बड़े से बड़े और गम्भीर परिवर्तनों के पीछे मूल तत्त्व महापुरुष या शक्ति नहीं

5 ई० स्त्याविन, दर्शन के इतिहास की रूपरेखा, पृ० 103।

अपितु यही तथ्य है कि अर्थ और उत्पादन के साधनों पर किस वर्ग का अधिकार है। और फिर मार्क्स ने भौतिकवाद शब्द का प्रयोग आर्थिक दृष्टि से ही किया है। जैसे-जैसे उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होते हैं, वैसे ही वैसे समाज में भी परिवर्तन हो जाता है।

सामाजिक परिवर्तन, घटना अथवा युद्ध के पीछे नियामक तत्त्व अर्थ और उत्पादन के साधन एवं उन पर अधिकार ही होता है। उदाहरण के लिए इङ्गलैंड की क्रामवेल की क्रान्ति को ले सकते है। कहने के लिए इस क्रान्ति को चार्ल्स प्रथम के खिलाफ पूँजीवादी क्रान्ति कहते हैं, और इस पूरे संघर्ष को एक नैतिक संघर्ष का रूप देते हैं पर गहराई से देखने पर ज्ञात होता है कि वास्तविकता यह नहीं है। वह क्रान्ति उगते हुए पूँजीवाद और पुराने सामन्त शासक के बीच संघर्ष था जिसमे पूँजीवाद सामन्तवाद से सत्ता छीन रहा था। यही बात मार्क्सवादी फ्रान्स की 1789 की रक्तक्रान्ति के सम्बन्ध मे प्रगट करते हैं।

मार्क्स की इतिहास की व्याख्या को इतिहास की आर्थिक व्याख्या भी कहा जाता है। हम इसे आर्थिक, भौतिक अथवा उत्पादन प्रणाली पर अधिकार की व्याख्या, कुछ भी कह सकते हैं। मार्क्स के अनुसार इसी के परिणामस्वरूप समाज के संगठन और उसके वर्गों की रूपरेखा निर्धारित होती है। मार्क्स का विचार था कि समाज व्यक्तियों का यान्त्रिक रूप में किया गया योग नहीं है बल्कि उन सामाजिक सम्बन्धों का कुल योग है जो प्रत्येक ऐतिहासिक अवधि में उत्पादक शक्तियों के निश्चित स्तर के अनुरूप होते हैं।

इस आधार पर यदि देखा जाय तो मार्क्स का कहना है कि ऐतिहासिक दृष्टि से *समाज में चार परिवर्तन हो चुके हैं तथा पाँचवें परिवर्तन में समाज गुजर* रहा है और छठा परिवर्तन भविष्य में होने को है। इस प्रकार कुल मिलाकर समस्त मानव इतिहास को हम 6 भागों में विभाजित कर सकते हैं, यथा—आदिम साम्यवादी युग, दासत्व युग, सामन्तवादी युग, पूँजीवादी युग, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का युग (समाजवाद) और अन्त में साम्यवादी युग। वस्तुतः इतिहास की भौतिकवादी धारणा मार्क्स की उन दो खोजों में से एक थी जिनके परिणामस्वरूप वैज्ञानिक समाजवाद का जन्म सम्भव हुआ।

वर्ग-संघर्ष

साम्यवादी घोषणा-पत्र का प्रारम्भ निम्न शब्दों से होता है—"अब तक जितने समाज हुए हैं, उन सबका इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है।"[6] मार्क्स ने मानव जीवन के इतिहास को सर्वसम्पन्न (Have-all) और सर्वहारा (Have-not) *वर्ग के बीच होने वाले निरन्तर संघर्ष के रूप में वर्णित किया है।* इसका दार्शनिक आधार भौतिकवाद की एक स्वाभाविक परिणति के रूप में भी पहिचाना जाता है।

[6] "The history of all hitherto existing society is the history of class struggles." —*Manifesto of the Communist Party*, p. 1

वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को समझने के पूर्व वर्ग शब्द से मार्क्स का क्या अभिप्राय था यह समझना अत्यन्त आवश्यक है। वर्ग से उसका तात्पर्य जातीय या गोत्र वर्ग से नही अपितु आर्थिक वर्ग से था, अर्थात् समान तरह से अपनी जीविका को कमाने वाले व्यक्ति समान वर्ग के होते हैं, फिर चाहे उनका सम्प्रदाय, जाति और विश्वास कुछ भी क्यो न हो। इस रूप में समाज में सदैव ही दो वर्ग रहे हैं, एक वर्ग वह जो वास्तव में शारीरिक श्रम करता है और पैदावार करता है (समय और काल की दृष्टि से यह वर्ग गुलाम, अर्ध-गुलाम किसान और मजदूर होता है)। दूसरा वर्ग ऐसा होता है जो बिना शारीरिक श्रम किये ही तथा उत्पादन किये ही उसमें से लाभ प्राप्त करता है (यह वर्ग स्वामियो, सामन्तों, पूंजीपतियो तथा उद्योगपतियो का होता है।)

मानव जाति का अभी तक का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है, यह वर्ग-संघर्ष विभिन्न ऐतिहासिक काल-खण्डो में विभिन्न, पर अपनी मूल प्रवृत्ति में निश्चित रूप से दो—सर्वसम्पन्न और सर्वहारा—वर्गों के बीच हुआ। दास युग में यह संघर्ष स्वामियों और दासो के बीच हुआ, सामन्त युग में यह सामन्तों और किसानो के बीच हुआ तथा आज यह संघर्ष पूंजीपतियों और श्रमिको के बीच है। कभी यह संघर्ष प्रगट हुआ कभी अप्रगट, कभी व्यक्तिगत कभी सामूहिक। मार्क्स का कहना है कि "दासो का स्वतन्त्र व्यक्तियों से, साधारण जनता का कुलीनों से, कृषि दासों का भू-पतियो से, वेतनभोगियों का श्रेणीपतियो से, एक शब्द में, पीडितों का पीडित करने वालों से विरोध तथा अनवरत संघर्ष चलता रहा है, कभी यह प्रगट रूप में तथा कभी अप्रगट रूप मे चला है।"[1]

यद्यपि वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त मार्क्स का मौलिक सिद्धान्त नही था, [ऑगस्टिन सिद्धान्त (Augustin theory) में वर्ग-संघर्ष का विचार है] तथापि मार्क्स ने ही वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का राजनीतिक प्रयोग किया, उसने इसे एक नया रूप और गति प्रदान की।

मार्क्स का विचार था कि वर्ग-संघर्ष के कारण पूंजीवादी समाज और श्रमिको में संघर्ष होगा, इस संघर्ष में श्रमिकों की विजय सुनिश्चित है और इस विजय के पश्चात् साम्यवाद की स्थापना होगी जहाँ सर्वहारा वर्ग के अतिरिक्त दूसरा कोई वर्ग नही होगा, अर्थात् वर्ग-संघर्ष का अन्त वर्ग-विहीन समाज की स्थापना में होगा, यही उसकी सर्वोच्च परिणति है।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त कार्ल मार्क्स का प्रमुख सिद्धान्त है। इसी

[1] Freeman and slave, patrician and plebeian, lord and serf, guild master and journeyman, in a word oppressor and oppressed, stood in constant opposition to one another, carried on an uninterrupted, now hidden, now open, fight, a fight that each time ended, either in a revolutionary re-constitution of society at large, or in the common ruin of the contending classes" —Ibid p 40

सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स ने अपने आर्थिक विचारों को विकसित किया। इस सिद्धान्त का निरूपण मार्क्स ने अपने महानतम् ग्रन्थ केपिटल में किया है। क्योंकि इस सिद्धान्त के निरूपण में उस पर समकालीन अर्थशास्त्रियों का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है, अतः गैटेल का कहना है कि मार्क्स का अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त "इङ्गलैंड के क्लासीकल अर्थशास्त्रियों के मूल्य के श्रम सिद्धान्त पर आधारित है।"

पूंजीवादी उत्पादन उस समय से प्रारम्भ हुआ जबकि सामन्तकाल में व्यक्तिगत उत्पादन को प्रोत्साहन मिला। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में यह उत्पादन मुनाफे या लाभ के लिए नहीं था, कारण उसका प्रयोग मौलिक रूप में सामन्त और पैदा करने वाले ही करते थे; पर जैसे-जैसे सामन्ती व्यवस्था अपनी जर्जर अवस्था में आयी और धीरे-धीरे लोप होने लगी वैसे ही उत्पादन क्रमशः मुनाफा या लाभ प्राप्त करने के लिए किया जाने लगा। इस प्रकार पूंजीवाद पैदा हुआ।

उत्पादन के उपरोक्त क्रम में यन्त्रों और उनको चलाने वालों की आवश्यकता पड़ी। ये मजदूर थे। ये वस्तुएं बनाते थे। आधुनिक युग में उत्पादन के साधन कुछ पूंजीपतियों के हाथों में रहते हैं, पर वस्तुएँ श्रमिक लोग ही बनाते हैं। पूंजीपति द्वारा कमाया हुआ लाभ भी श्रमिक के श्रम द्वारा ही बनता है। यह कैसे? यह एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। एक श्रमिक एक कारखाने में आठ घण्टे काम करता है। इस बीच वह 10 रु० मूल्य की वस्तु बनाता है। उसे रोज के वेतन के रूप में 2 रु० मिलता है अर्थात् वह अपना वेतन एक घण्टा तीस मिनट में भी कम समय में निकाल लेता है, शेष समय में वह पूंजीपति के लिए कार्य करता है। यह शेष समय का कार्य और उससे प्राप्त लाभ पूंजीपति का अतिरिक्त मूल्य है।

मार्क्स ने श्रम सिद्धान्त के आधार पर ही अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। मार्क्स का कहना है कि जो लोग परिश्रम करके किसी वस्तु का उत्पादन करते हैं, वास्तव में क्योंकि वे ही मूल्य को उत्पन्न करते हैं अतः उत्पादन का सम्पूर्ण लाभ प्राप्त करने का अधिकार उनको ही है। आज स्थिति यह है कि अतिरिक्त मूल्य को पूंजीपति हड़प लेता है, मजदूर के जीवन-निर्वाह के लिए जितना आवश्यक है, अर्थात् उसे जितनी मजदूरी मिलती है, उससे अधिक वह जितना मूल्य पैदा करता है वह सब पूंजीपति का लाभ होता है। यही अतिरिक्त मूल्य है।

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को प्रतिपादित करके और उसे पूंजीपतियों के लाभ का स्रोत बतलाकर मार्क्स ने काफी महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि इसके विश्लेषण से पूंजीपति युग में वर्ग-संघर्ष का कारण मालूम पड़ जाता है। मजदूरों को कहीं भी पूरी मजदूरी नहीं दी जाती। पूंजीपति अधिक से अधिक लाभ हड़पना चाहते हैं, मजदूर अधिक वेतन की मांग करते हैं, फलतः संघर्ष होता है। यही कारण

है कि पूंजीपतियो और मजदूरो मे सदैव सघर्ष बना रहता है।

सर्वहारा वर्ग की तानाशाही

मार्क्स यह मानता है कि पूंजीवाद मे आन्तरिक कमजोरियाँ और दुर्गुण है। अत वह इनके कारण स्वत ही समाप्त हो जाएगा। पर पूंजीवाद के समाप्त होने ही तत्क्षण साम्यवाद स्थापित नही हो जायगा। साम्यवादी क्रान्ति के पश्चात् कुछ समय ऐसा अवश्य रहेगा जो पूर्ण साम्यवाद के स्थापित होने के पूर्व का और क्रान्ति के पश्चात् का समय होगा। यह समय अवधि की दृष्टि से अधिक लम्बा तो नही होगा पर पूर्ण सावधानी और सक्रिय रहने का अवश्य है ; कारण, इस समय मे इस बात की सम्भावना रहती है कि कही सत्ताच्युत पूंजीपति वर्ग और उनका शेष सहयोगी वर्ग प्रति-क्रान्ति (Counter-revolution) न कर दे। यह समय सक्रमण काल (Transitional period) का समय होगा। इस समय मे क्योकि एकदम पूर्ण साम्यवाद स्थापित नही हो पायगा अत सर्वहारा वर्ग को कुछ महत्वपूर्ण कार्य करने पडेंगे। सबसे पहिली बात तो यह होगी कि राजसत्ता पर सर्वहारा वर्ग का एकछत्र राज्य स्थापित किया जाए, इसके पश्चात् सर्वहारा वर्ग शेष बचे हुए पूंजीपति वर्ग का दृढता तथा कठोरता के साथ उन्मूलन करे तथा उनकी सम्पत्ति जब्त की जाए, क्रान्ति-विरोधी वर्ग का दमन किया जाए, चारों ओर आतक और भय का वातावरण बना दिया जाए, स्वतन्त्रता समाप्त की जाए, प्रकाशन और मुद्रण पर राज्य अधिकार करे, सभी राजनीतिक दलो को प्रतिबन्धित किया जाए, केवल साम्यवादी दल ही बचे जो कार्य करे। कल कारखानो पर राज्य का अधिकार हो, सभी नागरिकों तथा बच्चों को साम्यवाद की शिक्षा दी जाए। साम्यवादी व्यवस्थाओं का पालन कराया जाए। सक्रमण काल मे सभी व्यवस्था तथा शक्ति राज्य के हाथो म केन्द्रित रहे।

साम्यवाद की स्थापना

सक्रमण-काल सदैव के लिए नही होगा, और न राज्य स्थायी ही रहेगा। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होने के पश्चात् राज्य धीरे-धीरे स्वत समाप्त हो जाएगा। पूर्ण साम्यवाद की स्थापना के पश्चात् राज्य की कोई उपयोगिता शेष ही नहीं रहेगी और फिर राज्य तो सदैव ही "एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर दबाव डालने का एक साधन रहा है", अत जब वर्ग ही नही बचेंगे और समाज मे केवल एक ही वर्ग रहेगा तब राज्य के रहने का प्रश्न ही नही रहेगा। ऐंजिल्स के अनुसार, "ज्यो ही स्वतन्त्रता की सम्भावना होगी राज्य अपने अस्तित्व का अन्त कर देगा।" (When it becomes possible to speak of Freedom, the State as such shall cease to exist) पूर्ण साम्यवाद की स्थापना होते ही राज्य-विहीन और वर्ग-विहीन समाज स्थापित होगा। जाति, धर्म, रग, आदि के आधार पर मानव-मानव मे अन्तर नहीं रहेगा। सभी लोग आवश्यक परिश्रम करेंगे, व्यक्तिगत सम्पत्ति का सचय नही होगा। उत्पादन सामाजिक आवश्यक-

ताओं की पूर्ति के लिए किया जाएगा, व्यक्तिगत लाभ के लिए नही। आर्थिक असमानता नही रहेगी, ऐसे समाज मे "लोग अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करेंगे और आवश्यकतानुसार प्राप्त करेंगे।" (From each according to his ability, to each according to his necessities.)

साम्यवाद का राज्य सम्बन्धी दृष्टिकोण

मार्क्स का राज्य सम्बन्धी दृष्टिकोण राज्य के परम्परावादी दृष्टिकोण से भिन्न है। राज्य के सम्बन्ध मे परम्परावादी विचार यह है कि राज्य एक उपयोगी और आवश्यक सस्था है। पर मार्क्स का कथन इसके विपरीत है, उसका राज्य विषयक सिद्धान्त इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की एक उपसिद्धि है। साम्यवाद का राज्य विषयक दृष्टिकोण ऐंजिल्स के इस कथन मे स्पष्टतः प्रगट होता है कि राज्य "एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग के दमन के लिए एक यन्त्र मात्र है।"[8] मार्क्सवाद के अनुसार राज्य वर्ग-सघर्ष को बढाता है; यह सदैव ही शक्तिशाली वर्ग के हाथों का शस्त्र रहा है जिसका प्रयोग वे असहाय और कमजोर वर्ग के शोषण के लिए करते है। राज्य का कार्य शासक वर्ग (पूंजीपति वर्ग) के हितो की रक्षा, उनकी सम्पत्ति का सरक्षण और उनके हितो का सम्पादन करना है। इसके लिए वह शेष सभी वर्गों का शोषण करता है और उनको बलात् दबाकर रखता है। राज्य एक वर्ग की सस्था है। राज्य के कानून मजदूर विरोधी और पूंजीपति समर्थक होते हैं। इस प्रकार राज्य एक दमनकारी सस्था है। साम्यवादी राज्य और सरकार मे कोई भेद नही करते। राज्य के भविष्य के सम्बन्ध मे मार्क्स का मत था कि साम्यवाद की स्थापना के साथ ही राज्य समाप्त हो जाएगा, साम्यवादी समाज मे राज्य को कोई स्थान नही होगा।

उपरोक्त मत मार्क्स और उसके साथी ऐंजिल्स का है। इसमे लेनिनवाद के साम्यवादियों ने परिवर्तन किया है। इनका विचार है कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के पश्चात् राज्य तो समाप्त नही होगा पर उसका वर्गीय रूप (जो पूंजीपति समर्थक था) समाप्त हो जायगा अर्थात् साम्यवाद की स्थापना के साथ ही राज्य किसी एक वर्ग का न होकर सम्पूर्ण समाज का होगा और इस प्रकार वह सम्पूर्ण जनता का हो जायगा। लेनिन का वह कथन जिसे अनेक स्थान पर उद्धृत किया गया है राज्य के सम्बन्ध मे काफी व्यावहारिक है। उसका कहना है कि "हम कल्पनावादी नही हैं। हम जानते हैं कि समाज मे अपराधी और दुष्ट प्रकृति के लोग सदैव वर्तमान रहेंगे और उनके नियन्त्रण के लिए राज्य की सदैव आवश्यकता पड़ेगी।" अतः आज का साम्यवाद राज्य के स्वरूप मे परिवर्तन का समर्थक है, उसे समाप्त करने का नहीं।

[8] "Nothing more than a machine for the oppression of one class by another." —Engels

साम्यवाद और प्रजातन्त्र

साम्यवाद प्रजातन्त्र-विरोधी है, इसकी सामान्य प्रवृत्ति और इसकी सम्पूर्ण कार्य-पद्धति प्रजातन्त्र के विपरीत है। प्रजातन्त्र वर्ग-संघर्ष में विश्वास नहीं करता और न उसमें सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का ही प्रश्न उपस्थित होता है। साम्यवाद इन दोनों को स्वीकार करके चलता है। प्रजातन्त्र एक ऐसी व्यवस्था और पद्धति है जिसमें सभी को पूर्ण स्वतन्त्रता और अधिकारों की प्राप्ति होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है, पर साम्यवाद प्रजातन्त्र की मान्यताओं को धोखा मानता है। साम्यवाद एक क्रान्तिकारी आन्दोलन है जो अनेक व्यवस्थाओं को तोड़ना चाहता है। इसमें प्रजातन्त्रीय व्यवस्थायें भी सम्मिलित हैं। साम्यवादियों का ऐसा विचार है कि पूंजीवादी देशों में वास्तविक प्रजातन्त्र है ही नहीं, प्रजातन्त्र का सही स्वरूप तो साम्यवादी देशों में ही मिलता है, वे अपने प्रजातन्त्र को श्रमजीवी प्रजातन्त्र कहते हैं। पूंजीवादी देशों में पूंजीपति मजदूरों का शोषण करते हैं, वे राजसत्ता का प्रयोग अपने हित में और मजदूरों के विरोध में करते हैं। आर्थिक विषमता के कारण स्वतन्त्रता का पूरा उपभोग पूंजीपति ही कर पाते हैं। ऐसी व्यवस्था में गरीबी और बेकारी बहुत अधिक होती है। जनता को मताधिकार प्राप्त होता है जिसका प्रयोग वे चार अथवा पांच वर्ष के पश्चात् निर्वाचन में करते हैं, पर वे उसका भी प्रयोग भली प्रकार नहीं कर पाते, कारण, पूंजीपति पैसा देकर मत खरीद लेते हैं। साम्यवादियों का विचार है कि सच्चा प्रजातन्त्र साम्यवादी समाज की स्थापना के समय ही स्थापित हो सकता है।

यह एक मूलभूत प्रश्न है कि क्या साम्यवादियों का प्रजातन्त्र वास्तविक प्रजातन्त्र है ? इसका उत्तर न में है, कारण, तथ्यों को देखने पर मालूम पड़ता है कि साम्यवाद प्रजातन्त्र विरोधी है, साम्यवाद स्वयं अपनी व्यवस्था को प्रजातन्त्रीय व्यवस्था विश्व को धोखा देने के लिए और जनमानस को भ्रम में डालने के लिए कहता है। साम्यवाद प्रजातन्त्र की मूल अवधारणा से पृथक् तानाशाही प्रवृत्ति की पद्धति को स्वीकार करता है। सोवियत रूस और चीन इसके उदाहरण हैं। वे सर्वसत्ताधारी और निरंकुश राज्य हैं। साम्यवाद राजनीतिक स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं करता, कम्युनिस्ट पार्टी के अतिरिक्त किसी भी अन्य राजनीतिक दल को संगठित नहीं किया जा सकता, पार्टी की नीतियों और कार्यक्रमों का विरोध नहीं किया जा सकता, कोई भी व्यक्ति या दल वैकल्पिक सरकार के रूप को विकसित करने के लिए कार्य नहीं कर सकता। साम्यवाद विरोधी राजनीतिक दल के अस्तित्व को सहन नहीं कर सकता। सोवियत रूस तथा चीन में प्रस्थापित साम्यवादी सरकार को बदलने के कोई भी शान्तिपूर्ण माध्यम जनता को प्राप्त नहीं हैं, जनता को व्यवहार में किसी भी प्रकार के अधिकार प्राप्त नहीं हैं, अन्त सत्ता-संघर्ष में षड्यन्त्र, छल, कपट, हत्यायें और शक्ति-प्रयोग आदि की बहुलता है, ये सभी प्रजातन्त्र-विरोधी तरीके हैं।

साम्यवाद की यह प्रवृत्ति रही है कि वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हावी होना

चाहता है। साहित्य, कला, विज्ञान, आचार-शास्त्र आदि सभी पर वह अपनी मान्यताओं को थोपना चाहता है। यह प्रजातन्त्र-विरोधी प्रवृत्ति है। प्रजातन्त्र व्यक्ति के मूल्य और उसके गौरव में विश्वास करता है। वह विचार-स्वातन्त्र्य और धर्म-स्वातन्त्र्य को स्वीकार करता है। साम्यवाद इन दोनों का विरोधी है। साम्यवाद के सिद्धान्त और उसकी कार्य-पद्धति रचनात्मक और प्रजातन्त्रीय नहीं हैं। इसके विपरीत वह विध्वंसात्मक विचारधारा है जिसका मानवीय और प्रजातन्त्रीय विचारों से कोई मेल नहीं, जो रचनात्मक आलोचना को भी सहन नहीं कर सकती। तभी तो प्रोफेसर कैरिव हण्ट (Carew Hunt) ने साम्यवाद को संसार की सबसे अधिक विध्वंसक शक्ति कहा है। अतः प्रजातन्त्र रचनात्मक पद्धति है जबकि साम्यवाद विध्वंसक शक्ति। दोनों एक दूसरे से पृथक् और अलग मान्यताएँ हैं।

साम्यवाद क्रान्ति में विश्वास रखता है, मार्क्स के दर्शन का झुकाव संघर्ष और क्रान्ति की ओर है। इसके लिए वे श्रमजीवी वर्ग को संगठित करते हैं, वर्ग-संघर्ष के भाव को जागृत करते हैं, वर्तमान व्यवस्था के प्रति असन्तोष पैदा करते हैं और क्रान्ति करने का आह्वान करते हैं, लोगों की भावनाओं को उभाड़कर उनका उपयोग साम्यवाद की स्थापना में करते हैं। ये सभी प्रयत्न और विचार प्रजातन्त्रीय प्रणाली से मेल नहीं खाते, ये मूलतः नकारात्मक दृष्टिकोण के परिणाम हैं। प्रजातन्त्र सकारात्मक दृष्टिकोण है।

लेनिन द्वारा मार्क्सवाद में संशोधन

लेनिन सोवियत रूस में ज़ारशाही के विरुद्ध हुई बोल्शेविक क्रान्ति का नेता और आधुनिक रूस का प्रमुख निर्माता था। वह सोवियत रूस का निवासी था। उसने मार्क्सवाद का अध्ययन पन्द्रह वर्ष की अवस्था से ही प्रारम्भ किया तथा उसी उम्र में वह क्रान्तिकारी दल से सम्बन्धित हो गया। वैसे तो वह स्वयं क्रान्तिकारी था ही, पर 1887 में लेनिन के सबसे बड़े भाई को ज़ार अलेक्जेण्डर तृतीय की हत्या करने के षड्यन्त्र में—जो असफल रहा—गिरफ्तार करके मृत्युदण्ड दिया गया। इस घटना का उसके जीवन पर निर्णायक और स्थायी प्रभाव पड़ा तथा वह ज़ार का कट्टर विरोधी हो गया।

लेनिन ने मार्क्सवाद को भली प्रकार समझा और अपना सम्पूर्ण जीवन उसके अनुसार क्रान्ति करने और उसे व्यवहार रूप देने में लगाया। उसका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली और चमत्कारपूर्ण था कि उसने यह सब कुछ सम्भव कर दिया। लेनिन ने मार्क्सवाद की नयी क्रान्तिकारी व्याख्या की, परिवर्तित परिस्थितियों में उसकी उपयोगिता को सिद्ध किया, उसे नया रूप और नयी सज्जा दी, उसे गतिशील बनाया तथा इससे भी अधिक उसे लड़ाकू तथा क्रान्तिकारी संगठन का उचित आधार बनाया।

अपने इस ऐतिहासिक और महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पादित करते हुए लेनिन ने मार्क्सवाद में कुछ आवश्यक संशोधन और परिवर्तन उपस्थित किये जो महत्त्वपूर्ण

हैं। इसका मूल कारण यह है कि लेनिन ने सिद्धान्तों को निर्जीव नियमों का संकलन नहीं अपितु प्रेरक विचारों का संकलन माना है, जैसा कि सेबाइन का विचार है कि "*लेनिन सिद्धान्त को सदैव ही कार्य का पथ-प्रदर्शक मानता था। वह कुछ गतिहीन नियमों का संकलन नहीं है, बल्कि प्रेरणाप्रद विचारों का संकलन है। वह यथार्थ* परिस्थितियों के मूल्यांकन में प्रयुक्त होता है तथा व्यवहार में आवश्यकतानुसार उसे संशोधित किया जा सकता है। मार्क्सवाद के मूल सिद्धान्तों को लेकर लेनिन का अपने अनुयायियों से अनेक बार तीव्र मतभेद हुआ और वह उन्हें ऐसे रास्तों पर ले गया जो मार्क्सवादी सिद्धान्तों की दृष्टि से संगत नहीं थे। लेनिन का रूढ़िवाद, करनी की अपेक्षा कथनी के लिए अधिक था।"[9] लेनिन ने मार्क्सवाद में निम्नलिखित नयी बातों को जोड़ा :—

1. कार्ल मार्क्स ने इस विचार को पूर्ण विकसित नहीं किया कि पूंजीवाद की अन्तिम परिणति साम्राज्यवाद में होगी। इस विचार को लेनिन ने पूर्णतः विकसित किया। लेनिन ने अपनी पुस्तक **साम्राज्यवाद—पूंजीवाद की चरम अवस्था** में, जिसको उसने प्रथम बार 1916 में लिखा, इस बात को तार्किक आधार पर सिद्ध करने *का प्रयत्न किया है कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद की चरम अवस्था है। वह कहता है कि* "यदि साम्राज्यवाद की संक्षिप्ततम परिभाषा देना हो, तो हम कहेंगे कि पूंजीवाद की इजारेदारी वाली अवस्था का नाम साम्राज्यवाद है।" इस प्रकार की परिभाषा में सबसे महत्त्वपूर्ण बातों का समावेश हो जायेगा, क्योंकि एक ओर तो, जब थोड़े से बहुत बड़े-बड़े इजारेदार बैंकों की पूंजी उद्योगपतियों के इजारेदार संघों की पूंजी के साथ मिल जाती है, तो वह वित्तीय पूंजी बन जाती है, और दूसरी ओर, दुनियां का विभाजन उस औपनिवेशिक नीति से, जो अबाध रूप से उन प्रदेशों में प्रचलित रही है जिन्हें किसी पूंजीवादी सत्ता ने अपने अधिकार में नहीं लिया, दुनिया के उस हिस्से के इजारेदारी अधिकार की औपनिवेशिक नीति में संक्रमण है, जिसका पूर्ण *रूप से बंटवारा किया जा चुका है।*

साम्राज्यवाद पूंजीवाद के विकास की वह अवस्था है जिसमें पहुंचकर इजारेदारियों तथा वित्तीय पूंजी का प्रभुत्व दृढ़ रूप में स्थापित हो चुका है।[10]

साम्राज्यवाद सदैव युद्ध और संघर्ष को जन्म देता है, यह राजनीतिक और जातीय स्वतन्त्रता को समाप्त करता है और प्रभुत्व स्थापित करने की बलात् चेष्टा करता है। पहले तो स्वयं साम्राज्यवादी देश में ही संघर्ष होता है, फिर यह संघर्ष बढ़ते-बढ़ते इतना अधिक हो जाता है कि पूंजीवादी और साम्राज्यवादी देशों में परस्पर होड़ होने लगती है, जिसके कारण विश्वयुद्ध तक हो जाते हैं। लेनिन के अनुसार, "साम्राज्यवाद वित्तीय पूंजी तथा इजारेदारियों का युग है, जो हर जगह

[9] जार्ज एच० सेबाइन, *राजनीति-दर्शन का इतिहास*, खण्ड 2, पृष्ठ 749।
[10] लेनिन, साम्राज्यवाद—पूंजीवाद की चरम अवस्था, पृष्ठ 109–110।

स्वतन्त्रता की चेष्टा को नही, बल्कि प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा को जन्म देता है। इन प्रवृत्तियों का परिणाम यह होता है कि हर क्षेत्र मे, राजनीतिक व्यवस्था कुछ भी हो, प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और इस क्षेत्र मे भी मौजूदा विरोध अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लेते हैं। जातीय उत्पीडन का भार तथा दूसरे के इलाके को अपने राज्य मे मिलाने की चेष्टा, अर्थात् जातीय स्वतन्त्रता का हनन (क्योंकि दूसरे के इलाके को अपने राज्य मे मिला लेने का अर्थ जातियों के आत्म-निर्णय के अधिकार के उल्लघन के अतिरिक्त और कुछ नही है) विशेष रूप से उग्र रूप धारण कर लेता है।[11]

लेनिन ने तर्कपूर्ण शैली मे साम्राज्यवाद का विश्लेषण करते हुए उसके तीन प्रमुख अन्तर्विरोधों को प्रस्तुत किया। प्रथम अन्तर्विरोध श्रम और पूंजी का है। साम्राज्यवाद मे एकाधिकारवादी सिण्डीकेटो, बैंको आदि की प्रमुखता रहती है, अतः मजदूर वर्ग के पास केवल दो ही मार्ग शेप रह जाते हैं—या तो वे सब कुछ सहन करें और चुप रहें अथवा सगठित हो और विद्रोह करें। द्वितीय अन्तर्विरोध यह है कि साम्राज्यवादी व्यवस्था मे विभिन्न औद्योगिक देशो के बीच प्रतियोगिता और अन्त मे सघर्ष (अपने-अपने हितों की रक्षा के लिए) होता है। प्रत्येक औद्योगिक दृष्टि से विकसित देश अपने माल की खपत के लिए उपनिवेश चाहता है, दूसरे देशो को गुलाम बनाता है। यह पारस्परिक प्रतियोगिता और सघर्ष युद्ध को जन्म देता है। साम्राज्यवाद का तृतीय अन्तर्विरोध यह है कि शोपक और शोपित देशो के बीच सघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। शोपित देश के निवासी अधिक समय अपना शोपण बर्दाश्त नही करते। उनमे राष्ट्रीय चेतना जागृत होती है और वे अपनी स्थिति को समाप्त करने के लिए तथा स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिए सघर्ष करते हैं।

2. कार्ल मार्क्स ने साम्यवाद के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को प्रगट किया। लेनिन ने साम्यवाद के इस रूप की राष्ट्रीय व्याख्या की। लेनिन का विचार था कि विश्व के सभी देशों मे पूंजीवाद का रूप समान नही है, अत. सभी देशों मे समाजवाद का भी विकास समान और एक ही स्थिति मे होना सम्भव नही है। स्वाभाविक रूप से समाजवाद का विकास असमान स्थिति मे होगा। इस स्थिति को स्वीकार कर उसने रूस में साम्यवादी क्रान्ति की जो अन्य देशो में साम्यवादी क्रान्तियों के लिए प्रेरक और शक्तिदायी सिद्ध हो सके। उसने एक देश में समाजवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

3. पूंजीवाद के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होने की बात मार्क्स ने कही थी, लेनिन ने इस स्थिति मे भी परिवर्तन किया। उसने यह विचार दिया कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के स्थान पर कम्युनिस्ट पार्टी—जो सर्वहारा

[11] वही, पृ० 151।

वर्ग की प्रतिनिधि पार्टी है—की तानाशाही स्थापित होगी। उसका विश्वास था कि कहीं भी कम्युनिस्ट पार्टी ही क्रान्ति ला सकेगी और यही सर्वहारा वर्ग की अगुआ और प्रतिनिधि पार्टी बन सकेगी। उसने दल के संगठन को अत्यन्त कठोर और अनुशासित रूप में रखने का विचार व्यक्त किया।

4. साम्यवादी दल के संगठन के सम्बन्ध में भी लेनिन के विचार मार्क्स से कुछ भिन्न थे। मार्क्स का विचार था कि समाजवादी दल में सम्पूर्ण संसार के मजदूर सम्मिलित होंगे। पर लेनिन ने उसे पेशेवर क्रान्तिकारियों का एक गुप्त संगठन बना दिया जिसका नेतृत्व कुछ चुने हुए नेताओं के हाथों में ही सुरक्षित रहा।

5. मार्क्स का ऐसा विचार था कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होने के पश्चात् राज्य धीरे-धीरे समाप्त हो जायगा, उसका लोप हो जायगा। यह सर्वहारा वर्ग की तानाशाही भी अल्प समय—संक्रमण काल—के लिए होगी। लेनिन ने इस विचार में इस तथ्य को जोड़ दिया कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होने पर राज्य समाप्त नहीं हो जायेगा पर स्वयं सर्वहारा अपनी कम्युनिस्ट पार्टी के माध्यम से शासन करेगा।

6. यह एक प्रमुख प्रश्न रहा है कि क्या सोवियत रूस ने 1917 में जब कि वहाँ ज़ार के विरुद्ध क्रान्ति हुई, उन सामान्य शर्तों को पूरा किया जिनका उल्लेख क्रान्ति के लिए अनिवार्य परिस्थितियों के रूप में मार्क्स ने किया है? इसका उत्तर यह है कि सोवियत रूस ने उन शर्तों को पूरा नहीं किया और न वे परिस्थितियाँ सोवियत रूस में मौजूद ही थीं। पर लेनिन ने इस बात पर जोर दिया है कि सोवियत रूस की क्रान्ति मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार ही हुई है। उसका कहना है कि सन् 1917 से पूर्व औद्योगिक संसार में जो आर्थिक एवं राजनीतिक विकास हुए उन्होंने किसी एक विशेष देश में, जहाँ पूँजीवादी शासन अत्यन्त अस्थिर दशा में था, सफल समाजवादी क्रान्ति के लिए मार्ग तैयार कर दिया।[12] लेनिन के अनुसार क्रान्ति की सफलता के लिए निम्न तीन बातें आवश्यक होती हैं, यथा—प्रथम, देश में आक्रमणशील और दृढ़प्रतिज्ञ क्रान्तिवादियों का एक सुसंगठित दल जो अपने लक्ष्य को भली भाँति समझता हो, दूसरे, यह दल अनिवार्यतः छोटा-सा हो, किन्तु उसे सामान्यतः जनता के सक्रिय असन्तोष का समर्थन प्राप्त हो; तीसरे, क्रान्ति ऐसे समय पर करनी चाहिए जबकि पुरानी व्यवस्था और शासन के समर्थक विभाजित एवं शक्तिहीन हों। सन् 1917 में रूस में ये सभी अवस्थायें मौजूद थीं।[13]

साम्यवादी सिद्धान्तों के विकास में लेनिन ने काफी कुछ किया। उसने

[12] फ्रांसिस डब्ल्यू० कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 172।
[13] वही।

साम्यवादियों की कार्य-विधि, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद, कम्युनिस्ट पार्टी, उसके संगठन, नीति और कार्य, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, वर्ग-संघर्ष, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या आदि के सम्बन्ध में काफी कुछ नवीन चिन्तन और नवीन दृष्टिकोण दिया।

जहां तक मार्क्सवाद के लिए लेनिन के योग की बात है, यह एक पृथक् प्रश्न है। इसके सम्बन्ध में अनेक विचार हैं। सेबाइन का कथन है कि "लेनिन ने मार्क्सवाद को विकृत कर दिया। मार्क्स का दावा था कि उसने हीगेल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को पैरों के बल खड़ा किया था। लेनिन के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि मार्क्सवाद को सर के बल खड़ा कर दिया। प्रथम, मार्क्स का विचार था कि आर्थिक व्यवस्था मनुष्य की इच्छा से स्वतन्त्र उत्पादन शक्तियों के आन्तरिक विकास के द्वारा विकसित होगी। लेनिन ने कहा, इसे मजदूरों की इच्छा के द्वारा और क्रमबद्ध आयोजन के द्वारा यूरोप के सबसे कम औद्योगिक देश में स्थापित किया जा सकता है। दूसरे, मार्क्स का विश्वास था कि मजदूर वर्ग की विचारधारा औद्योगिक समाज में उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति से निर्धारित होती है और मजदूर वर्ग अपने प्रयत्नों से ही मुक्तिलाभ करता है। लेनिन का मत था कि मजदूर वर्ग अपनी विचारधारा बाहर के मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की शिक्षा से प्राप्त करता है। तीसरे, मार्क्स के मत से समाजवादी दल में संसार भर के मजदूर शामिल होने हैं। लेनिन ने साम्यवादी दल को पेशेवर क्रान्तिकारियों का गुप्त संगठन बना दिया···चौथे, मार्क्स का विचार था कि पहले पूंजीवादी क्रान्ति होगी है जो राजनीतिक लोकतन्त्र की संस्थाओं का निर्माण करती है और इसके बाद सर्वहारा क्रान्ति होती है। लेकिन रूस में सर्वहारा क्रान्ति पूंजीवादी क्रान्ति के साथ ही साथ हुई ··अन्त में, मार्क्स का विचार था कि सफल क्रान्ति लोकतन्त्रात्मक गण-राज्य की नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रताओं को कायम करेगी और उनका विकास करेगी। लेकिन लेनिन के नेतृत्व में रूस में एक दल का अधिनायकवाद स्थापित हुआ और उसने किसी दूसरे दल का अस्तित्व तक सहन करना अस्वीकार किया। सीधी-सी बात यह है, और इसके लिए किसी द्वन्द्वात्मक व्याख्या की आवश्यकता नहीं है, कि लेनिन मार्क्सवाद की रूढ़ियों को निष्ठा से स्वीकार करता था। लेकिन जब इन रूढ़ियों का व्यावहारिकता से संघर्ष हुआ तो लेनिन ने उन्हें त्याग दिया। लेनिन के सूत्र मार्क्स के सूत्र रहे, लेकिन लेनिनवाद का अर्थ मार्क्सवाद के अर्थ से बहुत दूर हट गया।"[14]

लेनिन के अतिरिक्त साम्यवाद के विचार और दर्शन को स्टालिन और उसके बाद रूस के अन्य अधिनायकवादियों ने काफी योग दिया।

[14] जार्ज एच० सेबाइन, राजनीति-दर्शन का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 790।

ग्रालोचना

साम्यवादी विचारधारा ऊपर से दीखने में जितनी आकर्षक है, अपने वास्तविक रूप मे उतनी ही त्याज्य है। यह विचारधारा थोथे दार्शनिक चिन्तन, भ्रामक निष्कर्षों, गलत प्रयोगो तथा उत्तेजक और इनके राजनीतिक नारो से भरी पडी है। इसके तर्क सतही और इसका रूप आक्रामक है। यह ग्रमानवीय, अव्यावहारिक और सर्वसत्तावादी विचारधारा है। इसकी आलोचना अनेक दृष्टियों से की गई है। कुछ प्रमुख आलोचनायें निम्न हैं —

1 *मार्क्स के दर्शन का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है।* द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अपने आप मे अस्पष्ट और थोथी दार्शनिक मान्यता है। स्वय मार्क्स ने इसका पूर्ण और आवश्यक विवेचन नहीं किया है। वेपर का कहना है कि "द्वन्द्ववाद की धारणा अत्यन्त गूढ और अस्पष्ट है। इसको मार्क्स ने कही पर भी स्पष्ट नही किया है।"[15] प्रश्न यह है कि पदार्थ किस प्रकार गतिशील बनता है, *मार्क्स ने यह बतलाने का प्रयत्न ही नहीं किया। मार्क्स का दर्शन जडवादी है,* अत उसके दर्शन के साथ जडवादी दर्शन की सभी मूलभूत गलतियाँ जुडी हुई हैं। मार्क्स आत्मा अथवा चेतना को नही मानता, अत प्रश्न यह है कि पदार्थ को सक्रिय कौन करता है ? मार्क्स का विचार है कि पदार्थ अपनी स्वय की चेतना के कारण विरोधी तत्त्व को जन्म देता है, पर यह कथन गलत है। पदार्थ में स्वय चेतना नहीं होती, उसमें परिवर्तन बाह्य शक्तियो के द्वारा किये जाते हैं, वह स्वय चाहे तो अपने स्वरूप को नही बदल सकता। सोना सोना और चाँदी चाँदी ही रहेगी, उसमे वे स्वय कोई परिवर्तन नही ला सकते।

(2) *द्वन्द्ववाद को मार्क्स तथा लेनिन भी विश्व के विकास का कारण* मानते हैं, पर विश्व के विकास को समझने के लिए यही एकमेव आधार नही है। केरिव हण्ट (Carew Hunt) का यह कथन सत्य है कि "यद्यपि द्वन्द्ववाद हमें मानव विकास के इतिहास मे मूल्यवान् भ्रान्तियों का दिग्दर्शन कराता है, परन्तु मार्क्स का यह दावा स्वीकार नही किया जा सकता कि सत्य का अनुसन्धान करने के *लिए यही एकमात्र पद्धति है।*"[16]

(3) मार्क्स का 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' (Materialistic Interpretation of History) का सिद्धान्त मूल रूप मे अपूर्ण और भ्रामक है।

[15] "Not the least of the difficulties that confront the student of dialectical materialism is that Marx and Engels never worked out their ideas about it Nowhere do they treat it in detail, though it is of course assumed in all their writings." —C L. Wayper, *Political Thought*, p 201.

[16] "*The dialectic may give us valuable insight into the history of* human development, the Marxist claim that it constitutes the only scientific approach to reality cannot be allowed" —Carew Hunt, *Theory and Practice of Communism* p 29

वेपर ने तो इस पर एक मौलिक आपत्ति उठाई है। उसका विचार है कि "इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के अन्तर्गत मार्क्स ने जो बात कही, है उसके पीछे यह नाम भ्रमपूर्ण है। इस सिद्धान्त को भौतिकवाद नही कहा जा सकता, क्योंकि भौतिक शब्द का अर्थ चेतनाहीन पदार्थ से होता है जब कि इस सिद्धान्त मे मार्क्स चेतनाहीन पदार्थ की कोई बात नही कहता है।"[17] यदि इस बात को छोड भी दिया जाए तो भी ऐसे अनेक तथ्य हैं जो मार्क्स की व्याख्या के विपरीत पडते हैं। ऐसा लगता है कि जैसे मार्क्स ने इतिहास की कुछ अनुकूल घटनाओं को लेकर यह सिद्धान्त बनाया हो। इतिहास की प्रत्येक घटना के पीछे आर्थिक कारण नही हुआ करते। मानव इतिहास का विकास इतना सरल और एक ही प्रकार से नहीं हुआ है कि उसके विकास की व्याख्या केवल एक ही तत्त्व के आधार पर की जा सके। इतिहास की घटनायें अनेक तत्त्वो से प्रभावित होती हैं। इतिहास की घटनाओ के पीछे धर्म, राजनीति, राष्ट्रीयता, व्यक्तिगत रागद्वेष का विचार आदि अनेक कारण रहे हैं। परिवर्तनो के पीछे कभी कोई एक निश्चित कारण नही होता। उनके पीछे अनेक कारण होते हैं। ऐसी कई ऐतिहासिक घटनायें हैं जिनके पीछे आर्थिक कारणों को खोज पाना कठिन है। मराठों के पतन मे, भारत विभाजन मे, अरब-इजराइल युद्ध मे, तथा मेवाड की रक्षा के लिए व राजस्थान की रक्षा के लिए किए गए अगणित बलिदानो के पीछे कौनसा आर्थिक कारण था ? गुरु गोविन्द-सिह के दोनो बच्चो ने अपने आप को दीवार मे जिन्दा चुनवा दिया इसमें कौनसा आर्थिक कारण था ? सच बात तो यह है कि मार्क्स ने विश्व इतिहास का सीमित अध्ययन किया तथा सिद्धान्त-निर्धारण मे अनावश्यक जल्दबाजी की, अतः उसका सिद्धान्त अनेक दोषो से पूर्ण हो गया।

(4) मार्क्स का वर्ग-सघर्ष का सिद्धान्त भ्रामक है। इसके अनेक कारण हैं। उनमे निम्न प्रमुख हैं :—

(i) किसी भी समाज मे वर्गो का होना स्वाभाविक और प्राकृतिक है। वर्ग-विहीन समाज का विचार एक 'निरर्थक कल्पना' है। साथ ही वर्ग-सघर्ष का चिन्तन विकृति का द्योतक है।

(ii) मार्क्स ने समाज मे केवल दो वर्ग माने हैं, पर समाज मे केवल दो वर्ग ही नही होते, समाज मे एक तीसरा वर्ग भी होता है, और वह है मध्यम वर्ग। इस वर्ग का विचार उसके समकालीन लेखको ने किया पर मार्क्स ने मध्यम वर्ग के अस्तित्व को स्वीकार नही किया। यह उसके सिद्धान्त की बहुत बडी कमजोरी है। वकील, इजीनियर, डॉक्टर, प्रोफेसर, आदि न तो बुर्जुआ वर्ग मे आते हैं और न सर्वहारा वर्ग मे ही आते हैं, ये निश्चित रूप से मध्यम वर्ग मे आते हैं। इस वर्ग का स्वरूप, इसकी समस्याएँ और आवश्यकताएँ दोनों वर्गों से भिन्न और पृथक् हैं

[17] Wayper, *Political Thought*, p 203

और फिर मार्क्स ने जिन दो वर्गों का उल्लेख किया है उनकी कोई सुनिश्चित और सुस्पष्ट परिभाषा नहीं दी है, अतः प्रसिद्ध विचारक सोरेल (Sorel) मार्क्सवादी वर्ग को 'एक अमूर्त कल्पना' मानता है।

(iii) मार्क्स की एक बुनियादी गलती यह भी थी कि उसने सामाजिक वर्गों और आर्थिक वर्गों को एक माना। ऐसा उसने केवल इस कारण किया कि वह वर्ग की अपनी धारणा को सही बतला कर उसका प्रयोग राजनीतिक दृष्टि से करे, पर उसका यह प्रयत्न अनेक त्रुटियों का कारण बना।

(iv) मार्क्स यह भी कहता था कि छोटे-छोटे बुर्जुआ मजदूर वर्ग में आकर मिल जावेंगे पर उसका यह कथन गलत सिद्ध हुआ।

(v) समाज का विकास वर्ग-संघर्ष से नहीं अपितु वर्ग-सहयोग से होता है। समाज-रचना में प्रत्येक वर्ग का अपना विशिष्ट स्थान होता है। प्रत्येक वर्ग में सामाजिकता की भावना रहती है। इसी भावना के कारण समाज अपना विकास करता है। जीवन का नियम संघर्ष नहीं सहयोग है। समाज में प्रत्येक वर्ग एक दूसरे का पूरक है, परस्परावलम्बी है, परस्पर-विरोधी नहीं है।

(vi) वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए मार्क्स ने कहा था कि इससे पूंजीवाद का नाश होगा और अन्त में साम्यवादी वर्ग-विहीन तथा राज्य-विहीन समाज की स्थापना होगी पर ऐसा कुछ हुआ नहीं और न होने की सम्भावना ही है, कारण, एक तो इस कथन का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है और, दूसरे, पूंजीवाद ने परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढालने के गुण विकसित कर लिए हैं। इसके अतिरिक्त इस बात को मानने का भी कोई तर्कसंगत कारण नहीं है कि सभी स्थानों पर (देशों में) वर्ग-संघर्ष का एक जैसा ही परिणाम निकलेगा।

(5) 'अतिरिक्त मूल्य' के सिद्धान्त का महत्त्व आर्थिक होने की अपेक्षा राजनीतिक नारे और दांव के रूप में अधिक है। मार्क्स श्रम पर अधिक जोर देता है, पर श्रम के साथ पूंजी भी आवश्यक है। जिस प्रकार बिना श्रम के माल नहीं बनता, उसी प्रकार बिना पूंजी के भी माल नहीं बनता। पूंजी तथा श्रम का सम्बन्ध प्रकृति और पुरुष जैसा है।

अतिरिक्त-मूल्य व्यापार और उद्योग का मूल है। चाहे व्यापार व्यक्ति करे अथवा राज्य, 'अतिरिक्त-मूल्य' का विचार तो उसे करना ही पड़ेगा, यह व्यापार की प्रेरणा है।

जहाँ तक अतिरिक्त-मूल्य पर मजदूरों के अधिकार की बात है, आज सभी जगह बोनस देने की व्यवस्था है। इस प्रथा में मजदूरों के अधिकार की स्वीकृति है।

(6) साम्यवाद राज्य को अस्थायी संगठन मानता है। मार्क्स का विचार था कि सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होने के पश्चात् राज्य स्वतः धीरे-धीरे समाप्त हो जायेगा और तब राज्यविहीन समाज स्थापित होगा पर मार्क्स के इस

कथन और विश्वास को स्वय उसके अनुयायियो ने झुठला दिया। रूस मे क्रान्ति होने के पश्चात् आज तक राज्य कायम है, वह समाप्त नही हुआ, उल्टे लेनिन का कहना था कि हम कोई कल्पनावादी नही हैं जो राज्य को समाप्त कर दें, हाँ, उसके स्वरूप को अवश्य बदला जायेगा। ऐसा कहकर लेनिन ने मार्क्सवाद की कमजोरी और असफलता को ही सिद्ध किया।

(7) मार्क्सवाद वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाज की स्थापना का विचार करता है, पर उसका यह विचार असत्य निकला। वस्तुतः ऐसा सोचते समय वह स्वय कल्पनावादी समाजवादियों की श्रेणी मे चला जाता है।

(8) मार्क्स धर्म की आलोचना करता है, वह धर्म को अफीमी नशा तक कहता है। ऐसा कहने पर उसका अज्ञान और उसका तुच्छ आक्रामक भाव स्पष्टतः दीख पडता है। उसके पास उस दृष्टि का अभाव था जिसके द्वारा वह धर्म के सत्य स्वरूप को समझ पाता। धर्म वह नही है जो मार्क्स या उसके समर्थक कहते हैं, धर्म वह भी नही है जिसका सम्बन्ध मन्दिर, मस्जिद या गिरजाघर से है। मन्दिर आदि तो उपासना के केन्द्र हैं। उपासना व्यक्ति के धर्म का एक अग हो सकती है सम्पूर्ण धर्म नही। धर्म जीवन के सम्पूर्ण पहलुओं से सम्बन्ध रखता है, वह सम्पूर्ण समाज का भी विचार रखता है। जिससे धारणा होती है वह धर्म है। धर्म से व्यक्ति की, समाज की और सम्पूर्ण सृष्टि की धारणा होती है। 'धारणेति धर्मः' ऐसा कहा गया है। धर्म मानव-जीवन के तात्त्विक आधार का नाम है। इस रूप मे हम धर्म से विमुख हो ही नही सकते, उससे विमुख होने का तात्पर्य मानवीय मूल्यो से गिरना है। धर्म मानव-जीवन मे उदात्त, व्यापक विचारों को और समाजोन्मुख भावो को विकसित करता है, व्यक्ति को कर्तव्योन्मुखी बनाता है। धर्म के विचार को समाप्त नही किया जा सकता।

जहाँ तक उपासना-पद्धति का प्रश्न है, साम्यवाद उसे भी समाप्त नही कर सका और न कर सकता है। वह भी उतनी ही स्वभावगत और निसर्गगत है जितना व्यक्ति का सोचना और कार्य करना। एक असीम सत्ता के प्रति अपने भावों को व्यक्त करने के अनेक प्रकार हैं। ये ही उपासना-पद्धतियाँ हैं। अलेक्सेई पूजिन की पुस्तिका सोवियत सघ में धर्म[18] के प्रथम परिच्छेद का नाम ही "धार्मिक स्वाधीनता का अधिकार छीना नही जा सकता" है। इसको पढने से स्पष्टतः यह बात समझ मे आ जाती है कि इतना प्रयत्न करने पर भी आज भी सोवियत रूस मे धर्म तथा उपासना पद्धतियों को समाप्त नही किया जा सका, उल्टा उनके साथ साम्यवादी शासन सामजस्य स्थापित करना चाहता है। हैलोवल जैसे विचारक का तो यहाँ तक कहना है कि

[18] सोवियत भूमि पुस्तिका, 1968, सम्पादक जी० एल० बोलोकोलोव, सोवियत सघ के भारत स्थित दूतावास के सूचना विभाग के लिए ए० पी० म्लादीमिरोव द्वारा प्रकाशित।

"मार्क्सवाद सिद्धान्ततः धर्म को अस्वीकार करता है, पर व्यवहार में जो तीव्र भावना मार्क्सवाद के पीछे कार्य करती है, उसकी प्रकृति भी धार्मिक (सी) ही है।'''मार्क्सवाद मानव पाप की समस्या के गलत विश्लेषण का शिकार हो गया है।'''मार्क्सवाद के अपने सिद्धान्त हैं, अपने पुरोहित वर्ग और अपने कर्मकाण्ड हैं तथा अपने पाप-मोचन अनुष्ठान हैं। मार्क्सवाद भ्रष्ट आदर्शवाद है।"

(9) साम्यवाद व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का विरोधी है, वह रोटी की भूख को मिटाने के नाम पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता को समाप्त करता है। रोटी की भूख तो मिटती नहीं, हाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता अवश्य समाप्त हो जाती है। साम्यवाद में सबसे अधिक अपमानजनक और निन्दनीय बुराई यह है कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को *समाप्त करता है और स्वयं की रचनात्मक आलोचना को भी सहन नहीं कर सकता* और जिस व्यवस्था को वह बलात् कार्यान्वित करना चाहते हैं यदि उसका किसी ने किंचित् मात्र भी विरोध किया या उसमें सुधार के सुझाव दिये तो साम्यवादी शासन उसे तुरन्त ही साम्यवाद-विरोधी, बुर्जुआवादी अथवा संशोधनवादी करार करके जेल में डाल देता है, और फिर उसके जीवन का क्या होगा यह कोई भी नहीं कह सकता। आज भी सोवियत रूस की जेलों में अन्य लोगों के अलावा यूली डेनियल, सिन्यावस्की, गिंसबर्ग तथा अन्य सोवियत लेखक कैद हैं। इनका अपराध यह है कि इन्होंने सोवियत रूस की साम्यवादी व्यवस्था को आँख मींच कर स्वीकार *नहीं किया।*

जहाँ तक व्यक्ति-स्वतान्त्र्य की बात है अनेक सोवियत नागरिक यूरोप के जनतन्त्रप्रिय देशों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का उपभोग करने के लिए शरण लेते हैं। स्वयं स्टालिन की पुत्री श्रीमती स्वेतलाना ने अमेरिका में शरण ली है। यह सब इस कारण कि वहाँ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नाम की कोई चीज नहीं है।

(10) मार्क्सवाद सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की बात कहता है, पर यह तानाशाही एक सत्तात्मक और जनतन्त्र-विरोधी स्थिति है। मार्क्स यह अवश्य कहता है कि यह संक्रमणकालीन व्यवस्था है, पर उसका यह कथन काफी भ्रामक है। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के पश्चात् वर्ग-विहीन और राज्य-विहीन समाज की बात सोचना मृगमरीचिका है। सत्ता हथियाने के बाद सहज यों ही उसे त्यागा नहीं जाता।

(11) मार्क्स हिंसा पर जोर देता है, पर हिंसक प्रयत्नों के कारण न तो समाज में स्थायी परिवर्तन लाया जा सकता है और न स्थायी सुधार ही किये जा सकते हैं। इसके विपरीत हिंसा व्यक्ति की पाशविक वृत्ति को जागृत करती है एवं प्रतिहिंसा को जन्म देती है। यही कारण है कि आज सोवियत रूस में जितने भी परिवर्तन तथा सत्ता के लिए संघर्ष हुए हैं वे सब हत्या, षड्यन्त्र और जासूसी के माध्यम से हुए हैं, शान्त और प्रगट तथा प्रजातान्त्रिक तरीके से नहीं हुए।

(12) साम्यवाद राज्य को वर्ग-सगठन मानता है पर यह सत्य नहीं है। राज्य सभी का प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार पूंजीपतियों के विरुद्ध मजदूरों को सगठित होने के लिए आह्वान देते हुए मार्क्स कहता है कि अन्तिम विजय मजदूरों की ही होगी पर इसकी क्या गारन्टी ?

सहायक पुस्तकें

Burns — *What is Marxism ?*
H. J. Laski — *Communism*
Marx and Engels — *Manifesto of the Communist Party*
C. L. Wayper — *Political Thought*
Popper — *Open Society and its Enemies*
Schumpter — *Capitalism, Socialism and Democracy*
जार्ज एच० सेबाइन — राजनीतिक विचारों का इतिहास, भाग २
फ्रान्सिस डब्ल्यू० कोकर — आधुनिक राजनीतिक चिन्तन
कार्ल मार्क्स — पूंजी, भाग एक
ई० रव्ल्याविच — दर्शन के इतिहास की रूपरेखा
लेनिन — साम्राज्यवाद—पूंजीवाद की चरम अवस्था
जवाहरलाल नेहरू — विश्व इतिहास की झलक, भाग दो

9

अराजकतावाद

(Anarchism)

अराजकतावाद एक ऐसी विचारधारा है, जिसके आदर्श को कदाचित् ही साकार किया जा सके, पर जो राज्य के औचित्य और उसकी वाञ्छनीयता से असहमति और अस्वीकृति के रूप में अति प्राचीनकाल से प्रभावशाली रही है।

अराजकता (एनार्की) शब्द की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के शब्द 'अनार्किया' (Anarchia) से हुई है, *जिसका अर्थ राज्य का अभाव होना है। अतः अराजकतावाद* उस विचारधारा का नाम है जो राज्य के *अस्तित्व और उसके औचित्य की* विरोधी है। यह वह विचारधारा है जो प्रत्येक प्रकार की केन्द्रीय सत्ता का विरोध करती है और उसे समाप्त करना चाहती है। अराजकतावाद शब्द का प्रयोग सामान्यतः अच्छे अर्थों में नहीं किया जाता, सर्वसाधारण इसका अर्थ लूटमार, हिंसा, विधिविहीनता, उच्छृङ्खलता और उपद्रवों से लगाते हैं। उनके लिए अराजकता का तात्पर्य उस असुरक्षित और अनिश्चित स्थिति से है जिसमें किसी के जीवन, धन और व्यक्तित्व की कोई सुरक्षा ही न रहे। समाज में आतंकयुक्त और अस्त-व्यस्ततापूर्ण स्थिति 'अराजक' स्थिति है। पर वास्तव में अराजकता का यह अर्थ नहीं है। ऐसा अर्थ तो वे करते हैं जो अराजकतावादी नहीं हैं। अराजकतावाद को *आतंकवाद समझना भ्रमपूर्ण और असंगत है। राज्य, कानून, धर्म और व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरोध का तात्पर्य अव्यवस्था का समर्थन नहीं है। अराजकतावाद जीवन और समाज का एक दर्शन है। यह एक विचारधारा है जो मनुष्य को सद्* और निसर्गतः भला मानती है। अतः वह व्यक्ति की पूर्ण एवं उन्मुक्त प्रगति के मार्ग में आने वाले प्रत्येक व्यवधान का विरोध करती है। राज्य के कानून, व्यक्तिगत सम्पत्ति और धर्म सभी मनुष्य को पूर्णता की प्राप्ति नहीं करने देते, अतः अराजकतावाद इन सबका विरोधी है।

राज्य के कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण करते हैं, उनको लागू करने वाली शक्ति पाशविक है। राज्य दमन, शोषण और उत्पीडन का यन्त्र है। वह अनैतिक प्रवृत्तियों का मूल है, वह अनावश्यक बुराई है। गॉडविन का कहना है कि राजनीतिक शक्ति "मानव जाति के व्यक्तिगत निर्णय और व्यक्तिगत अन्तःकरण पर धावा है।" धर्म को बैकुनिन राज्य का बड़ा भाई मानता है, धर्म ईश्वर

पर व्यक्ति की निर्भरता को बढ़ावा देकर और उसका अत्यधिक प्रचार करके मानव के गौरव को कम करता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति समाज की समस्त बुराइयों तथा विभेदों का मूल है। यह असमानता का मूल है। प्रोधाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति को चोरी कहता है। अराजकतावाद व्यक्ति के सम्मुख इन सबको कोई प्रामुख्य नहीं देता, अतः अराजकतावाद इन सबका विरोध करता है। एक राजनीतिक विचारधारा के रूप में अराजकतावाद का यह विश्वास है कि राज्योच्छेदन और कानूनोन्मूलन के साथ धर्म और व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था का अन्त आवश्यक है। प्रसिद्ध फ्रेंच अराजकतावादी एलासी रिक्लस का कहना है कि "हमारा लक्ष्य बिना सरकार तथा बिना कानून के रहना है।"[1] अराजकतावाद की परिभाषा करते हुए फ्रांसिस डब्ल्यू० कोकर ने कहा है कि "अराजकतावाद एक सिद्धान्त है जो मानता है कि राजनीतिक सत्ता या एक व्यक्ति द्वारा दूसरे पर किसी भी रूप में शासन अनावश्यक और अवाञ्छनीय है।"[2] प्रिंस क्रोपाटकिन के अनुसार अराजकतावाद जीवन तथा आचार का एक ऐसा सिद्धान्त है जो कि एक राज्यहीन समाज की कल्पना करता है। ऐसे समाज में सामञ्जस्य की स्थापना किसी कानून या शक्ति की आज्ञापालन के द्वारा नहीं, अपितु उत्पादन, उपभोग तथा एक सभ्य प्राणी की अनन्त आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक बनाए गये विभिन्न संगठनों में स्वतन्त्र समझौतों द्वारा होती है।

अराजकतावाद का इतिहास तथा आधुनिक अराजकतावादी विचारक

एक आदर्श समाज में राज्य की उपयोगिता और उपादेयता सदैव एक विवाद का विषय रही है। प्राचीन समय से लेकर वर्तमान काल तक इस सम्बन्ध में विभिन्न मत विकसित हो चुके हैं। एक ऐसे सिद्धान्त के रूप में जिसकी यह मान्यता है कि राज्यविहीन समाज ही आदर्श समाज है अराजकतावाद एक पुराना सिद्धान्त है। अराजक समाज का विचार करते हुए महाभारत में कहा गया है कि—

"न राज्यं न च राजाऽऽसीत् न दण्ड्यो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजास्सर्वा रक्षन्तिस्म परस्परम् ॥"

(न तो राज्य था न राजा, न दण्डनीय अपराधी और न दण्ड। धर्म के द्वारा ही सम्पूर्ण प्रजा एक दूसरे की रक्षा करती थी।)

ईसापूर्व ग्रीस के स्टोइक (Stoics) विचारक राज्यहीन समाज के समर्थक थे। जीनो (Zeno) राजनीतिक संस्थाओं के महत्त्व का आलोचक था। अनिवार्यतः

[1] "Our object is to live without government and without law."
—Elisee Reclus.

[2] "Anarchism is a doctrine that political authority, in any of its forms, is unnecessary and undesirable."
—F. W. Coker, *Recent Political Thought*, p. 192.

स्टोइक विचारकों के निष्कर्ष प्लेटो और अरस्तू से भिन्न थे।

ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व चीनी दार्शनिक चुआंग-त्जु का भी विचार ऐसा ही था। उसका कथन है कि एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर शासन मानव प्रकृति से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार कम्पास तथा रेखाओं का प्रयोग मिट्टी तथा लकड़ी के लिए है। दूसरी सदी के मध्य में कारपोक्रेट्स (Carpocrates) तथा मध्य युग में पीटर शेलिकी (Peter Chelcicky) अराजकतावादी थे। मध्य युग में ईसाई धर्म की सर्वोच्चता के कारण राज्य के प्रभुत्व के औचित्य को गलत ठहराया गया। इस *प्रयत्न में भी अराजकतावादी तत्व प्रच्छन्न रूप से देखने को मिलते हैं।*

आधुनिक युग में अराजकतावादी दृष्टिकोण कई श्रेष्ठ विचारकों के चिन्तन का आधार रहा है। आज का अराजकतावाद अपनी प्रवृत्तियों और स्थापनाओं में प्राचीन अराजकतावाद से भिन्न है। प्राचीन अराजकतावाद राज्य, राजा तथा विधि का विरोध करता था, पर आधुनिक अराजकतावाद राज्य के साथ व्यक्तिगत सम्पत्ति और धर्म का भी विरोध करता है। फ्रेंसिस डब्लू० कोकर के अनुसार आधुनिक अराजकतावाद राज्य के सैद्धान्तिक विरोध के साथ ही निजी सम्पत्ति और सगठित धार्मिक सत्ता का भी प्रबल विरोध करता है।'[1] इसी कारण अराजकतावादी भूमि तथा पूंजी पर सामाजिक नियन्त्रण के समर्थक हैं।

प्राचीन अराजकतावादी विचारक (विशेषत यूरोप के) अराजक समाज की रचना एवं राज्य-विहीन स्थिति में श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति की व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ भी नही कह सके, पर आधुनिक अराजकतावाद राज्य-विहीन समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था के आधारों को स्पष्ट करता है।

सभी आधुनिक अराजकतावादी विचारक राज्य को समाप्त करना चाहते हैं, तथापि सिद्धान्त और व्यवस्था की दृष्टि से उनको निम्न वर्गों में बांटा जा सकता है। सिद्धान्त की दृष्टि से आधुनिक अराजकतावादी दो प्रकार के हैं यथा—व्यक्तिवादी और समाजवादी। व्यक्तिवादी अराजकतावादी वे हैं जो सम्पत्ति पर व्यक्ति का अधिकार चाहते हैं, समाजवादी अराजकतावादी वे हैं जो सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व नही चाहते। उनका विचार है कि सम्पत्ति को ऐच्छिक सघो के अन्तर्गत रखा जाय तथा वे ही सम्पत्ति का उपयोग करें।

साधन के प्रति दृष्टिकोण की दृष्टि से भी अराजकतावादियों को दो वर्गों में बांटा गया है। कुछ अराजकतावादी वे हैं जो शान्तिपूर्ण पद्धति से राज्य को समाप्त करना चाहते हैं जैसे टॉलस्टॉय, महात्मा गांधी आदि। इनका विचार है कि अहिंसक तरीकों से राज्य के विरुद्ध समाज में ऐसा वातावरण निर्मित किया जाय कि राज्य स्वत समाप्त हो जायं। व्यक्तियों के सम्मुख राज्य के अनौचित्य को व्यापक स्तर पर

[1] In recent anarchism, theoretical opposition to the state has usually been associated with opposition to the institution of private property and also with hostility to organised religious authority."

—F. W Coker, *Recent Political Thought*, p 192.

सिद्ध किया जाना चाहिए। इसके विपरीत कुछ ऐसे विचारक हैं जो क्रान्तिकारी माध्यमों से अराजकतावाद लाना चाहते हैं। उनमे प्रमुख हैं बैकूनिन और क्रोपाटकिन।

आधुनिक अराजकतावादी विचारक और अराजकतावादी सिद्धान्त

विलियम गॉडविन

आधुनिक अराजकतावाद का प्रारम्भ सामान्यतः विलियम गॉडविन (1756-1836) से माना जाता है। उसके विचार, उसकी पुस्तक **पॉलिटिकल जस्टिस**[4] मे पाये जाते हैं। यद्यपि उसने कही पर भी अराजकतावाद शब्द का प्रयोग नही किया तथापि उसकी स्थापनायें अराजकतावाद का आधार हैं। गॉडविन ने राज्य की सत्ता का विरोध किया, उसने सरकार को एक बुराई माना। उसके मत मे सरकार का आधार शक्ति और हिंसा है तथा वह अन्याय को सरक्षण देने वाली है। गॉडविन राज्य के कानूनो को समाप्त करने के पक्ष मे था। उसका मत था कि कानून जिस बुराई को दूर करते हैं, उससे भी अधिक भयकर बुराई को वे उत्पन्न भी करते हैं।

गॉडविन ने व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध किया। वह व्यक्तिगत सम्पत्ति को सामाजिक असमानता और वैषम्य का मूल कारण मानता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति को उसी प्रकार समाप्त किया जाना चाहिए जिस प्रकार राज-सत्ता को। एक बात अवश्य है कि गॉडविन ने कभी भी हिंसक पद्धति का समर्थन नही किया।

प्रोधाँ

प्रोधाँ पहिला विचारक है जिसने सर्वप्रथम अपने आप को 'अराजकतावादी' कहा। उसने अपनी पुस्तक, सम्पत्ति क्या है? (*What is Property*) मे कहा है, "मैं पूर्णत अराजकतावादी हूं।" (I am in the full sense of the word, an anarchist) यद्यपि यह कहा जाता है कि प्रोधाँ ने ही 'अराजकतावाद' शब्द का आधुनिक रूप मे सर्वप्रथम प्रयोग किया पर अब यह लगभग निश्चित हो गया है कि इस शब्द का आधुनिक रूप मे प्रयोग 18वी सदी के मध्य मे ही किया जा चुका था। जो भी हो, यह प्रोधाँ ही था जिसने अराजकतावाद को वर्तमान समय मे एक सचेत और सक्रिय जन आन्दोलन का रूप दिया।

प्रोधाँ ने राज्य का विरोध दो आधारो पर किया। पहिला आधार यह कि वह मानता था कि राज्य व्यक्तिगत सम्पत्ति का और कुछ लोगों के निहित हितों का संरक्षक है। वह यह भी मानता था कि राज्य का जन्म व्यक्तिगत सम्पत्ति से हुआ है। दूसरा आधार यह है कि राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित करता है। वह मानता था कि एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति पर शासन व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की पूर्ण अवधारणा के विरुद्ध है।[5] प्रोधाँ ने चर्च का भी विरोध किया।

[4] पुस्तक का पूरा नाम है *An Enquiry Concerning Political Justice and its Influence on General Welfare and Happiness.*

[5] "Government of man by man in every form is oppression The highest perfection of society is found in the union of order and anarchy "

प्रोधाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति को चोरी मानता था, वह कहता था, "सम्पत्ति चोरी है।" (Property is theft) उसका यह कथन अराजकतावादियों के लिए एक आदर्श वाक्य बना पर वह अनेक भ्रमों को उत्पन्न करने वाला भी बना। वस्तुतः लोगों ने प्रोधाँ को समझने में भूल की। वह सम्पत्ति के व्यक्तिगत प्रयोग और उसके उपभोग का विरोधी नहीं था पर वह उसके संचय तथा उससे ब्याज और लाभ कमाने की प्रवृत्ति का विरोधी था। उसने सम्पत्ति के 'आधिपत्य' और "श्रम-सिद्धान्त' का विरोध किया। उसने जीवनोपयोगी वस्तुओं पर सीमित अधिकार का समर्थन किया, पर इस आधार पर शोषण का विरोध किया। प्रोधाँ के लिए यह सामाजिक न्याय के विरुद्ध था। प्रोधाँ एक सुधारक था। उसे पूँजीवादी समाज की बुराई मूलतः विनिमय और वितरण में दीखी। अतः बुराइयों को दूर करने के लिए उसने जन बैंक (Bank of the People) की स्थापना की योजना बनाई। उसने परस्परवाद (Mutualism) की पद्धति को भी विकसित किया। प्रोधाँ के आर्थिक विचारों ने, विशेषकर उसके 'परस्परवाद' ने, अमेरिका के विचारकों को प्रभावित किया। इसी प्रकार उसके राजनीतिक विचारों ने फ्रान्स के विचारकों को प्रभावित किया। फ्रेंच सिण्डिकलिज्म पर प्रोधाँ के विचारों का प्रभाव स्पष्ट है। इसी कारण फ्रान्स के चिन्तन को मार्क्सवाद भी पूरी प्रकार प्रभावित नहीं कर पाया।

प्रोधाँ साम्यवादी अराजकतावादी नहीं था, वह साम्यवाद को काल्पनिक मानता था। उसने कहा था कि "लोग मुझे कम उन्नत समाजवादी इसलिए समझते हैं, क्योंकि मैंने उस काल्पनिक वस्तु को छोड़ दिया है जिसमें कि समाजवादी अभी तक फँसे हुए हैं।"

यही अराजकतावाद की एक दूसरी धारा प्रारम्भ होती है, इसकी प्रवृत्ति क्रान्ति और साम्यवाद की ओर है। वे उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व, अतिरिक्त मूल्य का उन्मूलन और वर्ग-संघर्ष के कार्यक्रम को लेकर चलते हैं। सामान्यतः यह साम्यवादी कार्यक्रम है, अतः इसे आमतौर पर साम्यवादी अराजकतावाद कहा जाता है। इनमें बैकूनिन और प्रिंस क्रोपाटकिन प्रमुख हैं।

माइकेल बैकूनिन

माइकेल बैकूनिन रूस का प्रमुख अराजकतावादी था। उसने अराजकतावाद को नयी दिशा और प्रकृति दी। इससे अराजकतावाद को एक निश्चित समष्टिवादी रूप मिला।

वह कितना महान् क्रान्तिकारी था इसका अन्दाज रूस के जार अलक्जेंडर द्वितीय के उस उत्तर से लगता है जो उसने माइकेल बैकूनिन की माँ को दिया था। सन् 1855 में जब अलक्जेंडर द्वितीय रूस की राजगद्दी पर बैठा तो इस उपलक्ष में अनेक राजनीतिक कैदियों को जेल से छोड़ा गया। इन छोड़े जाने वाले राजनीतिक कैदियों में बैकूनिन का भी नाम था, पर अलक्जेंडर ने जब उस सूची में बैकूनिन का भी नाम देखा तो उसने स्वयं अपने हाथों से काट दिया। जब बैकूनिन की

दुःखी माँ ज़ार से मिली और उसने बैकूनिन को भी जेल से मुक्त करने के लिए अनुनय-विनय की तो अलेक्जेंडर द्वितीय ने उत्तर दिया, "श्रीमती जी, एक बात आप अच्छी तरह समझ लीजिए कि जब तक आपका लड़का जीवित है, तब तक वह कभी भी जेलखाने से छूट नहीं सकता।"[8]

बैकूनिन के अराजकतावादी विचारों के लिए उसकी पुस्तक ईश्वर और राज्य (*God and the State*) काफी प्रसिद्ध है। वह राज्य और राजसत्ता का विरोधी था। उसका विचार था कि पूर्ण अराजक समाज में मानवता अपने सर्वोच्च विकसित रूप को प्राप्त होगी। वह व्यक्तिगत सम्पत्ति और धर्म का भी विरोधी था। वह राज्य को शोषण में पूँजीपतियों का सहयोगी मानता था। शासकों को वह दम्भी और अहंकारी मानता था। राज्य के नागरिक भी अपना जीवन स्वतन्त्रता-पूर्वक व्यतीत नहीं कर सकते।

बैकूनिन व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोधी था, व्यक्तिगत सम्पत्ति को जीवन के दोनों पक्षों—नैतिक और भौतिक—के लिए अभिशाप मानता था। बैकूनिन ने धर्म की भी आलोचना की है। धर्म व्यक्ति को भाग्यवादी बनाता है, परिणामतः व्यक्ति अपनी शोषित और हीनावस्था पर भी सन्तोष कर लेता है। धर्म अन्ततः व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित करता है।

बैकूनिन का विचार है कि व्यक्ति को प्रत्येक प्रकार की सत्ता से मुक्त कराया जाना चाहिए। व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में उस समय तक प्रगति नहीं कर सकता जब तक कि वह पूर्णतः उन्मुक्त और निश्चिन्त न हो। स्वतन्त्रता के अभाव में मनुष्य में मानवीय गुण विकसित नहीं होते। बैकूनिन के अनुसार "मनुष्य की स्वतन्त्रता उसकी मानवता का दर्पण है।" इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर उसने राज्य, कानून, व्यक्तिगत सम्पत्ति और धर्म की कटु आलोचना की।

राज्योन्मूलन के लिए बैकूनिन शक्ति का समर्थक था। उसे 'आतंकवादी अराजकतावाद' का अग्रदूत कहा जाता है। उसने 'कार्य द्वारा प्रचार' (The propaganda by action) में इस बात के लिए लोगों को उकसाया कि कुछ प्रमुख सरकारी अधिकारियों तथा पूँजीपतियों की हत्या करके अपने कार्य और सिद्धान्त के प्रति आम जनता का ध्यान आकर्षित किया जाये। यही कारण है कि उस समय की प्रसिद्ध हत्याओं जैसे अमेरिका के राष्ट्रपति, इटली के राजा, फ्रान्स के राष्ट्रपति, आदि में यह माना गया है कि बैकूनिन के अनुयायियों का हाथ है। राज्य की समाप्ति के पश्चात् की व्यवस्था पर विचार करते समय बैकूनिन के विचारों का दूसरा पक्ष सामने आता है। यहाँ बैकूनिन 'समष्टिवादी अराजकता-वाद' (Collectivistic Anarchism) का विचार उपस्थित करता है।

[8] "Know Madam, that so long as your son lives, he can never be free."
—Tsar Alexander II.
रूसी क्रान्ति के अग्रदूत, लेखक राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह, से उद्धृत।

बैकूनिन की अराजकतावादी सम्पूर्ण व्यवस्था तीन आधारों—अराजकतावाद, नास्तिकवाद तथा स्वतन्त्र वर्गों के निगमों—पर टिकी है। अराजक समाज का आधार बल-प्रयोग, कानून और आज्ञा-पालन न होकर स्वेच्छापूर्ण स्वतन्त्र नागरिक सगठन, परस्पर ऐच्छिक सहयोग, और समझौते या विचार होगा। अराजक समाज में किसी प्रकार की विषमता तथा भेदभाव नहीं होगा। जाति, धर्म, उपासना, सम्प्रदाय के भेद का प्रश्न ही पैदा नहीं होगा। उस समाज में पूर्ण समानता और स्वतन्त्रता रहेगी। राष्ट्रीय सीमायें समाप्त हो जायेंगी तथा उनके स्थान पर विभिन्न कम्यून (Communes) विकसित होंगे। ये कम्यून प्रान्तों की स्थापना करेंगे, उनका रूप लेंगे, इन प्रान्तों से मिलकर राष्ट्र बनेंगे और राष्ट्रों के सघ से एक संयुक्त-राज्य-यूरोप की स्थापना होगी तथा अन्त में जाकर सम्पूर्ण ससार सघ बन जायेगा।[7]

प्रिंस क्रोपाटकिन

बैकूनिन अराजकतावादी क्रान्ति का नेता था। उसका अराजकतावादी आन्दोलन पर निस्सदेह निर्णायक प्रभाव पडा, पर उसने क्रान्ति के बाद के समाज की व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में विस्तार से कुछ नहीं कहा। यह कार्य प्रिंस क्रोपाटकिन ने पूरा किया।

प्रिंस क्रोपाटकिन रूसी विचारक थे। उन्होंने वहाँ के निहिलिस्ट आन्दोलन में भाग लिया। वे किसी भी प्रकार की सरकार की स्थापना के विरोधी थे।[8] क्रोपाटकिन

[7] *"There will be a free union of individuals into communes, of communes into provinces, of provinces into nations, and finally of nations into the United State of Europe, and later of the whole world"*—Bakunin quoted in F. W. Coker, *Recent Political Thought*, p 207

[8] प्रिंस क्रोपाटकिन को बडे से बडा लालच भी अपने पथ से डिगा नहीं सका। *एक बार रूस में कैरेन्सकी ने प्रिंस क्रोपाटकिन से कहा कि "हमारे सरकारी* मन्त्रिमण्डल में किसी भी पद को चुन लीजिये, आपको वही पद दे दिया जायगा।" इस पर प्रिंस क्रोपाटकिन ने उत्तर दिया, "मन्त्री के कार्य की अपेक्षा तो मैं जूतों पर पालिश करने वाले चमार का काम अधिक आदरणीय तथा उपयोगी मानता हूँ।" सोवियत रूस में साम्यवादी सरकार स्थापित हो जाने के बाद जब लेनिन के समय में शिक्षा मन्त्री लूनाचरस्की ने प्रिंस क्रोपाटकिन के सामने प्रस्ताव रखते हुए कहा कि "आप सरकार से ढाई लाख रूबल लेकर अपनी पुस्तकों के छापने का अधिकार हमें (सरकार को) दे दीजिये।" तो वृद्धावस्था में अत्यन्त गरीबी की स्थिति में भी प्रिंस क्रोपाटकिन ने उत्तर दिया कि "मैंने कभी शासन से पैसा नहीं लिया और न अब ही सरकारी सहायता ग्रहण कर सकता हूँ।"

ने अपने सिद्धान्तो का निर्धारण विकासवाद के आधार पर किया। वह मनुष्य को स्वभाव से सद् और नेक मानते थे। उनका विचार था कि मनुष्य में सहयोग की भावना होती है। इस सहयोग और पारस्परिक प्रेम तथा सहायता के द्वारा ही व्यक्ति एव समाज की प्रगति होनी है, तथा इनके ही आधार पर विकास किया जा सकता है। विकास का मूल पारस्परिक सहयोग मे निहित है, सघर्ष अथवा प्रतिस्पर्धा मे नही। पर कुछ ऐसे भी तत्व है जो इन गुणो को विकसित होने से रोकते है। वे हैं राज्य, व्यक्तिगत सम्पत्ति और धर्म। अत. प्रिस क्रोपाटकिन का कहना है कि सच्चे और सुखी समाज की स्थापना के लिए इन तीनो का उन्मूलन अत्यन्त आवश्यक है। यह उन्मूलन क्रान्ति के द्वारा ही किया जा सकता है। प्रिस क्रोपाटकिन का कहना है कि "यद्यपि वह विकास अराजकतावादी लक्ष्य की प्राप्ति की ओर है तथापि यह धीमी तथा शान्तिमय प्रक्रिया ही लक्ष्य-प्राप्ति के लिए पर्याप्त नही है, इस विकास की प्रक्रिया मे क्रान्ति की प्रक्रिया का आना अनिवार्य है।"

प्रिस क्रोपाटकिन राज्य को अनावश्यक और हानिकर मानते है। राज्य मनुष्य की प्रगति मे बाधक है। राज्य का आधार शक्ति है, वह बलात् अपने कानूनो को मनुष्यो पर थोपता है। राजनीतिक सत्ता मनुष्य को भ्रष्ट बनाती है, उनका कहना था कि "यह या वह मन्त्री जो आज घृणा योग्य है एक बहुत ही अच्छा मनुष्य होता यदि उसे शक्ति नही दी जाती।"[9] क्रोपाटकिन का विचार है कि राज्य द्वारा सम्पादित कार्यों को व्यक्ति स्वय पूर्ण कर सकता है। राज्य अपनी प्रकृति से ही शोषण का एक साधन है। इसका उपयोग पूँजीपति करते हैं। राजनीतिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त नैतिक और सास्कृतिक दृष्टि से भी राज्य अनावश्यक है। वह असहाय और निर्बल लोगों के जीवन की गारन्टी नही है। वह सामाजिक न्याय का सस्थापक अथवा सरक्षक नही है। राज्य युद्ध को जन्म देने वाला है।

राज्य के समान सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रिस क्रोपाटकिन ने आलोचना की है। उसके विचार मे "प्रत्येक खोज, प्रत्येक प्रगति, मानवीय धनराशि मे प्रत्येक योगदान, वर्तमान और भूतकाल के समस्त शारीरिक और मानसिक श्रम कार्य का ही फल हैं। अत. इस अपार धन के किसी भी भाग पर किसी एक व्यक्ति को अपना प्रभुत्व स्थापित करने का और यह कहने का कोई अधिकार नहीं है कि यह मेरा है, तुम्हारा नही है।"[10] उत्पादन के साधनो पर व्यक्तिगत अधिकार न

[9] "This or that despicable minister might have been an excellent man, if power had not been given to him"

[10] "Science and industry, knowledge and application, discovery and practical realisation leading to new discoveries, coming of brains and of hand, toil of mind and muscle—all work together, each discovery, each advance, each increase in the sum of human riches owes its being to the physical and mental travail of the past and present. By what right, then, can any one whatever appropriate the least morsel of this whole and say this is mine, not yours"

होकर समाज का अधिकार होना चाहिये। व्यक्तिगत सम्पत्ति शोषण या आधार है। इसके कारण समाज दो वर्गों में बँट गया है। "अराजक समाज में सभी पर प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार होगा और सभी के द्वारा उत्पन्न हुई वस्तुओं में प्रत्येक उत्पादक का भाग होगा।"

प्रिंस क्रोपाटकिन धर्म को भी शोषण का एक अस्त्र मानता था। धर्म लोगों को भीरु बनाता है। वह भाग्यवादी बनाता है, जिसके कारण लोग अपराध और अन्याय को भी सहन कर लेते हैं। वह नैतिकता का विरोधी नहीं था। सामाजिक व्यवस्थाओं की स्थापना में वह नैतिकता की उपयोगिता को स्वीकार करता था। प्रिंस क्रोपाटकिन व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थक था। उसके अनुसार, "हम व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता को मानते हैं। हम उसके लिए जीवन की प्रचुरता तथा उसकी समस्त प्रतिभाओं का स्वतन्त्र विकास चाहते हैं। हम उसके ऊपर लादना कुछ भी नहीं चाहते। इस प्रकार हम उस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं जिस सिद्धान्त को फूरियो ने धार्मिक नीतिशास्त्र के विरोध में रखते हुए कहा था, 'मनुष्य को बिलकुल स्वतन्त्र छोड़ दो। उसे अंगहीन मत बनाओ, क्योंकि धर्म उसको अपंग—जरूरत से ज्यादा अपंग—बना चुका है। उसके मनोविकारों से भी मत डरो। स्वतन्त्र समाज में ये खतरनाक नहीं होते।' "

अराजक समाज की रचना

अराजक समाज में स्वतन्त्र मानव समुदाय होंगे। उनके ऐच्छिक संगठन होंगे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि के संगठन का सदस्य बनेगा और कार्य करेगा। इस प्रकार कृषि, उद्योग, व्यापार आदि सभी के कार्य सम्पन्न किये जावेंगे। प्रत्येक व्यक्ति चार-पाँच घण्टे नित्य कार्य करेगा। उत्पादित की हुई वस्तुओं पर व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं होगा। उन्हें समाज के सभी नागरिकों में उनकी आवश्यकतानुसार वितरित किया जायेगा। प्रिंस क्रोपाटकिन ने इस व्यवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है, "हम तुमको इस बात का आश्वासन देने को तैयार हैं कि यदि तुम अपनी 20 वर्ष की अवस्था से लेकर 45 वर्ष या 50 वर्ष की अवस्था तक प्रतिदिन चार-पाँच घण्टे कोई ऐसा कार्य करने को तैयार हो जिसे कि समाज जीवन के लिए आवश्यक समझता हो, तो तुम हमारे घरों, गोदामों, सड़कों, वाहन के साधनों, स्कूलों, अजायबघरों आदि का प्रयोग कर सकते हो। जब तुम्हारी इच्छा हो तुम स्वयं किसी *समुदाय को चुन लो, या कोई नया समुदाय बना लो, बशर्ते कि वह कोई आवश्यक* सेवा करने के लिए तैयार हो। शेष समय में तुम मनोरंजन, कला, विज्ञान के लिए अपनी इच्छानुसार किसी से भी मिलने के लिए स्वतन्त्र हो। भोजन, वस्त्र, निवास के उत्पन्न करने अथवा सार्वजनिक स्वास्थ्य अथवा वाहन सम्बन्धी कार्यों में एक वर्ष में तुम 1200 या 1500 घण्टे काम करो, केवल इतना ही हम तुमसे चाहते हैं। उसके बदले में हम तुममें इस बात की गारन्टी करते हैं कि तुम वह सब कुछ उपभोग कर

करते हो जो कि हमारे समुदाय उत्पन्न करते हैं।"[11]

इस व्यवस्था में जहाँ तक कार्य करने का प्रश्न है, क्रोपाटकिन यह मानता है कि मनुष्य प्रकृति से ही कार्यशील प्राणी है, अतः वह कार्य करेगा ही। पारस्परिक संघर्ष और झगड़े भी परस्पर पंचायत करके निपटाये जावेंगे। वस्तुतः आज की व्यवस्था क्योंकि न्याय और स्वतन्त्रता पर आधारित नहीं है, अतः संघर्ष होता है पर जब सम्पूर्ण समाज की व्यवस्था न्याय और स्वतन्त्रता पर आधारित हो जावेगी तब संघर्ष को स्थान ही नहीं रहेगा।

टॉलस्टॉय

टॉलस्टॉय अहिंसक अराजकतावादी विचारक थे। इन्होंने धर्म को सच्चे अराजकतावाद का आधार बतलाया। टॉलस्टॉय ने राज्य और व्यक्तिगत सम्पत्ति की आलोचना की और कहा कि दोनों ही ईसा की शिक्षाओं के विपरीत हैं। टॉलस्टॉय ने मूलतः नैतिक आधार पर विरोध किया। उनका कहना था कि राज्य शक्ति पर आधारित है और अपने आदेशों को पाशविक शक्ति के बल पर लागू करवाता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण कुछ लोग तो विलासिता का जीवन व्यतीत करते हैं और कुछ अभाव का। इसी कारण टॉलस्टॉय दोनों को समाप्त करने को कहता है। पर इसके लिए वह अहिंसक पद्धति का समर्थन करता है। शिक्षा को जागृति और प्रसार से यह सब होगा।

महात्मा गाँधी

गाँधी जी राज्य की शक्ति में वृद्धि और व्यक्तिगत सम्पत्ति के संचय को भय और शंका की दृष्टि से देखते थे। दोनों ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और विकास में बाधक रहे हैं। गाँधी जी ने मानव के विकास में और उसकी सद्प्रवृत्तियों के विकास में धर्म को सहायक माना है। गाँधी जी हृदय-परिवर्तन और अहिंसक उपायों द्वारा राज्य को समाप्त करने के समर्थक थे।

प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय और अराजकतावाद

प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय का साम्यवादी अराजकतावाद से बहुत बड़ा सम्बन्ध है। राजनीति विज्ञान के इतिहास में इसका ऐतिहासिक और निर्णायक महत्त्व है।

1864 में बैकूनिन ने इटली में *'एलाएंस ऑफ सोशलिस्ट रिवॉल्यूशनरीज़'* (Alliance of Socialist Revolutionaries) नामक संस्था की स्थापना की। बाद में स्विट्ज़रलैण्ड में 1867 में 'इंटरनेशनल एलाएंस ऑफ सोशलिस्ट डिमोक्रेसी' (International Alliance of Socialist Democracy) नामक संस्था की स्थापना की। इसी समय 1864 में इंग्लैण्ड में कार्ल मार्क्स ने 'इन्टर-

[11] ज्योतिप्रसाद सूद, आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास, भाग 4, पृष्ठ 165 से उद्धृत।

नेशनल वर्किंग मैन्स एसोसियेशन (International Working Men's Association), 'प्रथम इन्टरनेशनल' की स्थापना की थी। सन् 1869 में बैकूनिन अपनी संस्था को भंग करके अपने अनुयायियों के साथ मार्क्स की संस्था में आकर मिल गया। दोनों ही राज्य, पूंजीवाद, और साम्राज्यवाद विरोधी थे। पर कुछ ही समय बाद दोनों में बुनियादी मतभेद पैदा हो गए। ये मतभेद सैद्धान्तिक भी थे और कार्य पद्धति से सम्बन्धित भी थे। प्रिंस क्रोपाटकिन के अनुसार, मार्क्स के अनुयायियों और बैकूनिन के अनुयायियों में जो संघर्ष था, वह निरे व्यक्तिगत कारणों से नहीं था। बैकूनिन के अनुयायी सम्पूर्ण शक्ति को एक संस्था में केन्द्रित करने के पक्ष में नहीं थे। बैकूनिन कहते थे कि सब स्वतन्त्र होने चाहिएँ। मार्क्स का विश्वास राष्ट्र (State) के केन्द्रित शासन में था। बैकूनिन का विचार था कि साधारण जनता सर्वथा स्वतन्त्रतापूर्वक अपना सुधार करे और मार्क्स कानूनों द्वारा पूंजीवाद में सुधार चाहते थे। इन दोनों में अन्तर था—लैटिन भावना और जर्मन मनोवृत्ति का।"[12] इन मतभेदों का अन्तिम परिणाम यह हुआ कि बैकूनिन को 'प्रथम इण्टरनेशनल' से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करना पड़ा। स्वयं मार्क्स ने ऐसी परिस्थिति ला दी कि बैकूनिन के पास इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही नहीं बचा। मार्क्स ने बैकूनिन को खुफिया पुलिस का आदमी, रूस का एजेन्ट कहा। उसने यह भी कहा कि बैकूनिन को पैन स्लेविस्ट लोगों से 25 हजार फ्रैंक प्रति वर्ष मिलते हैं। मार्क्स ने एक और षड्यन्त्र रचा। बैकूनिन जब लोरानों में रहते थे तब उसने एक रूसी प्रकाशक से कैपिटल नामक पुस्तक का रूसी में अनुवाद करने के 300 रूबल पेशगी ले लिए, परन्तु क्रान्तिकारी कार्यों में व्यस्त रहने के कारण अनुवाद नहीं कर पाये और न रूबल ही वापिस कर पाये। प्रकाशक द्वारा बार-बार मांगने पर बैकूनिन के एक साथी ने प्रकाशक को मार डालने की धौंस दे दी। यह धमकी एक पत्र लिख कर दी गई। यह पत्र मार्क्स के हाथों पड़ गया। अन्त उसने इस पत्र का उपयोग बैकूनिन को बदनाम करने में किया। यह ध्यान देने योग्य बात है कि ऐसा पत्र प्रकाशक को लिखा गया है यह बैकूनिन की जानकारी में नहीं था। मार्क्स ने हेग कांग्रेस में वह पत्र पढ़ा और बैकूनिन को बदनाम किया। अन्त में परेशान होकर बैकूनिन ने प्रथम इन्टरनेशनल से 1872 में अपने सम्बन्ध तोड़ लिए। मार्क्स के इस कार्य की निन्दा उसके जीवनी-लेखक फ्रेंज मिहरिंग (Franz Mehring) तक ने की है।

अराजकतावाद और साम्यवाद

अराजकतावाद और साम्यवाद में काफी समानताएँ हैं। दोनों पूंजीवाद-विरोधी हैं, दोनों की मान्यता है कि पूंजीवाद ही समाज में शोषण, उत्पीडन और असमानता का कारण है। इसी के कारण वर्ग-संघर्ष होता है। दोनों साम्राज्य-

[12] राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह, रूसी क्रान्ति के अग्रदूत, पृ० 46।

वाद-विरोधी हैं, दोनों राज्य और धर्म-विरोधी हैं। दोनों ने व्यक्तिगत सम्पत्ति की आलोचना की है। प्रिंस क्रोपाटकिन के विचारों को तो 'साम्यवादी अराजकतावाद' कहा जाता है। इतना होने पर भी दोनों में काफी अन्तर है। यह अन्तर सिद्धान्त, कार्य-पद्धति और विचारों का है।

1. दोनों की विचार-पद्धति भिन्न है। साम्यवाद का दृष्टिकोण 'सर्वहारा वर्ग का दृष्टिकोण' है पूँजीवाद के विरुद्ध विद्रोह के लिए यह सर्वहारा वर्ग को ही महत्व देता है। साम्यवाद का विचार सर्वहारा वर्ग का विचार है। इसके विपरीत अराजकतावादी दृष्टिकोण काफी व्यापक है। वह किसी वर्ग विशेष की ओर नहीं देखता अपितु क्रान्ति के लिए सम्पूर्ण समाज की ओर देखता है। उसने 'सर्वहारा वर्ग' जैसी शब्दावली का प्रयोग नहीं किया।

2. राज्य और उसकी उपादेयता के सम्बन्ध में भी दोनों में अन्तर है। साम्यवाद क्रान्ति के पश्चात् राज्य का उन्मूलन नहीं करता। वह राज्यसत्ता पर पूँजीपतियों के आधिपत्य को समाप्त कर सर्वहारा वर्ग के आधिपत्य की स्थापना करना चाहता है। आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात् वह इसका प्रयोग पूँजीवाद को समाप्त करने में करना चाहता है। अराजकतावाद का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। वह क्रान्ति के पूर्व एवं क्रान्ति के पश्चात् किसी भी रूप में राजसत्ता के प्रयोग का विरोधी है। अराजकतावाद सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का विरोधी है। रूसी क्रान्ति के पश्चात् सर्वहारा वर्ग के नेता लेनिन को प्रिंस क्रोपाटकिन ने एक पत्र लिखा। उसमें राज्य के प्रति अराजकतावादी दृष्टिकोण देखने को मिलता है। पत्र में लिखा था कि "जनाब, ब्लाडिमिर इलियच (लेनिन), जब आपकी आकांक्षा तो यह है कि हम एक नवीन सत्य के मसीहा बनें और नवीन राज्य के संस्थापक, तब फिर आप किस प्रकार ऐसे बीभत्स सरकारी अनाचारों और असम्भव सरकारी तौर-तरीकों को अपनी स्वीकृति दे सकते हैं। ......आप इतने अन्धे हो गये हैं और अपने अधिनायकवादी विचारों के इतने अधिक दास बन गये हैं कि आपको यह नहीं सूझता कि आप जैसे यूरोपियन साम्यवाद के अग्रणी के लिए यह कार्य (लज्जाजनक तरीकों द्वारा निरपराधों की गिरफ्तारी) सर्वथा अनधिकार चेष्टा है? . . . उस साम्यवाद के विषय में क्या कहा जाय, जिसका एक महत्वपूर्ण रक्षक इस प्रकार ईमानदारी की प्रत्येक भावना को पैरों तले कुचलता है।"[13]

अराजकतावाद राज्य को पूर्णतः और सदैव के लिए समाप्त करना चाहता है। अराजकतावादी के लिए राज्य का तात्पर्य हिंसा, पाशविक शक्ति और बाध्यता है। फिर उसका स्वरूप कैसा भी हो और उस पर स्वामित्व किसी का भी हो। डिकिन्सन (Dickinson) के अनुसार, "सरकार का अर्थ है—जबरदस्ती, पृथक्त्व और भेद, जबकि अराजकता का अर्थ है—स्वतन्त्रता, एकता और प्रेम। सरकार अहंकार

[13] वही, पृष्ठ 53।

और भय पर आश्रित है, अराजकता बन्धुत्व पर। क्योंकि हम अपने को राष्ट्रों में विभक्त कर लेते हैं इस कारण हम अस्त्र-शस्त्रों के अत्याचार सहते हैं। क्योंकि हम अपने को व्यक्ति के रूप में अकेला बना लेते हैं इसलिए कानूनों द्वारा हम अपनी सुरक्षा चाहते हैं।"

3 भावी समाज के स्वरूप के सम्बन्ध में भी दोनों के विचार भिन्न हैं। मार्क्स ने क्रान्ति पर सर्वाधिक जोर दिया। वह क्रान्ति के साधनों को जुटाने में और क्रान्ति के लिए सर्वहारा वर्ग को सिद्ध करने की भूमिका में ही लगा रहा। उसने भावी समाज के स्वरूप का पूर्ण और व्यवस्थित विचार ही नहीं किया। परन्तु अराजकतावादी दर्शन के साथ ऐसी स्थिति नहीं थी। उसने राज्यविहीन समाज के स्वरूप के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार किया। प्रिंस क्रोपाटकिन ने स्पष्टत अराजक समाज के स्वरूप का वर्णन किया है। अराजक समाज में आर्थिक, सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन किन मान्यताओं पर प्रतिष्ठित होगा यह उसने बतलाया है। प्रिंस क्रोपाटकिन ने तो यह भी बतलाया है कि अराजकतावाद एक विचार अथवा एक धारणा मात्र नहीं है, वरन् एक सत्यता है। इसे मानव जीवन की प्रसन्नता और पूर्णता के लिए प्राप्त करना ही होगा। प्रिंस क्रोपाटकिन ने अराजक समाज में स्वतन्त्र और ऐच्छिक सगठनों का विचार किया और कहा कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि के अनुकूल इन सगठनों का सदस्य बनेगा और कार्य करेगा। अराजकतावादी समाज में मानव सगठन कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि स्वतन्त्र समाज में बन्धनकारी शक्ति के अभाव में व्यक्ति इतनी स्वाभाविक और सहज अवस्था में रहेंगे कि सम्पूर्ण समाज का सहज ही समूहीकरण हो जायगा। फूरिये (Fourier) के अनुसार "छोटे-छोटे ककड़ों को एक सन्दूक में भरकर हिलाइए तो वे इस सुन्दरता से आपस में बैठ जावेंगे कि आप इस प्रकार का आकार किसी व्यक्ति के द्वारा कभी भी नहीं बनवा सकते।"

इस प्रकार क्रान्ति के पूर्व का विचार साम्यवाद ने किया तथा क्रान्ति के पश्चात् राज्योन्मूलन के बाद अराजकतावादी समाज का क्या स्वरूप होगा इसका विचार अराजकतावाद ने किया अर्थात् जहाँ पर साम्यवादी चिन्तन लगभग समाप्त होता है, वहाँ से अराजकतावादी चिन्तन प्रारम्भ होता है। यही कारण है कि यह कहा जाता है कि साम्यवाद साधन पर और अराजकतावाद साध्य पर जोर देता है।

4. अराजकतावाद और साम्यवाद की आर्थिक व्यवस्थाओं में भी अन्तर है। साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उद्योग, व्यापार, यातायात, सभी पर राज्य का अधिकार होगा। उत्पादन के साधन और वितरण की प्रणालियों पर समाज (राज्य) का नियन्त्रण होगा। व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त हो जायगा। अराजकतावादी व्यवस्था इससे भिन्न है। उसका सिद्धान्त है कि सम्पत्ति सबकी है, अत कोई भी व्यक्ति सम्पत्ति के किसी भी भाग पर अपना अधिकार स्थापित नहीं कर सकता। भूमि तथा आर्थिक उत्पादन के सभी साधन सबके हैं, समाज के हैं। प्रिंस क्रोपाटकिन

के अनुसार अराजकतावादी समाज में, "सभी पर व्यक्ति का अधिकार होगा और सभी के द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं में प्रत्येक उत्पादक का भाग होगा।" व्यक्ति अपनी शक्ति भर काम करेगा और आवश्यकता भर लेगा। तथ्य यह है कि *अराजकतावादी समाज में वैज्ञानिक आविष्कारों का पूरा लाभ उठाकर उपभोग की* वस्तुओं का उत्पादन इतनी अधिक मात्रा में किया जायगा कि वे वस्तुयें सहज सुलभ हो जावेंगी, जैसे पानी और हवा। अराजकतावाद की इस सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में समाज (राज्य) के स्वामित्व अथवा नियन्त्रण का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

5. साम्यवाद का विश्वास मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में है। अराजकतावाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को उसी रूप में स्वीकार नहीं करता जिस रूप में साम्यवाद स्वीकार करता है। एक दृष्टि से देखा जाय तो अराजकतावादी विचारक आदर्शवाद के निकट हैं, कारण, वे मनुष्य को मूलतः भला और नैतिक मानते हैं। अराजकतावाद व्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थक है। इस रूप में वह व्यक्तिवाद का अतिवादी रूप है। व्यक्तिवादी सिद्धान्त का वह पक्ष जिसमें वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए राज्य के कार्य-क्षेत्र को सीमित करने का आग्रह है, अराजकतावाद में अपनी पूर्णता को पहुँचता है। अराजकतावाद व्यक्तिवाद से एक पग और आगे राज्य के समूल उन्मूलन का समर्थक है।

6. साम्यवाद अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एवं तदनुसार कार्य करने के लिए एक संगठन पर जोर देता है। अनेक देशों में साम्यवादी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए राजनीतिक संगठन हैं। उन राजनीतिक संगठनों की कुछ व्यवस्थायें हैं, *अनुशासन एवं एक निश्चित कार्य-क्रम* है। इसके विपरीत अराजकतावादियों का कोई राजनीतिक संगठन नहीं है, उसका कोई सर्वमान्य कार्यक्रम भी नहीं है।

7. लक्ष्यप्राप्ति के लिए साम्यवादी साधन बहुत स्पष्ट और साफ हैं। वे क्रान्ति में विश्वास करते हैं। इसके विपरीत अराजकतावाद के साधन स्पष्ट नहीं हैं। वे साधन के प्रश्न पर एकमत नहीं हैं।

अराजकतावाद की आलोचना

एक परम आदर्श के रूप में अराजकतावाद एक श्रेष्ठ सिद्धान्त है। अराजकतावाद अपने आप में बहुत अच्छा और उच्च विचार है। मानव जीवन की श्रेष्ठतम और उच्चतम अभिव्यक्ति अराजक समाज की स्थापना में ही सम्भव है। एक ऐसे समाज की स्थापना जहाँ पर मनुष्य पर नियन्त्रण के लिए कोई भौतिक शक्ति न हो, वरन् अपनी व्यवस्थाओं के अनुरूप मनुष्य के जीवन को ढालने के लिए कोई पाशविक सत्ता न हो, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके श्रेष्ठ और उच्चतम सिद्धि है। पर यह सब कुछ सम्भव है क्या ? यह सब सम्भव नहीं है। *कम से कम मनुष्य के लिए* अराजक स्थिति की प्राप्ति सम्भव नहीं है। जब तक मनुष्य, मनुष्य की स्थिति में है, तब तक राज्य रहेगा अथवा कोई न कोई बन्धनकारी सत्ता रहेगी। मनुष्य की

अपूर्णता राज्य के अस्तित्व की अनिवार्यता है। अराजकतावाद की आलोचना निम्न आधार पर की जाती है :—

1. मानव स्वभाव और मानव प्रकृति के सम्बन्ध मे अराजकतावादी दृष्टिकोण बुनियादी रूप से एकपक्षीय और अपूर्ण है। अराजकतावाद मनुष्य को मूलत सद् और भला मानता है। प्रिंस क्रोपाटकिन सहकारिता को मनुष्यों का प्राकृतिक गुण मानते थे। पर अराजकतावाद का यह विचार गलत है। मनुष्य अच्छा ही होता है, ऐसा नही। वह बुरा भी होता है। हाब्स जैसे विचारक का मत है कि मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्ति अपने साथियो से लड़ने की होती है। मनुष्य स्वार्थी होता है। वस्तुत मनुष्य गुणो और अवगुणो की सम्मिलित गाँठ है। सामाजिकता उसकी अर्जित वस्तु है, अत हम यह नही कह सकते कि मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था एव उसकी विविधता का स्रोत केवल मनुष्य मे विद्यमान प्राकृतिक सद्प्रवृत्तियाँ ही हैं। समाजीकरण अनेक कारणो से होता है। साथ ही व्यक्ति को जैसा परिवेश मिलता है उसमे उसी प्रकार की प्रवृत्ति विकसित होने लगती है। वैसे यदि देखा जाये तो यह एक मनोवैज्ञानिक समस्या ही है कि मानव स्वभाव परिवेश का परिणाम है, अथवा उसमे कुछ अपरिवर्तित मूल प्रवृत्तियाँ होती हैं। जो भी हो यह बात निश्चित है कि मानव स्वभाव के सम्बन्ध मे अराजकतावादी दृष्टिकोण एकांगी और अपूर्ण है।

2. राज्य के प्रति अराजकतावादी दृष्टिकोण पूर्वाग्रहो से मुक्त नही है। वे राज्य को अनावश्यक बुराई मानते हैं, समाज की सभी बुराइयो का मूल राज्य को मानते हैं। पर यह सब अतिशयोक्तिपूर्ण है। राज्य की बुराइयों को अतिरंजित रूप मे उपस्थित किया गया है। मानव जीवन के विकास मे और उसके गौरव की श्रीवृद्धि मे राज्य का गौरवपूर्ण योग ओझल नही किया जा सकता। अरस्तू का यह कथन सत्य है कि "राज्य का जन्म जीवन के लिए हुआ है और वह एक सुखी जीवन के लिए अस्तित्व मे है।" मानव जीवन की श्रेष्ठता के लिए राज्य की अनिवार्यता एक तथ्य है। ग्रीन का विचार कि "इच्छा, शक्ति नही, राज्य का आधार है" राज्य के आधार के रूप मे जनसामान्य की स्वीकृति की प्रस्थापना का द्योतक है। यह इस बात का भी सकेत है कि राज्य सभी लोगो की सद्इच्छा का प्रतिफल है। राज्य मानव समाज के विकास का साधन रहा है। साहित्य, कला, विज्ञान और दर्शन के प्रसार और प्रगति मे राज्य सहायक रहा है। राज्य ने व्यक्ति के जीवन के विकास की अनेक सम्भावनाओं को जुटाया है। नागरिको की शिक्षा का प्रबन्ध, स्वास्थ्य सेवाओ मे सुधार, शान्ति एव व्यवस्था की स्थापना, यह सब राज्य ने की हैं। वस्तुत राज्य लोककल्याण की सिद्धि का एक बहुत बडा माध्यम रहा है। सर जॉन सिले का यह कथन पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है कि "मानव के इतिहास मे जो कुछ भी महान् अथवा प्रशसा के योग्य बात आज तक हुई है, वह केवल शासित और सगठित समाज मे ही सम्भव है। यह स्वतन्त्रता

पर लगाये गये प्रतिबन्धों का ही परिणाम है। यदि राज्य समाप्त कर दिया जावे, तो ऐसी स्थिति में अराजकता की संक्षिप्त अवधि के पश्चात् वृद्ध पुरुषों का शासन अथवा किसी अधिक प्रारम्भिक या मौलिक रूप में किसी अन्य स्वाभाविक समूह की स्थापना होगी। तब समाज अपने छोटे-छोटे उपकरणों से पुनः प्रारम्भ होगा और अन्त में केवल राज्य की पुनःस्थापना से ही समाज बर्बरता अथवा असभ्यता की अवस्था से बच पायेगा।

3 राज्य सभ्य जीवन के लिए आवश्यक है और अब मनुष्य समाज में उसकी आवश्यकता एवं उपादेयता चिरस्थायी है। सभ्य समाज राज्ययुक्त समाज ही है। किसी भी समाज में शान्ति एवं व्यवस्था के लिए शासन एवं कानून बहुत ही आवश्यक हैं। बर्ट्रेण्ड रसल के अनुसार "अराजकतावादी जो कुछ भी कहते हैं उसके बावजूद कुछ कामों के लिए राज्य एक आवश्यक संस्था प्रतीत होती है। शान्ति तथा युद्ध, आयात-निर्यात, सफाई का प्रबन्ध तथा जघन्य वस्तुओं की बिक्री पर नियन्त्रण, न्यायपूर्ण वितरण प्रणाली—ये तथा अन्य कुछ कार्य ऐसे हैं जिनको एक समाज में एक केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता।" शक्ति भी आवश्यक है। उसके अभाव में व्यक्ति की अपराधमूलक प्रवृत्तियों को दबाया नहीं जा सकता। हाब्स के मानव के लिए राज्य परमावश्यक है। सुरक्षा शक्ति चाहती है। राज्य के अभाव में अनेक असामाजिक तत्व संगठित हो जावेंगे। ऐसी स्थिति में जीवन की सुरक्षा की कोई गारण्टी नहीं रहेगी। 'मत्स्य न्याय' प्रारम्भ हो जायेगा। बर्ट्रेण्ड रसल का कथन ठीक ही है कि यदि, जैसे कि अराजकतावादियों की इच्छा है, सरकार की ओर से बल का प्रयोग न हो, तब बहुमत अपने आपको संगठित कर लेगा तथा अल्पमत के विरुद्ध बलप्रयोग करेगा। एकमात्र अन्तर यह रहेगा कि उनकी सेना तथा पुलिस व्यावसायिक तथा स्थायी न होकर केवल अन्तरिम होगी।"

4. व्यक्ति की स्वतन्त्रता का राज्य के अस्तित्व से कोई विरोध नहीं। स्वतन्त्रता उच्छृङ्खलता नहीं होती। राज्य उच्छृङ्खलता को ही दबाता है। इसी प्रकार राज्य नैतिक मूल्यों का हनन नहीं करता वरन् उनकी प्रस्थापना में सहयोग देता है।

5 व्यक्तिगत सम्पत्ति पर अराजकतावादियों के आक्षेप गम्भीर हैं। सभी अराजकतावादी व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाप्त करने के पक्षपाती हैं। पर ऐसा कहते समय अराजकतावादी मनुष्य के जीवन की सर्वाधिक प्रथम लालसा की उपेक्षा करते हैं। सम्पत्ति के प्रति आकर्षण और भौतिक वस्तुओं में से किन्हीं को 'यह मेरी है' कहने की लालसा प्रमुख होती है। सम्पत्ति के प्रति आकर्षण मनुष्य प्रवृत्ति की सबसे बड़ी विशेषता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति मानव प्रगति का सशक्त आधार है। निस्सन्देह दोषयुक्त आर्थिक व्यवस्थाएँ समाज में असमानताओं और शोषण को जन्म देती हैं पर अराजकतावाद इसका विकल्प नहीं हो सकता। सम्पत्ति सम्बन्धी अराजकतावादी समाधान नकारात्मक है।

6. धर्म-सम्बन्धी अराजकतावादी दृष्टिकोण थोथा और अवास्तविक है। यह कहना कि धर्म भाग्यवादी बनाता है और समाज में व्याप्त वैषम्य का पोषण करता है गलत है। धर्म तो मनुष्य मात्र में एकत्व और अपनत्व की व्यापक दृष्टि को विकसित करता है। धर्म का मूल ही सबमें एक परमेश्वर का साक्षात्कार करना है। धर्म कर्तव्य भाव को सुनिश्चित करता है, यह मनुष्य की एकता का पोषक है।

7. जिस पद्धति के द्वारा अराजकतावादी राज्यहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं। *वह पद्धति भी त्रुटिहीन नहीं है। वस्तुतः उस पद्धति के औचित्य* और उपयोगिता के समर्थन में कोई भी प्रबल तर्क नहीं है। पहली बात तो यह है कि अराजकतावादी जन-क्रान्ति के नहीं पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा क्रान्ति कराए जाने के समर्थक हैं। इस प्रकार की क्रान्ति असम्भव है। जन-सहयोग के अभाव में कोई भी क्रान्ति सम्भव नहीं। दूसरी बात यह है कि अराजकतावादी हिंसक क्रान्ति के समर्थक हैं। हिंसक और क्रान्तिकारी तरीकों की उपलब्धियाँ कभी भी स्थायी नहीं हो सकतीं। कुछ अपवाद अवश्य हैं। क्रान्ति प्रतिक्रान्ति को जन्म देती है। अराजकतावादी क्रान्ति के पश्चात् फिर क्रान्ति नहीं होगी यह कहना और सोचना गलत है। क्रान्तिकारी तरीके सृजनात्मक नहीं अपितु विध्वंसात्मक होते हैं। मानव सभ्यता और संस्कृति सृजन के सुन्दर हाथों द्वारा पनपती है और विध्वंस के कठोर हाथ तो उसको समाप्त करने वाले होते हैं।

मूल्यांकन

अराजकतावाद के सम्बन्ध में दो बातें कही जा सकती हैं। पहली बात तो *यह कि अराजकतावाद ने राज्य की कमजोरियों को प्रदर्शित किया और दूसरी बात* यह है कि सामाजिक साम्य की प्रस्थापना की अनिवार्यता पर बल दिया। एक *आदर्श के रूप में अराजकतावाद के महत्त्व को कम नहीं किया जा सकता।*

सहायक पुस्तकें

Michael Bakunin	*God and the State*
Prince Kropotkin	*Anarchist Communism*
	Anarchism its Philosophy and Ideal
Bertrand Russel	*Roads of Freedom*
Count Leo Talstoy	*The Gospel in Brief*
	What I Believe
Wilson Charlotte	*Anarchism*
राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह	रूसी क्रान्ति के अग्रदूत
ज्योति प्रसाद सूद	आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास, भाग 4

10
फासीवाद
(Fascism)

फासीवाद प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् और द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त के पूर्व का एक ऐसा सिद्धान्त रहा है जिसने विश्व के अनेक देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं और विचारकों के चिन्तन को प्रभावित किया है। फासीवाद शब्द की व्युत्पत्ति लेटिन भाषा के शब्द 'फेसिस' (Fasces) से हुई है, जिसका अर्थ है 'कुल्हाड़ी तथा कुछ लकड़ियों का गट्ठर।' प्राचीन रोम के शासक अपनी सत्ता के चिह्न के रूप में इसे धारण करते थे। यह रोमन साम्राज्य की एकता का प्रतीक था। इटली के फासीवादियों ने इसे अपनी प्राचीन गौरवमयी परम्परा के अनुकूल माना और इसी के नाम पर अपनी राष्ट्रीय विचारधारा का नामकरण किया। एक प्रवृत्ति के रूप में फासीवाद इटली आदि देशों में फासीवाद के नाम से उदित होने के पूर्व से ही इतिहास में मौजूद है और इन देशों में फासीवाद का अन्त हो जाने के पश्चात् भी वह मानव समाज में मौजूद है। इस रूप में फासीवाद एक सर्वाधिकारी, निरकुशतावादी, अधिनायकवादी और साम्राज्यवादी प्रवृत्ति और सिद्धान्त है। यद्यपि सभी अधिनायकवादी विचारधाराओं एव व्यवस्थाओं को फासीवाद कहना कठिन है तथापि फासीवाद मे ये तत्त्व अथवा गुण रहते अवश्य हैं। फासीवाद जिस व्यवस्था का परिचायक है उसमें यह सब तत्त्व सम्मिलित हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् यूरोप के अनेक देशों में फासीवादी प्रवृत्ति विकसित हुई जो नाम से भिन्न थी पर रूप और गुण में वही थी। अक्टूबर 1922 मे मुसोलिनी ने इटली मे, जनवरी 1933 मे हिटलर ने जर्मनी मे, और 1939 मे जनरल फ्रैंको ने स्पेन मे जिन राजनीतिक व्यवस्थाओं को विकसित किया वे फासीवादी व्यवस्थायें ही थी। इन देशों के अतिरिक्त अन्य देशों में भी फासीवादी विचारधारा एव प्रवृत्ति को विकसित करने के लिए अनेक सगठनों की स्थापना हुई जैसे ब्रिटेन मे "फासीवादी ब्रिटिश सघ" (The British Union of Fascists) जिसका नेतृत्व मोजले ने किया, इसके अतिरिक्त एग्लो-जर्मन फैलोशिप (Anglo-German Fellowship), लिंक (The Link), फ्रेन्ड्स ऑफ इटली (The Friends of Italy), यूनाइटिड क्रिश्चियन फ्रन्ट (The United Christian Front), आदि, फ्रान्स मे "एक्सन फ्रेसिअस (The Action Francaise), क्रॉक्स डि फ्यू (The Crox de Feu) तथा कैगोलार्ड (The Cagoulard), आदि।

आज फासीवाद शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों, रूपों और प्रयोजनों के लिए किया जाने लगा है। स्पेन के जनरल फ्रैंको और पुर्तगाल के डॉक्टर सालाजार के व्यक्तिगत शासन के लिए तो इस शब्द का प्रयोग किया ही जाता है, पर इसके अतिरिक्त प्लेटो तथा हीगल के सामूहिक राज्य के विचार के समर्थक विचारकों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है। इतना ही नहीं तो आज यह आम प्रवृत्ति बन गई है कि कम्युनिस्ट लोग अपने प्रत्येक विरोधी को चाहे वे किसी भी विचार के हों—समाजवादी, पूंजीवादी या राष्ट्रीयता के समर्थक फासिस्ट कहने लगते हैं। अर्थात् आज फासिस्ट शब्द का प्रयोग केवल मुसोलिनी की राजनीतिक व्यवस्था अथवा सिद्धान्त के लिए ही नहीं होता पर काफी सीमा तक एक विशेष वर्ग के द्वारा अपने प्रत्येक विरोधी के लिए भी प्रयोग होने लगा है। राजनीति में किसी को बदनाम करने के लिए इस शब्द का प्रयोग सहज और आम बात हो गई है। ऐसी स्थिति में मॉरिस क्रैन्सटन का यह कथन बहुत गलत नहीं है कि "यदि किसी शब्द का इतने व्यापक पैमाने पर, अन्धाधुन्ध प्रयोग किया जाए, तो वह एक निरर्थक शब्द मात्र रह जाता है।"[1]

इटली में फासीवाद का उदय

इटली में फासीवाद का विकास प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की असन्तोषपूर्ण राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों में हुआ।

1915 में इटली ने मित्र-राष्ट्रों के साथ युद्ध में प्रवेश किया। युद्ध में मित्र-राष्ट्रों की विजय हुई। विजय के पश्चात् बँटवारे का प्रश्न पैदा हुआ। वार्साई की सन्धि की गई, पर इसमें इटली के हितों की उपेक्षा की गई। इटली के प्रतिनिधि ओरलैंण्डो (Orlando) ने मित्र-राष्ट्रों के निर्णय का विरोध भी किया और अपने दावों को दुहराया पर कोई फलदायी परिणाम सामने नहीं आया। इटली को यह शिकायत बनी रही कि उसे लूट का पूरा उचित भाग नहीं मिला। यद्यपि एक सन्धि के द्वारा इटली को स्मर्ना और छोटे एशिया का एक भाग मिलना था पर इसी बीच में रूस में बोल्शेविक क्रान्ति हो गई और ऐसा नहीं हो सका। इटली हाथ मलता ही रह गया। इधर 1918 में युद्ध समाप्त होते ही इटली में आर्थिक कठिनाइयाँ प्रारम्भ हो गईं। दरअसल महायुद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व से ही इटली घोर आर्थिक संकट में फँस चुका था पर युद्ध के बाद स्थिति और भी बदतर हो गई। कारखानों में हड़तालें प्रारम्भ हो गईं, लड़ाई से लौटे हुए सैनिक बेकार इधर-उधर घूमने लगे, उत्पादन घटने लगा, ज्यादा मजदूरी की माँग होने लगी, इन सबके लिए हड़तालें की गईं और फ्रान्स के संघ समाजवादियों (Syndicalists) के तरीके अपनाये गये—हालांकि वे इन तरीकों को अपनाने के बाद असफल रहे थे। चारों ओर भय और निराशा का वातावरण छा रहा था। ऐसे समय में बेनिटो मुसोलिनी सामने आया तथा उसने लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। उसने साहस के साथ

[1] मॉरिस क्रैन्सटन, राजनीतिक शब्दावली, पृ० 53।

कहा, "मेरा कार्यक्रम कार्य है, बातें करना नहीं ।" (My programme is action, not talk.) और भी, "हमारा कार्यक्रम सरल है, हम इटली पर शासन करना चाहते हैं । वे हमसे कार्यक्रम पूछते हैं । किन्तु पहिले मे ही बहुत-से कार्यक्रम हैं । वास्तव मे इटली की ही मुक्ति के लिए कार्यक्रमों की कमी नहीं । आवश्यकता है मनुष्यों की तथा इच्छाशक्ति की । औपचारिक सिद्धान्त लोहे तथा टीन की बेड़ियाँ हैं ।" मुसोलिनी के कथन मे लोगों को दृढ आत्मविश्वास का प्रबल भाव दीखा, लोग उसके पीछे हो गये और वह इटली मे फासीवाद का प्रवर्तक, इटली का भाग्यविधाता तथा तानाशाह बन गया ।

यह मुसोलिनी कौन था ? मुसोलिनी का जन्म 29 जुलाई 1883 को इटली मे हुआ । इसका पिता एक लुहार और समाजवादी था तथा इसकी माँ अध्यापिका थी । मुसोलिनी की शिक्षा साधारण हुई थी । प्रारम्भ मे वह मजदूर रहा पर बाद मे अध्यापक बन गया । कुछ ही समय बाद वह क्रान्तिकारी हो गया । वह कुछ समय इटली से बाहर भी रहा, बाद मे अवन्ती (*The Avanti*) नामक उग्र-समाजवादी पत्र का सम्पादक बना । मुसोलिनी ने इस पत्र के माध्यम से मजदूरो को हिंसा का सामना हिंसा से करने की सलाह दी । 1914 मे जब प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ तो उसने क्रान्तिकारी तथा युद्ध-विरोधी आन्दोलन का नेतृत्व किया । उसका कहना था कि युद्ध मे इटली को तटस्थ रहना चाहिये । पर अचानक उसके विचारों मे परिवर्तन आया और वह युद्ध का पक्षपाती बन गया तथा कहने लगा कि इटली को मित्र-राष्ट्रो के साथ युद्ध मे लड़ना चाहिये । यह बहुत बड़ा परिवर्तन था । इसका परिणाम यह हुआ कि समाजवादियो ने उसे धोखेबाज कहकर दल से निकाल दिया। दल से निकलने के बाद उसने एक नये पत्र पोपोलो डि इतालिया (*The Popolo de Italia*) का सम्पादन किया, फिर वह स्वय सेना मे भर्ती भी हुआ और युद्ध मे लड़ते हुए घायल भी हुआ । अपने जीवन मे वह 11 बार जेल गया । 1917 मे उसने एक नये दल Fasci di Resistenze की स्थापना की । इसमे उसने सेना के बेकार सैनिकों को भर्ती किया । यही दल बाद मे फासी दल के नाम से पहिचाना गया । इस दल के लोगो का धर्म था हिंसा करना, मारपीट करना और विरोधियों को परेशान करना । अनेक बार शहरो मे मजदूरों से इनका संघर्ष हो जाता था, ये मजदूरों को मार भगाते थे, पर इस समय मे सरकार तटस्थ रहती थी। इस कारण फासीवादी लोगो का हौसला और भी बढ़ता था । समाजवादियो ने फासीवादी दल के कार्यों की निन्दा की पर मुसोलिनी पर इस सब का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। फासीवादी दल ने दो विरोधी विचारधाराओ का मेल साधा । पहिला यह कि उसने पूँजीपतियों से पैसा लिया तथा दूसरा यह कि गरीब जनता का समर्थन किया । प० जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है कि "मुसोलिनी के नेतृत्व मे फैसिस्टो ने दो विरोधी विचार-धाराओ का मेल साधा । प्रथम तो वे समाजवाद और साम्यवाद के कट्टर शत्रु थे, इससे उन्हें पूँजीपतियो की सहायता मिल गई । दूसरे मुसोलिनी पुराना समाजवादी

आन्दोलक और क्रान्तिकारी था। उसकी जबान पर अनेक पूंजी-विरोधी नारे रहते थे। ये नारे गरीबों को बहुत पसन्द आते थे। आन्दोलन के विशेषज्ञ साम्यवादियों से उसने यह कला भी खूब अच्छी तरह सीख ली थी।"'अमल में तो पूंजीपतियों का आन्दोलन था, परन्तु इसके कई रणनाद पूंजीवाद के लिए खतरनाक भी थे। इस तरह इसमें तरह-तरह के लोग शामिल हो गये।' 'धनवान् फासिस्ट यह समझने लगे कि मुसोलिनी उनकी सम्पत्ति का रक्षक है और पूंजीवाद के खिलाफ वह जो भाषण करता है और नारे लगाता है वे खाली सर्वसाधारण को धोखा देने की बातें हैं। गरीब फासिस्ट यह मानते रहे कि फैसिज्म में असली चीज तो यह पूंजीवाद का विरोध ही है और बाकी बातें अमीरों को खुश करने भर के लिए हैं।[2]

युद्ध के बाद इटली की परिस्थितियाँ खराब हो गईं। मुसोलिनी ने ऐसे अवसर पर क्रान्तिकारी मार्ग छोड़कर अवसर का लाभ उठाने के लिए प्रतिक्रियावादी मार्ग अपनाया। उसने समाजवाद का विरोध प्रारम्भ किया तथा समाजवादियों को परेशान करना प्रारम्भ कर दिया।

1921 के निर्वाचन में मुसोलिनी के दल के 35 सदस्य पार्लियामेण्ट में पहुँचे। यह कोई अधिक संख्या नहीं थी। 1922 में जब श्रमिक आन्दोलन अधिक हुए तो प्रतिक्रियावादी नेताओं ने एक गुप्त बैठक में निश्चय किया कि सेना द्वारा राज्य पर एकाधिकार स्थापित किया जाय। मुसोलिनी का सेना के अधिकारियों से काफी सम्पर्क था। सैनिक क्रान्ति के लिए जो नेता चुने गये, मुसोलिनी का स्थान उनमें तीसरा था। 1922 के अक्टूबर में फैसिस्टों की टुकडियों ने नियमित सेना-नायकों के नेतृत्व में रोम पर धावा बोल दिया। उस समय के प्रधान मन्त्री ने फौजी कानून की घोषणा की। पर स्थिति बदल चुकी थी, इटली का बादशाह खुद मुसोलिनी की तरफ हो चुका था। उसने फौजी कानून रद्द कर दिया और तत्कालीन प्रधान मन्त्री का त्यागपत्र स्वीकृत कर लिया तथा मुसोलिनी को प्रधान मन्त्री बना दिया। 30 अक्टूबर 1922 को फैसिस्ट सेना रोम पहुँची और उसी दिन मुसोलिनी मिलान से रेल द्वारा प्रधान मन्त्री बनने के लिए रोम पहुँचा। प्रधान मन्त्री बनने के पश्चात् 1926 में उसने ड्यूस (Duce) को भंग किया और इटली का तानाशाह बन गया। मुसोलिनी का जीवन काफी दिलचस्प और घुमावदार रहा। युवावस्था में मुसोलिनी कट्टर नास्तिक था और सत्ता-प्राप्ति के पूर्व उसका दल कैथोलिक धर्म का विरोधी था। सत्ता पाने पर मुसोलिनी ने ईश्वर की दुहाई देना प्रारम्भ किया और धीरे-धीरे पोप की धार्मिक प्रधानता को भी स्वीकार किया। एक समय मुसोलिनी क्रान्तिकारी संघवादी विचारक और नेता था, सत्ता पाने पर वह श्रमिक आन्दोलन के स्वतन्त्र अस्तित्व का परम शत्रु बना। सत्ता-प्राप्ति के पूर्व उसने जनवाद के समर्थन में कुछ घोषणायें की थीं। *1928 में उसने संसदीय जनवाद का अन्त किया। युवावस्था में वह शान्ति-प्रेमी था तथा 1911 में उसने त्रिपोली युद्ध के विपरीत*

[2] पं० जवाहरलाल नेहरू, विश्व-इतिहास की झलक, पृष्ठ 1156।

भीषण आन्दोलन किया और फलत: 5 महीने बन्दीगृह का अतिथि रहा। सत्ता-प्राप्ति के पश्चात् वह युद्ध-पिपासु बना। युवावस्था में यह पत्रकार था और इस नाते समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता का भक्त था। सत्ता-प्राप्ति पर उसका सर्वप्रमुख कार्य समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता का अन्त करना था। युवावस्था का जनवाद-प्रेमी मुसोलिनी अधिनायक बनने पर जनवाद का हत्यारा बना। सत्ता-प्राप्ति के एक वर्ष पूर्व उसने घोषित किया कि वह किसी भी प्रकार के अधिनायकत्व को स्वीकार नहीं करेगा। सत्ता-प्राप्ति पर उसने अपने पुराने समाजवादी साथियों को मरवाया, उन्हें जेलों में ठूंसा तथा देश छोड़ने के लिए बाध्य किया। यही नहीं, उसने उदारवादी तथा धार्मिक दलों के नेताओं को भी अन्य प्रकार से चुप रहने के लिए विवश किया। उनकी रचनात्मक आलोचना तक को वह सहन न कर सका।[3]

फासीवाद का सिद्धान्त

जिन रूपों में प्राय सिद्धान्तों और दार्शनिक मान्यताओं पर विचार किया जाता है फासीवादी सिद्धान्त पर उनसे भिन्न तरीके से विचार करना पड़ेगा। सामान्यत पहिले कुछ सिद्धान्तों को विकसित किया जाता है, कुछ सुनिश्चित नीतियों और कार्य-क्रमों का निर्धारण होता है, उसके पश्चात् निश्चित ध्येय और लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संगठन बनाये जाते है तथा प्रयत्न और आन्दोलन किये जाते हैं, पर फासीवाद की स्थिति एकदम भिन्न है, उसकी कोई निश्चित मान्यता, सिद्धान्त अथवा दर्शन नहीं है और न वह किसी निश्चित, सुस्पष्ट और सुविचारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संगठित ही किया गया। उसका नेतृत्व भी किसी एक ध्येय के लिए हर परिवर्तित स्थिति में दृढ नहीं रहा, पर अत्यन्त बदले हुए तरीकों से परिस्थितियों का लाभ उठाकर जिस स्थिति पर पहुँचा वही उसका लक्ष्य बन गया और उसके बाद वहीं जाकर सिद्धान्त विकसित किये गये अर्थात् फासीवाद एक ऐसा सिद्धान्त है जो सुविचारित एवं सुव्यवस्थित चिन्तन का परिणाम न होकर परिवर्तित परिस्थितियों की देन है। 1920 में मुसोलिनी ने कहा था कि फासिस्ट "किसी भी तरह के निश्चित सिद्धान्तों के बन्धन से मुक्त है। उसके सामने एक ही ध्येय है, वह है इटली-निवासियों का भावी हित। इस ध्येय की ओर वे अविश्रान्त गति से बढ रहे हैं।" पर 'इटली निवासियों का भावी हित' बड़ा व्यापक और अस्पष्ट वाक्य है।

इटली के विश्वकोष में फासीवाद की उत्पत्ति पर मुसोलिनी ने एक लेख लिखा। उसमें उसने स्पष्ट किया कि जब वह रोम के लिए रवाना हुआ उस समय उसके दिमाग में आगे के लिए कोई निश्चित योजना नहीं थी, अर्थात् प्रधान मन्त्री बनते समय तक भी उसके सामने कोई मान्यतायें या कोई तत्वज्ञान स्पष्ट नहीं था। बाद में उसे लगा कि फासीवाद का कोई राजदर्शन होना चाहिए। अत: उसने 1929 में सरकारी आज्ञा द्वारा फासीवाद के दर्शन को विकसित करवाया, कुछ

[3] गणेश प्रसाद उनियाल, राजनीतिक विचारधारायें, पृष्ठ 290–291।

सिद्धान्त और मान्यतायें निश्चित करवायो। फासीवाद की कोई निश्चित पुस्तक, व्यवस्था या सिद्धान्त नही। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है, जैसा कि सेबाइन का विचार है, कि "उनकी पद्धति में भीड के मनोविज्ञान और आतंकवाद का सम्मिश्रण था। उनके नेताओं का केवल एक ही उद्देश्य था—शक्ति को प्राप्त करना और उसे बनाये रखना।"[4] मुसोलिनी ने कहा था, "फासीवादी किसी व्यवस्था, सन्त-महन्त तथा सिद्धान्त के उपासक नहीं हैं और उनमें भी कम वे प्रसन्नता, मोक्ष तथा काल्पनिक लोक में विश्वास करते हैं। वे प्रत्येक वस्तु के समर्थक हैं जो व्यक्ति के जीवन को सुन्दरतर, आरामदेह, उच्चतर, स्वतन्त्र एवं विशाल बनाती है।"[5]

उपरोक्त तथ्यो को देखते हुए ऐसा लगता है कि फासीवाद कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है, पर कुछ ऐसी निश्चित चीजें अवश्य हैं जो फासीवाद के साथ सम्बद्ध हैं और जिनको उससे पृथक् नही किया जा सकता, जैसे भूतकाल के बारे में उसका एक निश्चित दृष्टिकोण, राज्य, राष्ट्र और कार्यपद्धति के सम्बन्ध में उसकी खास मान्यताएँ, उस पर भीड मनोविज्ञान का प्रभाव, आदि। ये सब फासीवाद को समझने के लिए काफी सहायक और उसके स्वरूप को प्रगट करने में काफी उपयोगी हैं। इनके आधार पर कहा जा सकता है कि फासीवाद के मुख्य सिद्धान्त निम्न हैं।

अवसरवाद

फासीवाद की विचारधारा और मान्यताओं मे समय और आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते रहे हैं। उसका कोई निश्चित कार्य-क्रम और तत्वदर्शन नही था। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हर सम्भव तरीके को अपनाना उसकी कार्य-पद्धति में था। मुसोलिनी कहा करता था कि फासीवाद शाश्वत नियमो का विरोधी है। उसका कहना था कि औपचारिक सिद्धान्त लोहे की जजीरों के समान हैं। "फासिस्ट इटली की राजनीति के जिप्सी हैं। वे किन्ही निश्चित सिद्धान्तो में बँधे हुए नहीं हैं। वे बिना किसी बाधा के निरन्तर एक उद्देश्य की ओर अग्रसर होते हैं और वह उद्देश्य है—इटली के लोगो के भविष्य का कल्याण।" पर इस कल्याण की प्राप्ति अवसर से लाभ लेकर ही हो सकती है, केवल सिद्धान्तो से चिपके रहकर नही।

फासीवाद की अवसरवादिता को देखकर ही एक आलोचक ने इसकी तुलना एक वेश्या से की है। जिस प्रकार वेश्या अनेक व्यक्तियों को रिझाती है उसी प्रकार फासीवाद ने कुछ समय तक साम्यवादियो को, कुछ समय तक जनवादियों को और काफी समय तक संघवादियो को सहयोग दिया। इतना ही नही फासीवाद ने उदारवाद का समर्थन किया और बाद मे उसका विरोध किया। उसने एक ही समय में

[4] जार्ज एच० सेबाइन, राजनीति दर्शन का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 804।

[5] "Fascists put no faith in any system, nostrum, saint or apostle, still less do they believe in happiness, salvation or the promised land, they stand for everything that exalts and ennobles the individual and gives him more comfort, more liberty and wider life"

पूंजीपतियो का साथ दिया और पूंजीपति-विरोधी ग्राम जनता का विश्वास भी प्राप्त किया। मुसोलिनी कट्टर नास्तिक भी बना और उसने सत्ता मे आने पर पोप की धार्मिक प्रधानता को भी स्वीकार किया। वह शान्तिप्रेमी भी रहा और बाद मे रक्त-पिपासु भी बन गया। इस प्रकार अवसर के अनुकूल मुसोलिनी ने अपने को बदला। लास्की ने जेम्स के जिस अर्थ क्रियावाद सिद्धान्त द्वारा राज्य को व्यक्ति-हित के अधीन बनाया था मुसोलिनी ने अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए उसी जेम्स के सिद्धान्त के आधार पर व्यक्तियो को राज्य के अधीन बनाया। इस प्रकार फासीवादी दर्शन अवसरवादी (Opportunist) दर्शन है।

अविवेकवाद

मुसोलिनी जिन तमाम दार्शनिको से प्रभावित हुआ था, उनमे विलियम जेम्स, बर्गसां और सोरेल प्रमुख थे। ये सभी दार्शनिक अविवेकवादी हैं। सोरेल सघ समाजवाद का प्रमुख दार्शनिक था। उसने मजदूरो के अन्दर वर्ग-सघर्ष के विचार को प्रेरणावाद (Intuitionism) के साथ मिलाया। इससे उसने इस विचार को विकसित किया कि प्रेरणा और भावना के द्वारा श्रमिको मे वर्ग-सघर्ष की भावना को सदैव जागृत रखा जा सकता है। वह अन्धश्रद्धा का भी समर्थक था। उसने विश्वव्यापी आम हड़ताल के विचार को सामने रखा। इसके सम्बन्ध मे उसका विचार था कि आम हडताल मजदूरो के लिए एक अन्धश्रद्धा (Myth) बन जानी चाहिए। यह अन्धश्रद्धा मजदूरो को सघर्षशील बनाये रखेगी तथा उन्हे स्फूर्ति देगी। इस अन्धश्रद्धा के पीछे कोई बौद्धिक आधार नही होता। मुसोलिनी ने सोरेल के दर्शन का प्रयोग अधिनायकवाद को पुष्ट करने के लिए किया। तभी तो उसने कहा कि मेरा "कार्यक्रम कार्य है, विचार नही।" उसने अन्धश्रद्धा को जगाया। उसने कहा, "हमारी अन्धश्रद्धा हमारा राष्ट्र है, हमारी अन्धश्रद्धा हमारे राष्ट्र की महानता है। विश्वास (Faith) ही पर्वतो को हिला सकता है, तर्क नही। तर्क एक औजार हो सकता है परन्तु जनता की प्रेरक शक्ति (Motive force) नही।"[6]

फासीवाद व्यक्ति को स्वभाव से तार्किक, बुद्धिवादी और विवेकशील (Rational) प्राणी नही मानता, इसके विपरीत उसका विश्वास है कि व्यक्ति भावात्मक और प्रवृत्तिवादी प्राणी है, अर्थात् व्यक्ति विभिन्न कार्यों को सम्पादित करने मे बुद्धितत्व की अपेक्षा विचारो और भावनाओ से अधिक प्रभावित होता है। इसलिए फासीवाद की मान्यता है कि आम जनता मे सरकार के प्रति निष्ठा को जागृत किया जाये और उसे बनाये रखा जाये। आम जनता के अन्दर नेता के प्रति काल्पनिक विश्वास पैदा किया जाये, इसी से राजनीतिक सफलता प्राप्त होगी।

[6] "Our myth is our nation, our myth is the greatness of the nation . it is faith moves mountains, not reason Reason is a tool, but it can never be the motive force of the crowd "

—Mussolini quoted by McGovern, *From Luther to Hitler*

यही कारण था कि फासीवाद ने इटली की जनता को दो नारे दिये, (अ) मुसोलिनी सदैव ठीक बात कहता है। (Mussolini is always right.), तथा (ब) मुसोलिनी के आदेशो व आज्ञाओ मे हमेशा विश्वास करना चाहिए, उनका पूरी तरह पालन करना चाहिए और उनके लिए युद्ध तक के लिए तैयार रहना चाहिए। (To have faith, to obey and to fight.)

साम्राज्यवाद समर्थक

मुसोलिनी का विचार था कि "प्रत्येक सरकार अथवा राष्ट्र को अन्य राष्ट्रो पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से शासन करते हुए एक साम्राज्य बनाने का ध्येय अपने सामने रखना चाहिए।" नीट्से (Neitzsche) के समान वह भी यह मानता था कि विश्व मे सघर्ष केवल जीवित रहने के लिए नही वरन् सत्ता स्थापित करने के लिए है। नीट्से ने इस बात पर बल दिया कि 'प्रभुत्व की इच्छा' ही विकास का प्रारम्भिक सिद्धान्त है। यही बात मुसोलिनी मानता था। व्यक्ति के समान राष्ट्र भी केवल जीने के लिए नही अपितु अपने यश की वृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इसके लिए वे सघर्ष भी करते हैं।

इस मान्यता को आधार मानकर यदि विचार किया जाये तो साम्राज्य-स्थापन की बात स्वाभाविक और अनिवार्य-सी लगती है। या तो हमे साम्राज्य स्थापित करना चाहिए और अपने यश तथा कीर्ति का विकास करना चाहिए अथवा हमे समाप्त हो जाना चाहिए। मुसोलिनी का स्पष्ट विचार था कि बिना साम्राज्यवाद स्थापित किये और युद्ध किये इटली प्रगति नही कर सकता। "या तो इसे (इटली को) विस्तार करना चाहिए या मर जाना चाहिए।" (Italy must expand or die.) जिस राष्ट्र मे साम्राज्य-निर्माण की उत्कृष्ट भावना नही होती उस जाति का पौरुष नष्ट हो जाता है और वह समाप्तप्राय हो जाती है। मुसोलिनी ने इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीयता तथा विश्वबन्धुत्व जैसी बातो की हँसी उडाई। वह इनको भ्रामक मानता था। उसके लिए ये अर्थहीन विचार थे। एक राष्ट्र के लिए साम्राज्यवाद जीवन की अनिवार्य शर्त है।

परम्परावाद

परम्परावाद फासीवाद की प्रमुख विशेषता है। अपने प्रारम्भिक दिनो मे मुसोलिनी सभी प्रकार की परम्पराओ का विरोधी था। वह समाजवादी सस्कारो का होने के कारण एक ऐसे नये समाज के विचार मे तल्लीन था, जो पूर्णत नया होगा। पर सत्ता मे आने के बाद स्थिति यकायक बदल गई। उसे लगा कि अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए और अपनी लालसा की पूर्ति के लिए इटली की परम्पराओ का पूर्णत उपयोग किया जा सकता है। अत उसने इटली की परम्पराओ का, अतीत के इतिहास का, गौरवशाली उज्ज्वल दिनो का गुणगान करना प्रारम्भ कर दिया। साम्राज्यवादी भावनाओ को उत्तेजित करने के लिए वह प्राय प्राचीन रोमन साम्राज्य का उदाहरण दिया करता था। उसने स्वय को इटली की

महान्तम परम्पराओं को आगे बढ़ाने वाला बतलाया। परम्परा की ओर अतीत के यशोगान की बातें करने में विवेक तो लगता नहीं, उलटे लाभ यह है कि सामान्यजन की भावना को उभाड़ कर अपने कार्य की सिद्धि के लिए उनका उपयोग किया जा सकता है। अतः मुसोलिनी ने यही किया। उसने बतलाया कि उसका लक्ष्य रोमन साम्राज्य एवं इटली के प्राचीन वैभव को पुनः प्राप्त करना है और यह फासीवाद द्वारा किया जा सकता है। दूसरी ऐसी कोई विचारधारा नहीं है।

इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त फासीवाद की कुछ अन्य मान्यतायें एवं सिद्धान्त भी हैं। उन पर विचार विभिन्न शीर्षकों में करना सुगम और ठीक होगा।

प्रायः यह कहा जाता है, और यह कथन काफी कुछ ठीक भी है, कि फासीवाद उदारवाद, प्रजातन्त्र और समाजवाद का विरोधी है अर्थात् जितनी भी कुछ आधुनिक विशिष्ट राजनीतिक मान्यतायें और विचारधारायें हैं, फासीवाद उन सब का विरोधी है। इस बात पर क्रम से विचार करें कि इन सबसे फासीवाद कहाँ विपरीत जाता है।

उदारवाद और फासीवाद

उदारवाद व्यक्ति को महत्त्व प्रदान करता है। वह सरकार के उस रूप की आलोचना करता है जो शक्ति-सचय करे तथा व्यक्ति के महत्त्व को कम आँके। उदारवाद के लिए व्यक्ति साध्य है और राज्य का कार्य व्यक्तियों के हितों की वृद्धि के लिए कार्य करना है। उदारवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थक और उसमें विकास करने का पक्षपाती है। उदारवाद व्यक्ति के महत्त्व को राज्य अथवा राष्ट्र से कम नहीं आँकता। उदारवाद यह मानता है कि समाज का व्यक्तियों से पृथक् कोई महत्त्व नहीं है।

फासीवाद उस सबसे भिन्न और विपरीत है, जो कुछ उदारवाद में है। फासीवाद हीगेल के आदर्शवादी दर्शन से प्रभावित था। हीगेल के विचारों का इटली पर काफी कुछ प्रभाव पड़ा। जेन्टाइल (Gentile) नवीन हीगेलवादी दार्शनिकों में से एक था। उसने फासीवादी विचारधारा पर हीगेलवाद के रंग को चढ़ाया। फासीवाद उदारवाद की परम्परा का खण्डन करता है। उदारवाद स्वतन्त्रता का हामी और दृढ़ समर्थक विचार है, इसके विपरीत फासीवाद ने स्वतन्त्रता की नवीन परिभाषा प्रस्तुत की। उसके अनुसार स्वतन्त्रता कोई प्राकृतिक देन नहीं है, वरन् राज्य के द्वारा स्वीकृत की गई एक रियायत (Concession) है। फासीवाद में स्वतन्त्रता सम्बन्धी अवधारणा ही भिन्न है। उसने स्वतन्त्रता की उदारवादी व्याख्या ही बदल दी। जेन्टाइल (Gentile) के अनुसार, "कानून और राज्य स्वाधीनता की चरम परिणतियाँ हैं, तथा अधिकतम स्वाधीनता राजकीय बल के साथ मिलकर एक हो जाती है।"[7] यह व्याख्या स्वतन्त्रता की 'राज्या-

[7] "Law and the state are supreme manifestations of liberty and maximum of liberty coincides with maximum of state force." —Gentile.

धीन स्थिति' को स्पष्ट करती है। यह राज्य द्वारा निर्मित स्वतन्त्रता है। इसमे स्वतन्त्रता के उस पृथक् एव स्वतन्त्र महत्त्व को समाप्त कर दिया गया है, जिसके लिए वह राज्योन्मुखी नही है। फासीवादी मान्यता तो यह है कि जैसे-जैसे राज्य की शक्ति मे विस्तार होगा वैसे ही वैसे स्वतन्त्रता का क्षेत्र व्यापक होता जायेगा। व्यक्ति की स्वतन्त्रता वैसे ही नहीं अपितु कानून के घूँसे द्वारा रक्षित की जाती है। (Liberty is guarded by the mailed fist of law.) मुसोलिनी के विचार स्वतन्त्रता सम्बन्धी फासीवादी मान्यता को और भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं। उसका कहना है कि "फासीवादी राज्य ने व्यर्थ और हानिपूर्ण स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया है और मानव को वही स्वतन्त्रतायें प्रदान की गई हैं जो उसके लिए आवश्यक समझी गई हैं। इन सब बातों का निर्णायक व्यक्ति नही वरन् राज्य है।"[8] फासीवाद का एक प्रसिद्ध विचारक हुआ है रॉको (Rocco)। उसने तो तुलनात्मक रूप से *स्वतन्त्रता सम्बन्धी फासीवादी मान्यता को स्पष्ट किया है। वह* कहता है कि "स्वतन्त्रता से सम्बन्धित एक ओर तो उदारवादी सिद्धान्त है और दूसरी ओर फासीवादी सिद्धान्त है। हम भी उन आवश्यक दशाओ की रक्षा करते हैं जो व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से अपना विकास करने के लिए आवश्यक हैं, किन्तु हम उन अधिकारपत्रों को स्वीकार नही करते जो मानव को राज्य के ऊपर स्थान प्रदान करते हैं और उनको ऐसे अधिकार प्रदान करते हैं कि वे समाज के विरुद्ध आचरण कर सकें। हम स्वतन्त्रता के उस सिद्धान्त को मानते हैं जिसके अनुसार मानव राज्य *की इच्छा के अनुसार अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके।"[9] यह स्वतन्त्रता सम्बन्धी* फासीवादी धारणा है। उदारवाद यह मानता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार प्राकृतिक है, फासीवाद ने इस मान्यता को अस्वीकार किया। वह प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को स्वीकार ही नही करता। उसके अनुसार अधिकार केवल राज्य द्वारा ही दिये जाते हैं। उदारवाद साहित्य और कला और विज्ञान के स्वतन्त्र विकास का समर्थक है, फासीवाद में ऐसा नही है।[10]

[8] "The Fascist state has curtailed useless or harmful liberties while *preserving those which are essential In such matters the individual cannot* be judge, but the state only" —Mussolini

[9] "There is a liberty theory of freedom and there is a fascist concept of liberty We, too, maintain the necessity of safeguarding the conditions for the free development of the individual we do not, however, accept a bill of rights which tends to make the individual superior to the state and empowers *him to act in opposition to society Our concept of liberty is that individual* must be allowed to develop his personality on behalf of the state" —Rocco

[10] इटली मे फासीवादी सरकार ने दो संस्थाओ की स्थापना की—(i) Italian Royal Academy, और (ii) The National Fascist Institute *of Culture.* *पहिली संस्था ने विज्ञान तथा कला को फासीवाद के अनुकूल ढाला,* दूसरी ने जनता मे फासीवादी दृष्टिकोण को विकसित किया एव फासीवादी संस्कृति का प्रचार किया। ये सब प्रयत्न सरकार द्वारा कराये गये।

व्यक्तिवाद और फासीवाद

उदारवाद के समान ही, फासीवाद व्यक्तिवाद का भी विरोधी है। व्यक्तिवाद व्यक्ति को स्वयं पूर्ण इकाई मानता है। उसकी मान्यता है कि समाज व्यक्तियों के योग का परिणाम है, उसका कोई सावयव रूप नहीं है। व्यक्तिवाद व्यक्ति के अधिकारों एवं राज्य से पृथक् उसकी सत्ता और हितों को स्वीकार करता है। व्यक्तिवाद इस तथ्य को मान्य करता है कि व्यक्तियों के हितों का योग ही समाज का हित है। व्यक्ति का हित क्या है, यह राज्य निश्चित नहीं करेगा, अपितु स्वयं व्यक्ति ही तय करेगा। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य इसका मूल है। इसकी आस्था प्रजातन्त्र प्रणाली की सरकार मे है। व्यक्तिवाद राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित करने का पक्षपाती है। व्यक्तिवाद का निश्चित मत है कि हमे स्वतन्त्रता और अधिकारों की प्राप्ति राज्य की कृपा के कारण नहीं हुई है वरन् ये व्यक्ति को प्रकृति द्वारा प्रदत्त हैं। व्यक्ति साधन नहीं, राज्य साधन है।

फासीवाद ने व्यक्तिवादी दर्शन पर कठोर प्रहार किया। मुसोलिनी यह बर्दाश्त ही नहीं कर सकता था कि व्यक्ति राज्य से बड़ा है और उसे असीमित अधिकारों की प्राप्ति एवं पूर्ण स्वतन्त्रता है। यह तो सर्वाधिकारी राज्य के सिद्धान्त के विपरीत जाता है। कोई भी तानाशाह यह कैसे सह लेगा कि राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित किया जाए और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विरुद्ध कानून ही न बनाया जाए। फासीवाद ने इस मान्यता की कटु आलोचना की कि व्यक्ति का लक्ष्य अपने सुखों का सम्पादन करना है। उसके अनुसार व्यक्तिगत सुख नाम की कोई चीज नहीं। मुसोलिनी ने इसी आधार पर बैंथम के उपयोगितावादी सिद्धान्त की आलोचना की। उसके विचार मे भौतिक सुखों को प्राप्त करना और उनसे सन्तुष्ट होना यह तो निरा पशुता का लक्षण है। मनुष्य पशु से बड़ा है। उसका आदर्श उच्च आदर्श है। निम्नकोटि के आदर्श की ओर मनुष्य को प्रवृत्त करने की बात तो अठारहवीं सदी के अर्थशास्त्रियों की देन है। आज यह दृष्टिकोण उपयुक्त नहीं। फासीवाद का विचार है कि एक व्यक्ति अपने जीवन मे सुख की प्राप्ति कर ही नहीं सकता, सुख-प्राप्ति जीवन में सम्भव है ही नहीं। इस प्रकार फासीवाद जीवन के प्रति निराशावादी दृष्टि को लेकर चलता है। जहाँ तक व्यक्ति के अधिकारों का प्रश्न है, फासीवाद की मान्यता है कि व्यक्ति को अधिकारों की नहीं वरन् अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने की चिन्ता करनी चाहिए। फासीवाद यह नहीं मानता कि व्यक्तियों का योग समाज है। वह तो राज्य के सावयवी सिद्धान्त को स्वीकार करता है। जहाँ तक राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धों का प्रश्न है, फासीवाद व्यक्तिवाद का उल्टा है। फासीवाद यह मानता है कि व्यक्ति, उसकी शक्ति, उसकी सामर्थ्य और उसके अन्दर जितने भी गुण हैं वे सब राज्य के लिए हैं। व्यक्ति का यह परम कर्त्तव्य है कि वह राज्य की श्रीवृद्धि के लिए कार्य करता रहे। इसी मे उसका मंगल है। आदर्श व्यक्ति का लक्ष्य समाज-

सेवा, राज्य-सेवा और राष्ट्र-सेवा है। राज्य के बाहर व्यक्ति का कोई मूल्य और अस्तित्व नहीं है। जो कुछ भी है उस सबका प्रकाशन और उस सबका प्रयोग राज्य में ही सम्भव है। मुसोलिनी कहता था, कि "राज्य के अन्दर सब कुछ, राज्य के बाहर कुछ नहीं" (Everything within the State, nothing against the State)। राज्य सर्वोच्च और सर्वोपरि है। मुसोलिनी फासीवादी राज्य को एक चेतन शक्ति मानता था ; उसका अपना व्यक्तित्व, एवं उसकी अपनी इच्छाशक्ति है। व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन राज्य की परिधि के अन्दर घूमता है। व्यक्तिवाद के विरुद्ध फासीवादी राज्य सम्बन्धी अवधारणा राज्य को स्वीकार करके एवं उसे अनिवार्य मानकर प्रारम्भ होती है। राज्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का मनचाहा उपयोग कर सकता है। व्यक्ति को राज्याज्ञा का पालन करना ही चाहिए। यदि व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन नहीं करता है तो राज्य अपनी शक्ति का प्रयोग करके उसे राज्याज्ञा पालन करने के लिए बाध्य कर सकता है। फासीवादी मान्यता तो यह है कि राज्य के विरुद्ध सोचना भी पाप है, इस प्रकार फासीवाद के विचार में *व्यक्तिवादी किसी भी मान्यता को तनिक भी स्थान नहीं है। व्यक्तिवाद औद्योगिक* क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप का विरोधी है पर फासीवाद का दृष्टिकोण ही इस सम्बन्ध में अलग है। वह व्यक्तिवाद से तनिक भी नहीं मिलता।

प्रजातन्त्र और फासीवाद

फासीवाद प्रजातन्त्र का विरोधी है। प्रजातन्त्र सभी नागरिकों के राजनीतिक अधिकारों को स्वीकार करता है, और जनता के शासन का समर्थक है। इसमें सभी *की कीमत एक है, एक से अधिक नहीं। सभी समान रूप में अपने अधिकारों का प्रयोग* करते हैं। फासीवाद उपरोक्त किसी भी बात पर विश्वास नहीं करता। संसदीय रूप की सरकार को फासीवाद मूर्खतापूर्ण, भ्रष्ट, धीमे चलने वाली, काल्पनिक, *अव्यावहारिक तथा अयोग्य प्रणाली* (Stupid, corrupt, slow-moving, visionary and impracticable system) कहता है। यह सबसे अधिक बेकार पद्धति है जो समाप्तप्राय होने वाली है। ऐसा ही विचार संसदों (Parliaments) के प्रति है, जहाँ गम्भीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात् एवं प्रत्येक पहलू पर उसके औचित्य-अनौचित्य पर सोचने के बाद कानून बनाया जाता है। फासीवाद के अनुसार संसदें गपशप करने वाली दुकानें हैं जो कोई भी वास्तविक कार्य नहीं कर सकती हैं (Parliaments are talking shops, incapable of accomplishing substantial results)।

फासीवादी विचार अपने मूल रूप में ही प्रजातन्त्र-विरोधी है। फासीवाद की यह मान्यता है कि जनता कभी भी अपने आप पर शासन करने के योग्य नहीं होती। ऐसे कुछ ही लोग होते हैं जिनमें शासन करने की योग्यता होती है। अतः उचित और मानव हित में तो यही ठीक है कि शासन करने की शक्ति किन्हीं सीमित, योग्य व्यक्तियों के हाथों में दे दी जाय। आम जनता को शासन करने से कोई सरो-

कार नहीं होना चाहिये। उनका काय तो राज्याज्ञा को मानना और तदनुसार व्यवहार करना है। सामान्य व्यक्ति मे विवेक और आवश्यक दूरदर्शिता की कमी रहती है, वह तो भावना के द्वारा कार्य करता है। फासीवाद का विश्वास लोक-प्रभुता (Popular Sorvereignty) की धारणा मे नहीं है। यह धारणा प्रजातन्त्र का आधार है। फासीवाद कुलीनतन्त्री शासन तथा निरकुश शासन का समर्थक है। वह असमानता के विचार को स्वीकार करके चलता है। मानव जाति मे विषमता रहती ही है, उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। मुसोलिनी का कहना था कि तानाशाही, मनुष्य जाति के लिए स्थिर, लाभदायक तथा फलवान् वैषम्य को स्वीकार करती है।" शासन मे सख्या का कोई महत्त्व नहीं है। मुसोलिनी कहता था कि "फासीवाद इस बात को स्वीकार नहीं करता कि समाज मे मनुष्यो की सख्या किसी विषय के निर्धारण के योग्य है। वह समय-समय पर विचार-विमर्श द्वारा शासन करने का भी विचार करता है। वह समस्त व्यक्तियों को मताधिकार देने के समर्थन मे नहीं था क्योकि समस्त व्यक्तियो मे समान योग्यता का अभाव रहता है।[11]

प्रजातन्त्र मतवैभिन्य और अनेक राजनीतिक दलो के अस्तित्व को स्वीकार करके चलता है, फासीवाद मतवैभिन्य तो दूर, रचनात्मक आलोचना को भी बर्दाश्त नहीं करता। फासीवाद विभिन्न राजनीतिक दलो के सगठित होने की स्वतन्त्रता को भी स्वीकार नहीं करता। मुसोलिनी ने सत्ता प्राप्त कर लेने के पश्चात् यह आज्ञा-सी निकाल दी कि विरोधियो का जीना कठिन या 'असम्भव' बना दिया जाय, कोई दूसरा दल, सगठन और सस्था जीवित न रहने पावे, जो कुछ हो फासिस्ट हो।[12] सत्ता सम्हालते ही विशिष्ट राजनीतिज्ञो की हत्या का क्रम प्रारम्भ हो गया। 1924 मे गियाकोमी मेटिमोरी नामक समाजवादी नेता की हत्या की गई, हत्यारे बिना सजा के ही छूट गये, उदार दल के नरम नेता अमेण्डोला की मृत्यु मार के कारण हुई। भूतपूर्व उदार प्रधान मन्त्री निटी कठिनाई से ही जान बचाकर इटली से भाग सका।[13] ये कुछ उदाहरण इस बात को प्रगट करते हैं कि फासीवाद का प्रजातन्त्र और उसकी पद्धति से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह विशुद्ध तानाशाही व्यवस्था का हिमायती है।

प्रजातन्त्र मे वीर-पूजा को कोई स्थान नहीं है, प्रजातन्त्र की मूल अवधारणा ही इसके विपरीत है, पर फासीवाद वीर-पूजा मे विश्वास करता है। एक श्रेष्ठ और उच्च व्यक्ति के निर्देशन और मार्गदर्शन मे कार्य करते रहना चाहिये तथा

[11] "Fascism denies that number as such can be the determining factor in human society, it derives the right of numbers to govern by means of periodic consultations, it asserts the irremediable and fertile beneficent equality of man, who cannot be levelled by any such mechanical and extrinsic device as universal suffrage" —Mussolini.

[12] प० जवाहरलाल नेहरू, विश्व इतिहास की झलक, पृष्ठ 1160।

[13] वही, पृष्ठ 1159।

अपनी सम्पूर्ण शक्ति तथा सामर्थ्य उसको ही अर्पित कर देनी चाहिये, यही फासीवाद है। कार्लाइल कहता था कि "किसी वीर की पूजा किसी महान् व्यक्ति की अत्यन्त श्रेष्ठ स्तुति है। मनुष्य के हृदय में अपने से बढकर उच्च व्यक्ति के लिए प्रशसा की इससे बढकर अच्छी भावना और नही है"'समाज का आधार वीर-पूजा पर है। फासीवाद विस्तारवादी, साम्राज्यवाद-समर्थक और युद्ध-पिपासु है। ये सब तत्त्व मूलत प्रजातन्त्र की मान्यताओ के विपरीत जाते हैं। जिस राजनीतिक विचारधारा का सम्बन्ध हीगेल के दर्शन से हो, जो नीट्से तथा कार्लाइल के विचारो को अपनी मान्यताओ का आधार मानती हो, जो सर्वाधिकारी प्रवृत्ति की हो, तथा एक तानाशाही के शासन मे जिसका विश्वास हो, उसका प्रजातन्त्र से मेल बैठना असम्भव ही है।

समाजवाद और फासीवाद

प्रजातन्त्र की भाँति फासीवाद समाजवाद का भी विरोधी है। यद्यपि मुसोलिनी का पिता समाजवादी था, और वह स्वय भी प्रारम्भिक समय मे समाजवादी सस्कारो मे पला और रहा तथा समाजवादी पत्र अवन्ती का वर्षो तक सम्पादक भी रहा, तथापि बाद मे मुसोलिनी पूरी तरह बदल गया। उसके विचारो मे बहुत-से परिवर्तन हुए और वह समाजवाद का घोर विरोधी बन गया।

समाजवाद वर्ग-सघर्ष मे विश्वास करता है, समाजवाद व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोधी है, वह मजदूरो मे 'ट्रेड यूनियन' सगठनों को स्वीकार करता है, उसका विश्वास है कि यह मजदूरो का मूल अधिकार है। राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र मे समाजवाद की अपनी विशिष्ट मान्यताये हैं। समाजवाद मूलत किसी धार्मिक या मजहबी विश्वास अथवा आध्यात्मिक मान्यताओं को स्वीकार नहीं करता। उसका लक्ष्य मनुष्य की भौतिक प्रगति की सम्भावनाओं एव साधनो को जुटाना है। फासीवाद समाजवाद की उपरोक्त सभी मान्यताओ का विरोध करता है, वह निजी सम्पत्ति के अधिकार का समर्थन करता है। फासीवाद का विश्वास है कि पारिवारिक सम्बन्धो की दृढता एव विकास के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है। फासीवाद वर्ग-सघर्ष को अस्वीकार करता है। राज्य के गौरव की प्राप्ति के लिए वर्ग-सघर्ष नही, वर्ग-समन्वय तथा वर्ग-सहयोग आवश्यक हैं। समाज मे सभी जन अपने कर्तव्यो को पूरा करें यह आवश्यक है। फासीवाद ने हडतालो का विरोध किया। एक तानाशाह के नाते मुसोलिनी किसी भी प्रकार की उस पद्धति का जो उसकी अपनी निश्चित व्यवस्था के यद् किंचित् भी विरुद्ध जाती हो विरोध करता था। उसने मजदूरो के हडताल करने के अधिकार को स्वीकार नही किया। इसी प्रकार उसने 'ट्रेड यूनियन' के स्थान पर 'फासीवादी श्रमिक सगठन' स्थापित किये। फासीवाद यह नही मानता कि राज्य का कार्य व्यक्ति की भौतिक सुख-सुविधाओ का विकास करना है, केवल भौतिक सुखो की प्राप्ति से अथवा आर्थिक समृद्धि से मनुष्य को सुख की प्राप्ति नही होती। इस सम्बन्ध मे मुसोलिनी का वह कथन जो उसने विश्वकोष

मे दिये अपने लेख मे व्यक्त किया काफी प्रसिद्ध और प्रभावशाली है। वह लिखता है कि "फासीवाद इस बात को अस्वीकार करता है कि भौतिकवादी साधनो के द्वारा सुख प्राप्त किया जा सकता है 19वी सदी के पूर्वार्द्ध के आविष्कर्ताओ और अर्थशास्त्रियों का यह विचार था। इसका अभिप्राय यह है कि फासिज्म समानता और सुख के ऐसे सिद्धान्तो को नही मानता जिनके अनुसार मनुष्य पशुओं के धरातल पर आ जाए और केवल खाने-पीने और मोटे होने की ही चिन्ता करे तथा इस प्रकार मानवता केवल शरीर के धरातल पर ही जीवित रहने लगे।"[11]

फासीवाद की अपनी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ हैं जो समाजवाद से भिन्न हैं। फासीवाद मे आर्थिक नीति का निर्धारण 'राष्ट्रीय एकता और आवश्यकता' के व्यापक आधार पर होना है। इसी कारण न तो वे पूरी तरह व्यक्तिवादियो की भांति 'यद् भाव्यम नीति' के समर्थक हैं और न समाजवादियो की भांति 'राष्ट्रीयकरण' की नीति के ही समर्थक हैं। पहिले तो फासीवाद ने परम्परागत व्यक्तिवादी आर्थिक नीति को अस्वीकार नही किया, पर धीरे-धीरे और विशेषत *1929 के विश्वव्यापी आर्थिक सकट का लाभ उठाकर उसने व्यक्तिवादी आर्थिक* नीति को बदल दिया। उसने आर्थिक क्षेत्र मे पूरा हस्तक्षेप किया। फासीवाद ने राष्ट्रीय हित तथा एकता को ध्यान मे रखकर व्यक्तिगत सम्पत्ति को स्वीकार किया। किन्तु जहां पूंजीवाद राष्ट्रीय हितो के विरुद्ध जाता हो वहाँ वे समाजवाद की ओर झुके। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति को आवश्यक मानते हैं परन्तु वह भी अनिवार्यत राष्ट्रीय हितो के अधीन होनी चाहिए। इसी कारण फासीवाद एक ओर मजदूरो को हड़ताल आदि करने का अधिकार नही देता, कारण, इसका प्रभाव उत्पादन पर पडता है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय हित को आघात पहुँचता है तथा दूसरी ओर मिल-मालिको एव पूंजीपतियों को भी तालाबन्दी का अधिकार नही देता, कारण ऐसा करने से भी राष्ट्रीय हितों को हानि होती है। फासीवाद ने वस्तुओ के मूल्य, वेतन और प्रकार आदि सभी राष्ट्रीय हित की दृष्टि से *निश्चित किए।*

साम्यवाद और फासीवाद

साम्यवाद और फासीवाद के सम्बन्ध मे विचार करना काफी महत्वपूर्ण और उपयोगी है राजनीति विज्ञान मे फासीवाद और साम्यवाद दोनो ही बहुचर्चित शब्द है। यह भी कम सुयोग की बात नही है कि दोनो का ही प्रादुर्भाव प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् की विशिष्ट परिस्थितियो मे हुआ है। दोनो ही विचारधाराओ मे कुछ समानताएं और कुछ असमानताएँ है।

समानताएँ—यद्यपि फासीवाद साम्यवाद का विरोधी है और साम्यवादी

[11] *Encyclopedia Italiana*, Vol. XIV (1932)। जार्ज एच० सेबाइन की पुस्तक राजनीति दर्शन का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 826 से उद्धृत। अग्रेजी मे यह लेख 1935 मे 'Fascism . Doctrine and Institutions' नाम से छपा।

फासीवाद को पूँजीवादी किस्म की व्यवस्था मानते हैं, तथापि दोनों ही व्यवस्थाओं में कुछ समानताएं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य हैं।

दोनों ही विचारधाराएँ सर्वाधिकारवादी हैं। फासीवादी राज्य, प्रगट रूप में सर्वशक्तिशाली और तानाशाही राज्य है। साम्यवादी दर्शन में यद्यपि अन्ततः राज्य के लोप हो जाने की बात कही गई है तथापि लोप होने के पूर्व सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होने पर राज्य पूर्ण सर्वाधिकारवादी और तानाशाही होगा जैसा आज रूस में है।

साम्यवाद और फासीवाद दोनों का ही विश्वास प्रजातन्त्रीय प्रणाली में नहीं है, दोनों ही संसदीय प्रणाली में अविश्वास प्रगट करते हैं।

साम्यवाद और फासीवाद दोनों ही पद्धतियाँ एक दल के अस्तित्व को स्वीकार करती है। साम्यवादी रूस के संविधान में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि रूस में केवल एक राजनीतिक दल होगा और वह है सोवियत रूस की कम्युनिस्ट पार्टी। किसी दूसरे राजनीतिक दल को स्थापित नहीं किया जा सकता। यदि किया भी गया तो यह कार्य असंवैधानिक, अतः दण्डनीय होगा। इसी प्रकार फासीवाद भी किसी अन्य राजनीतिक दल के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। फासीवादी राज्य में केवल फासीवादी संगठन ही होगा। इटली की नेशनल फेसिस्ट पार्टी भी रूस की कम्युनिस्ट पार्टी की भाँति सीढीनुमा पद्धति पर संगठित सुदृढ दल है।[15] दोनों ही प्रणालियाँ दलीय तानाशाही में विश्वास करती हैं।

फासीवाद और साम्यवाद दोनों में ही व्यक्ति का कोई महत्व और मूल्य नहीं है। दोनों व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के विरोधी हैं। वहाँ स्वतन्त्र वातावरण में व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता। दोनों प्रणालियाँ व्यक्ति के स्वतन्त्रता के अधिकार को स्वीकार नहीं करती हैं। अतः फासीवाद और साम्यवाद दोनों ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के शत्रु है।

दोनों ही प्रणालियाँ मानवता विरोधी हैं। दोनों ही हिंसक क्रान्ति में विश्वास करती हैं। रूस में साम्यवाद जनता के विश्वास अथवा मतों के आधार पर सत्ता में नहीं आया अपितु क्रान्ति करके आया। साम्यवाद के लिए मानवता को बहुत बडी कीमत चुकानी पडी। इसके बाद भी उसकी आशाएँ और आकाक्षाएं पूरी नहीं हुईं, कोई मानवीय मूल्य विकसित नहीं हुए। ठीक इसी प्रकार इटली में भी फासीवाद जनमत द्वारा अथवा मतदान करके नहीं आया अपितु शक्ति प्रदर्शन के द्वारा आया। यद्यपि राजसत्ता में आते समय फासीवाद ने रक्तिम क्रान्ति नहीं की पर सत्ता में आने के बाद जो सिलसिला प्रारम्भ हुआ वह किसी भी प्रकार मानवता के अनुकूल नहीं था। दोनों ही युद्धप्रिय हैं। यद्यपि युद्धप्रिय होने के कारण भिन्न हैं तथापि दोनों है युद्धप्रिय ही। साम्यवाद जहाँ वर्ग-सघर्ष को अनिवार्य

[15] फ्रासिस डब्ल्यू० कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 495।

मानता है और इस कारण अन्ततः युद्ध की बात करता है वहाँ फासीवाद राष्ट्रों में युद्ध को अनिवार्य और अवश्यभावी मानता है।

दोनो मे ही किसी न किसी रूप मे तानाशाह को महत्त्व प्राप्त है। दोनो ही साम्राज्यवादी हैं। फासीवाद तो प्रगट रूप मे साम्राज्य स्थापना की बात कहता है, पर साम्यवाद वैचारिक साम्राज्यवाद का समर्थक है। सम्पूर्ण विश्व को साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत लाने की नियत साम्यवाद की है, यह आधुनिक साम्राज्यवाद का रूप है।

यह भी कम महत्त्व की बात नहीं है कि दोनों ने किसी न किसी प्रकार प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हीगल से प्रेरणा प्राप्त की है। कार्ल मार्क्स का 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' और फासीवाद मे 'राष्ट्रपूजा' का तथा 'राष्ट्र की सर्वोपरिता' का विचार हीगल के दार्शनिक विचारों से विकसित हुआ है।

दोनो ही राज्य पर कठोर दलीय नियन्त्रण के समर्थक हैं।

असमानतायें—इन समानताओं के होने के बाद भी दोनों ही प्रणालियो मे गम्भीर भिन्नतायें भी हैं जो कम महत्वपूर्ण नहीं हैं।

दोनो के सैद्धान्तिक आधार अलग-अलग हैं। उदाहरणार्थ फासीवाद राज्य को सर्वोपरि और सर्वस्व मानता है, पर साम्यवाद नही ; फासीवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अथवा पूर्णत इतिहास की भौतिक व्याख्या को स्वीकार नहीं करता जबकि साम्यवाद का यह दार्शनिक आधार है।

साम्यवाद वर्ग-संघर्ष मे विश्वास करता है, वह वर्ग-संघर्ष द्वारा पूँजीपतियों का अन्त एव सर्वहारा वर्ग की विजय चाहता है ; उसके निष्कर्ष सर्वहारा वर्ग के लिए है, उसका विश्वास है कि अन्तत केवल एक वर्ग—सर्वहारा वर्ग—ही रहेगा। इसके विपरीत फासीवाद विभिन्न वर्गों के अस्तित्व को स्वीकार करता है। फासीवाद वर्ग-संघर्ष मे विश्वास नहीं करता, वह वर्ग-समन्वय मे विश्वास करता है।

साम्यवाद पूँजीवाद का विरोधी है। फासीवाद पूँजीवाद का विरोधी नहीं है।

फासीवाद की एक विशेषता है। वह निगमित राज्य (Corporate State) की व्यवस्था करता है, इसके विपरीत साम्यवाद राज्य-विहीन समाज का विचार लेकर चलता है। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित हो जाने के पश्चात् भी संक्रमण काल मे, जबकि राज्य कायम रहेगा, साम्यवाद राज्य का उपयोग पूँजीवाद के बचे हुए अवशेषो को समाप्त करने मे करेगा।

साम्यवाद का धर्म मे कोई विश्वास नहीं है। कार्ल मार्क्स धर्म को अफीमी नशा कहता था। फासीवाद धर्म-विरोधी नहीं है। यद्यपि धर्म के सम्बन्ध मे मुसोलिनी के विचार पूरी तरह अवसरवादी रहे हैं तथापि सत्ता मे आने के बाद उसने धर्म की समाज मे स्थिति को स्वीकार किया और उससे अपने हित की सिद्धि की।

साम्यवाद लिंगभेद को स्वीकार नही करता। वह पुरुषो और महिलाओं की समानता को स्वीकार करता है। इसके विपरीत फासीवाद समानता को स्वीकार नही करता। वह महिलाओ को पुरुषो के समान नही मानता।

फासीवाद जाति की पवित्रता और उच्चता मे विश्वास करता है, साम्यवाद जाति की पवित्रता मे विश्वास नही करता।

निगमित राज्य

मुसोलिनी के राज्य को निगमित राज्य (Corporate State) कहते हैं। निगमित राज्य फासीवाद का एक प्रमुख और महत्त्वपूर्ण विचार है। इसमे व्यक्ति की अपेक्षा 'संघों' (Syndicates) को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। फासीवादी विचारको का यह दावा है कि निगमित राज्य आर्थिक क्षेत्र मे उनकी सबसे अधिक बडी और मौलिक देन है। यह दो प्रतिवादी विचारधाराओं के बीच की और दोनों से अधिक विकसित एव सन्तुलित व्यवस्था है, अर्थात् निगमित राज्य न तो पूँजीवादी व्यवस्था के समान है और न समाजवादी व्यवस्था के ही समान है, यह इन दोनो के मध्य का मार्ग है। मुसोलिनी स्वय यह स्वीकार करता था कि निगमित राज्य उसकी क्रान्तिकारी देन है। निगमित राज्य की आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाएँ बिलकुल नवीन हैं।

निगमित राज्य की दार्शनिक विचारधारायें दो आधारभूत धारणाओ पर टिकी हुई थी। पहिली धारणा यह कि व्यक्ति को अपने को राज्य के साथ नागरिक के रूप मे सम्बद्ध नही करना चाहिये, अपितु एक डॉक्टर, वकील, अध्यापक, उद्योगपति और मजदूर के रूप मे सम्बद्ध करना चाहिए। दूसरी धारणा यह है कि छोटे-छोटे शासक दलो से इस बात की अपेक्षा की जाती है कि वे उन व्यापक समस्याओ को समझें, जिनका प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर पडता है, क्योकि केवल वे ही समुदाय पर शासन करने के योग्य हैं।

निगमित राज्य के अन्दर तीन चीजें ध्यान देने योग्य हैं। पहिली, 'नियोजित आर्थिक व्यवस्था' (Planned economy), दूसरी, प्रादेशिक प्रतिनिधित्व (Territorial representation) के स्थान पर व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional representation) की व्यवस्था की गई थी और तीसरी, इसमे मध्यकालीन श्रेणीवाद (Guild System) और आधुनिक श्रमिक सघवाद (Syndicalism) दोनो का ही मेल बैठाया गया था। इस व्यवस्था के अनुसार मजदूरो के ट्रेड यूनियनो को समाप्त कर पृथक् मजदूर संस्थान (Corporations) बनाये गये। इसी प्रकार मालिको के भी अलग-अलग स्थानीय सघ (Syndicates) बनाये गये। इन स्थानीय सघो के ऊपर प्रान्तीय सघ होते थे तथा प्रान्तीय सघो के ऊपर राष्ट्रीय सघ होता था। प्रत्येक सघ की एक पृथक् परिषद् होती थी। निगमो की परिषदो से मिलकर एक राष्ट्रीय परिषद् बनाई गई। इस राष्ट्रीय परिषद् मे सभी सघो के प्रतिनिधि तथा फासीवादी दल के नेता सम्मिलित थे। मुसोलिनी जो राष्ट्र का प्रमुख था

इस परिषद् का अध्यक्ष था। कर्मचारियों की समस्याओं को स्थानीय, प्रान्तीय और राष्ट्रीय सघ सुलझाते थे। न सुलझने पर पचफैसले को मामला दिया जाता था, उस पर भी यदि सन्तोष न हो तो राज्य के श्रमिक न्यायालय को अन्तिम निर्णय करने का अधिकार प्राप्त था। इटली मे कुल 22 राष्ट्रीय निगम थे। ये निगम ही वेतन, कार्यकाल, उत्पादन, प्रचार, मजदूर-मालिक झगडो के समझौते, आयात-निर्यात की नीति निश्चित करते थे। इन निगमो मे फासीवादी दल के सदस्यो की बहुलता रहती थी। वे प्रत्येक निर्णय को प्रभावित करते थे।

मुसोलिनी का दावा था कि उसकी इस व्यवस्था से इटली को लाभ हुआ है और उत्पादन बढा है। वास्तव मे उत्पादन मे वृद्धि तो हुई थी, पर कर्मचारियो के वेतनों मे कोई उल्लेखनीय वृद्धि नही हुई। ऐसा कहा गया कि इस व्यवस्था का सबसे बडा लाभ यह है कि इससे मजदूर, कर्मचारी और मिल-मालिकों मे परस्पर सहयोग और सद्भावना स्थापित होगी। इसी प्रकार, इस व्यवस्था का आधार व्यक्तिगत न होकर सामूहिक था, पर जो परिणाम सामने आये वे पूर्णत. उपरोक्त कथन के अनुकूल नही थे। व्यक्तिगत सम्पत्ति को स्वीकार किया गया था। जॉन स्ट्रेची (John Strachey) के इस कथन मे कुछ सत्यांश है कि "फासीवादी योजना पूंजीपतियो की सहमति से बनती है और इसे बनाते समय, इस बात को महत्त्व दिया जाता है कि योजना ऐसी हो जिसमे सबसे कम अडचनें आवें।"[16] फासीवादी राज्य के सम्बन्ध मे कोकर का कहना है कि "फैसिज्म पूंजीवाद को सुदृढ बनाना चाहता है तथा सत्ता को केन्द्रीभूत करना चाहता है। इसलिए स्पष्टत. फैसिज्म मे फ्रेंच सिण्डिकेलिज्म की भांति न तो पूंजीवाद से विरोध है और न राज्य से विरोध। इसी प्रकार उसमे गिल्ड-समाजवादी प्रणाली का औद्योगिक स्वशासन भी नही है और न मध्यकालीन गिल्डो की स्थानिकता तथा व्यवसाय स्वतन्त्रता ही है। यह तो केवल अपने श्रेणीबद्ध एव निरकुश शासन को कायम रखने के लिए नाम-मात्र के या अत्यन्त सीमित आर्थिक सत्ता-समर्पण (Devolution) की प्रणाली का उपयोग करता है।[17]

आलोचना

इस बात को सब मानते हैं कि अल्प समय मे ही फासीवाद ने इटली मे अच्छी सफलता प्राप्त की, अव्यवस्था को व्यवस्था मे और जडता को प्रगति मे परिवर्तित कर दिया, पर फासीवाद के साथ सबसे बडी कठिनाई वह है जिसकी ओर सेबाइन (Sabine) ने काफी स्पष्टता के साथ सकेत किया है कि "यह विचारो का ऐसा समूह है जो विभिन्न स्रोतो से लिए गए है, तथा जिन्हें स्थिति के अनुसार अनुकूल करने के लिए एकत्रित किया गया है। हीगल की राष्ट्रीयता, प्लेटो का शिष्ट जनसत्तात्मक राज्य, बर्गसां की बुद्धि-विरोधी विचारधारा आदि को एक सूत्र मे

[16] "Fascist planning is a planning with the consent of the capitalist It is planning along the lines of least resistance". —John Strachey

[17] फासिज्म डब्ल्यू० कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 514।

मिलाना तथा उन सबको व्यवहार रूप में सफलतापूर्वक प्रयोग मे लाना कठिन था।" इन सबका परिणाम यह हुआ कि फासीवाद मे कोई सैद्धान्तिक दृढता और स्थायित्व नही रहा, वह कोई स्थायी और गतिशील प्रेरणा न दे सका। उसकी यह सबसे बडी कमजोरी रही। फासीवाद की आलोचना कई दृष्टियो से की गई है।

1. फासीवाद जाति की पवित्रता पर जोर देता है, वह जाति और संस्कृति के बीच एक विशिष्ट प्रकार के सम्बन्ध का विचार करता है। पर जाति की पवित्रता सम्बन्धी धारणा के साथ अप्रिय तथ्य जुडे हुए हैं। प्रथम, आज कोई भी जाति विशुद्ध नही कही जा सकती। मानव जीवन का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिको का यह मत है कि विश्व में कोई भी जाति विशुद्ध नही है। अत जाति की पवित्रता का प्रश्न ही पैदा नही होता। द्वितीय यह कि एक जाति की पवित्रता का विचार स्वाभाविक रूप से दूसरी जाति के प्रति हीन विचार को जन्म देता है। इसके परिणामस्वरूप जिन राजनीतिक सिद्धान्तो को इस आधार पर विकसित किया जाता है वे स्वस्थ और मानव-हितकारी न होकर अमगल और घृणा को पैदा करते हैं। फासीवाद के कारण वैसा ही सब हुआ जो जर्मनी मे नाजीवाद के कारण हुआ।

2 फासीवाद अधिनायकवादी विचारधारा है। इसकी राजव्यवस्था तानाशाही और केन्द्रीकृत शासन मे है। अत इसमे वे सब दोष मौजूद हैं जो एक अधिनायकवादी व्यवस्था मे सम्भव हो सकते हैं। सक्षेप में यदि कहा जाय तो यह स्थानीय शासन के महत्त्व को समाप्त करता है, सत्ता का केन्द्रीयकरण करता है, विभिन्न व्यक्तियो एव सफल प्रशासको की बुद्धि एव शक्ति का उपयोग राजकार्य मे नही होता। कारण, तानाशाह अपने सामने किसी दूसरे को उठने नही देता, गुप्त षड्यन्त्र प्रारम्भ हो जाते हैं, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सीमित कर दी जाती है, और सभी को बलात् तानाशाही व्यवस्था तथा तानाशाह की मर्जी के अनुकूल बनाया जाता है। इस सबका परिणाम अन्त मे तानाशाही के विरुद्ध विद्रोह म होता है। फासीवाद म यह सब हुआ तभी तो जिस इटली ने मुसोलिनी के स्वागत मे अपनी पलकें बिछायी, उसी इटली के निवासियो ने उसकी मौत पर खुशियाँ मनायी। क्योंकि फासीवाद एक तानाशाही व्यवस्था था अत वह इटली मे भी लोकप्रिय नही हो सका। कोकर ने अपनी पुस्तक मे अनेक उन विचारको का उल्लेख करते हुए जिन्होने फासीवाद की सफलता मे सन्देह प्रगट किया है, लिखा है कि " ' वे यह तर्क भी देते हैं कि इटली की सरकार कोई वास्तविक एव स्थायी समृद्धि प्राप्त नही कर सकी, केवल मूल्यो में रद्दोबदल करने और दिवालियापन, बेकारी एव गरीबी के सम्बन्ध मे स य बातो को छिपा कर समृद्धि का स्थायी दिखावा ही कर सकी। वे मुसोलिनी को अनुभव के आधार पर काम करने वाले की जगह विचारहीन समझते हैं, वीर नही, महत्त्वाकांक्षी मानते है, अपने आदर्शो का भक्त या राजनीतिज्ञ नही, पूंजीपतियो और सैनिकवादियो के हाथ की कठपुतली मानते हैं। उनका दावा है कि कोई यह नही कह सकता कि फासीवाद वास्तव मे जनता मे लोकप्रिय है, क्योकि जनता को अपनी

राय व्यक्त करने का कोई साधन प्राप्त नही है। यदि फासीवाद लोकप्रिय होता तो देश मे गुप्तचरो की भरमार क्यों होती तथा दमन द्वारा कठोर शासन क्यों किया जाता ?"[18]

3. तानाशाही के कारण जिस दमनकारी शासन-व्यवस्था की स्थापना होती है वह साहित्य, सगीत, कला और विज्ञान की प्रगति की समस्त सम्भावनाओं को समाप्त कर देती है, वह सबके सम्मुख एक और निश्चित दिशा को उपस्थित करती है, उसी की ओर तथा उसी के अनुकूल कुछ किया जा सकता है। विकास के लिए उन्मुक्त और स्वच्छन्द वातावरण की आवश्यकता है, उसके प्रतिकूल फासीवाद सीमित और कठोर, साथ ही गदले वातावरण को पैदा करता है। आईन्स्टाइन (Albert Einstein) ने अपने 'विज्ञान तथा अधिनायक तन्त्र' नामक लघु निबन्ध मे लिखा है कि "अधिनायक तन्त्र का अर्थ है सब ओर से प्रतिबन्ध और उसके परिणामस्वरूप निरर्थक प्रयत्न। विज्ञान केवल स्वतन्त्र भाषण के वातावरण मे ही अभिवृद्धि प्राप्त कर सकता है।"[19]

4. वीर-पूजा आज के युग की मान्यता नही है। यह तो बीती हुई शताब्दियों की पिछडी हुई राजनीति है। आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं के लिए यह आवश्यक है कि वे स्वस्थ वातावरण के निर्माण के लिए इस प्रकार की प्रवृत्ति का विरोध करें और उसे दबायें। पर फासीवाद ने नीट्से के अमानवीय विचारो को अपनाकर मुसोलिनी को समस्त सत्ता, शक्ति और विवेक के स्रोत के रूप मे प्रस्तुत किया, उसे देवता बना दिया और बलात् जनता के दिलो मे उसके इस रूप को उतारने का प्रयत्न किया। पर इसके परिणाम अलाभदायी ही हुए। आतंक और भय से पहिले तो जनता शान्त रही पर बाद मे उसने मुसोलिनी की मृत्यु पर दो आँसू भी नहीं गिराये। अप्राकृत और बलात् प्रयत्नो की यही फलश्रुति होती है।

शक्ति मे फासीवाद ने विश्वास ही नही अन्धविश्वास किया, सभी समस्याओ का हल शक्ति मे खोजा गया, शक्ति को अर्जित कर उचित-अनुचित के विवेक को भी छोड दिया गया। शक्ति मे मदान्ध फासीवाद, नीति-अनीति के भेद को कायम नही कर सका। उसने मानवीय गुणो और मूल्यो का उपहास किया। इस सबका परिणाम स्वय फासीवाद के हित मे नही हुआ। शक्ति के पीछे जब तक आध्यात्मिक और मानवोचित व्यापक आदर्श उपस्थित नही किये जाते तब तक उसका भौतिक रूप दानवीय और विघटनकारी ही होता है। गुग्लिएल्मों फैरेरो ने ठीक ही कहा है कि "जिस शक्ति ने रचना की थी उसने ही नाश किया। रोमन साम्राज्य को उन्ही सेनाओ से नष्ट-भ्रष्ट किया गया, जिन्होंने उसे जन्म दिया था। एक पुरानी सम्यता अपने साम्राज्य के साथ नष्ट हो गई जब कि उस साम्राज्य ने देखा कि

[18] फ्रासिस डब्लू० कोकर, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 518–519।
[19] वही, पृष्ठ 519।

उसकी सरकार केवल एक ऐसी शक्ति बन गई है, जिसका समर्थन कोई भी कानूनी अधिकार नही करता ।"[20] फासीवाद को भी नष्ट होने मे उसकी सेनायें रोक नही सकीं ।

6. फासीवाद ने प्रजातन्त्र का विरोध कर अपने को 'सर्वमान्य राज्य व्यवस्था के एक श्रेष्ठ रूप' से पृथक् कर लिया । प्रजातन्त्र की अस्वीकृति के फासीवादी आधार अनेक हैं, पर उन सब मे प्रमुख यह है कि फासीवाद यह नही मानता कि सामान्य जन मे शासन करने की योग्यता होती है । पर फासीवाद इस बात को समझने मे भूल करता है । प्रजातन्त्र इस विश्वास को लेकर चलता है कि 'लोक-कल्याण' की प्राप्ति के लिए लोक-समर्थन आवश्यक है और वह सरकार एक श्रेष्ठ सरकार है जो *अपनी प्रजा की आम सहमति पर आधारित है । वास्तविकता भी यही* कि है तानाशाही एव आरोपित पद्धति है, जब कि प्रजातन्त्र एक विकसित पद्धति है । प्रजातन्त्र शासन का वह प्रकार है, जिसमे आम व्यक्ति भी अपने दायित्वों को समझ कर उन्हें पूर्ण करने का विचार रखता है ।

7. फासीवाद शान्ति एव अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोधी तथा हिंसा एव युद्ध का समर्थक है । उसका यह दृष्टिकोण मानव सभ्यता और संस्कृति के विपरीत जाता है । वह सृजन का नही अपितु विध्वस का मार्ग है । सभ्यताओं और संस्कृतियो का विकास युद्ध के बीच नही अपितु शान्ति एव पारस्परिक सहयोग के वातावरण मे होता है । जिस दर्शन का तात्कालिक उद्देश्य युद्ध और उसके माध्यम से राष्ट्रीय विस्तार का विचार हो वह साहसिक दर्शन तो हो सकता है पर राष्ट्र के सर्वांगीण एव सदैव के लिए विकास के आधारों को प्रस्तुत नही कर सकता । आज के युग मे युद्ध की अनिवार्यता पर जोर देना *मानवता के विकास की सम्भावनाओ को जुटाना* नहीं अपितु उसे पूर्णत समाप्तप्राय करने के प्रयत्न करना है । फासीवाद का दर्शन युद्ध और हिंसा का दर्शन है । फासीवाद निन्दनीय निष्कर्ष के लिए अमानवीय तर्क है ।

8 निगमित राज्य का विचार भी अपने मे कोई पूर्ण विकसित विचार नही है । यह समाज के केवल आर्थिक आधार को—वह भी पूर्णत वैज्ञानिक नही—प्रस्तुत करता है, तथा उसी पर सम्पूर्ण समाज को सगठित करता है । इससे तो समाज का स्वाभाविक रूप ही विकृत हो जाता है । समाज विभिन्न जटिलताओ का एक सश्लिष्ट रूप होता है । उसका आधार केवल आर्थिक, नैतिक अथवा राजनीतिक पहलुओ के द्वारा निर्मित नही किया जा सकता । ये सब पृथक्-पृथक् रूप मे उसके कुछ पहलुओ को ही प्रगट करते हैं तथा सब्यूहित कर सकते हैं, सम्पूर्ण समाज को नहीं । यही कारण था कि 'निगमित राज्य' की

[20] Ferrero, 'Dictatorship in Ancient Rome' in *Dictatorship on Trial*, p 33 एफ० डब्लू कोकर की पुस्तक आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, पृष्ठ 520 से उद्धृत ।

योजना कार्यान्वित तो की गई पर न तो वह पूर्णत: सफल ही हुई और न अपने रूप में व्यक्तियों के कुछ प्राकृत सम्बन्धों को विकसित ही कर सकी।

9. फासीवाद व्यक्ति-स्वतन्त्रता का विरोधी है। फासीवाद ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को राज्याधीन कर दिया। उसके अनुसार राज्य की आज्ञा का पालन ही स्वतन्त्रता है। इससे स्वतन्त्रता का भाव ही समाप्त हो गया। वीरपूजा का दर्शन, सर्वाधिकारी राज्य की स्थिति, तानाशाह का शासन, इन सबके मध्य व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एव उसके विकसित होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। स्वतन्त्रता के अभाव मे व्यक्ति अपना विकास ही नही कर सकता। पर फासीवाद व्यक्ति के विकास की चिन्ता ही नही करता, वह तो व्यक्ति की शक्ति एव सामर्थ्य का प्रयोग—शोषण—राज्य और तानाशाह की इच्छा की पूर्ति के लिए करता है।

10. फासीवाद अवसरवादी विचारधारा है, कुछ आधारभूत और अपरिवर्तित विचार नही। जब जैसा अवसर आया तब उसका लाभ लेने के लिए समयोपयोगी सिद्धान्त निर्मित किए।

सहायक पुस्तकें

McGovern — *From Luther to Hitler*
Rocco — *Political Doctrine of Fascism*
मॉरिस फ्रैंसटन — राजनीतिक शब्दावली
प० जवाहरलाल नेहरू — विश्व इतिहास की झलक
गणेश प्रसाद उनियाल — राजनीतिक विचारधाराएँ
जार्ज एच० सेबाइन — राजनीतिक विचारों का इतिहास
फ्रांसिस डब्लू कोकर — आधुनिक राजनीतिक चिन्तन

11
राष्ट्रीयता
(Nationality)

राष्ट्रीयता आधुनिक युग की सर्वाधिक प्रभावशाली भावना है। यह सहज और स्वाभाविक है, व्यक्ति के अन्तःकरण से इसे किसी भी वाद, विचार अथवा आग्रह के द्वारा निकाल पाना अत्यन्त कठिन है, यह व्यक्ति की नैसर्गिक प्रवृत्ति में गहराई के साथ जमी हुई है। राष्ट्रीयता की भावना सर्वव्यापी है हमारे प्रायः सभी कार्यों, विचारों और आयोजनों का निर्धारण राष्ट्रीयता के विचार से प्रभावित रहता है, राष्ट्रीयता राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का भी निर्धारक तत्व है। राष्ट्रीयता आधुनिक युग का धर्म है।[1] नार्मन एन्जिल (Norman Angell) का कहना है कि वर्तमान यूरोप वासियों के लिए राजनीतिक राष्ट्रीयतावाद विश्व की सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु बन गई है। यह सभ्यता, मानवता, शिष्टता, कृपालुता, दया भावना यहां तक कि स्वतः जीवन से भी अधिक महत्वपूर्ण हो गई है।'[2]

उपरोक्त कथन में इस तथ्य को निर्विवाद रूप से जोड़ा जा सकता है कि राष्ट्रीयता का विचार केवल यूरोप के निवासियों के लिये ही नहीं, अपितु विश्व के सभी व्यक्तियों के लिये महत्व का हो गया है।

राष्ट्र क्या है (What is Nation)

राष्ट्रीयता का अर्थ समझने के लिए राष्ट्र (Nation) शब्द पर विचार करना आवश्यक है। राष्ट्र क्या है ? राष्ट्र शब्द का प्रयोग सभी विचारक एक ही अर्थ में नहीं करते। साधारणतः राष्ट्र को राज्य का पर्यायवाची समझा जाता है पर ऐसा नहीं है। इसका अर्थ एक निश्चित जाति से भी लगाया जाता है पर यह भी सीमित

[1] शिलिटो (Shillito) का कहना है 'कि यह मानव का दूसरा धर्म हो गया है'।

[2] Political Nationalism has become for the European of our age, the most important thing in the world, more important than civilization, humanity, decency, kindness, pity, more important than life itself : Norman Angell : Quoted from, The Dynamics of Nationalism Louis L. Snyder P. N. 1.

अर्थ है। राष्ट्र को अंग्रेजी मे नेशन कहते हैं। नेशन शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के नेशियो (Natio) शब्द से हुई है, इसका अर्थ है जन्म या जाति। इसके आधार पर राष्ट्र का अर्थ 'एक निश्चित भौगोलिक सीमा मे रहने वाली जाति है।' पश्चिम मे राष्ट्र शब्द का प्रारम्भ कुछ इसी रूप मे हुआ। यदि हम इस शब्द प्रयोग के इतिहास पर ध्यान दें तो यह तथ्य सामने आता है कि पहिले विविध-जन समुदायो ने अपने आप को किसी प्रकार की प्रादेशिक सीमाओ के अन्तर्गत सगठित और मर्यादित किया, फिर कालान्तर मे उनमे यह भाव विकसित हुआ कि यह भूमि हमारी है, हम अन्य समुदायो से जो अन्यन भूमि पर रहते हैं भिन्न हैं, हमारा अपना एक विशिष्ट जीवन है यह भाव जागृत होना अत्यन्त स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। इस प्रकार एक निश्चित भूमि पर रहने वाले लोग एक 'अविभाज्य समुदाय' बन गये। इस समुदाय को अन्यो से प्रथक बतलाने के लिये कुछ विद्वानो ने 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ किया।

राष्ट्र के विचार मे कुछ आधुनिक विचारक एक महत्वपूर्ण तथ्य को और जोडते हैं उनका विचार है कि राष्ट्र शब्द मे एक राजनीतिक धारणा समाहित है। राष्ट्र केवल उस जाति अथवा एक विशिष्ट भौगोलिक सीमाओ मे रहने वाले समूह को कहा जा सकता है जिसको राजनीतिक स्वाधीनता (Political Independence) प्राप्त हो। गिलक्राइस्ट (Gilchrist) का मत है कि 'राज्य और कुछ मिलकर राष्ट्र बनता है राज्य मे जब जनता की एकता का भाव होता है तब वह मिलकर राष्ट्र बनता है।'[3] इससे आगे लार्ड ब्राइस का मत है, 'यदि किसी देश (समुदाय) को राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त नही है पर उस देश की जनता मे राजनीतिक प्रभुत्व पर अधिकार करने की भावना विद्यमान है, तो उसे भी राष्ट्र कहा जा सकता है उसके शब्दो मे, 'राष्ट्र एक ऐसी राष्ट्रीयता है जो राजनीतिक समुदाय के रूप मे सगठित और स्वतन्त्र हो या स्वतन्त्र होने की इच्छा रखती हो।'[4]

कई बार राष्ट्र सम्बन्धी एक और भ्रमित अवधारणा को विकसित किया जाता है, ऐसा उस समय होता है जब कि राष्ट्रीयता को क्षेत्रीयता से सम्बद्ध किया जाता है। उदाहरण के लिए ऐसा कहा जाता है कि भारत एक राष्ट्र है और इसमें पजाबी, गुजराती, बगाली ये राष्ट्रीयताएँ हैं। पर ऐसा नही है सदैव समान

[3] It is the state plus something else. The state looked of from a certain point of view-that of the unity of the people, organised in one state : Gilchrist, Principles of Political Science, p27.

[4] A nation is a nationality which has organised itself into a political body either independent or desiring to be independent—'Bryce' Impression of South Africa. p33.

भाषा और क्षेत्र प्रथक राष्ट्रीयताओं का निर्माण नहीं करते। राष्ट्रीयता के निर्माण में समान परम्परा, इतिहास, संस्कृति, और एक राष्ट्र के रूप में विकसित और जीवित रहने का भाव प्रमुख रहता है। इसी प्रकार राष्ट्र के लिये 'राजनीतिक प्रभुत्व' का विचार महत्वपूर्ण तो है पर इससे भी अधिक महत्वपूर्ण उसमें रहने वाले नागरिकों में पारस्परिक एकात्मकता का विचार परम आवश्यक है। रैम्जेम्योर का यह विचार तथ्यपूर्ण है कि 'राष्ट्र व्यक्तियों के उस समूह को कहते हैं, जो कुछ विशेष सम्बन्धों के कारण स्वाभाविक एकता का अनुभव करते हैं, जो इतने दृढ़ और वास्तविक होते हैं कि उनके कारण वे प्रसन्नतापूर्वक साथ-साथ रह सकते हैं, प्रथक हो जाने पर दुखी होते हैं और ऐसे लोगों की अधीनता सहन नहीं कर सकते जो उन बन्धनों के अन्तर्गत नहीं हैं।'[5]

जॉन स्टुअर्ट मिल का यही विचार है कि 'राष्ट्र मनुष्य जाति का एक ऐसा भाग है, जो एक दूसरे के प्रति सहानुभूति से बंधा हुआ एक सरकार के अधीन रहने की प्रबल इच्छा रखता हो।'[6]

राष्ट्र सम्बन्धी उपरोक्त सम्पूर्ण विचार एक महत्वपूर्ण एवं निश्चित निष्कर्ष को प्रगट करता है। राष्ट्र केवल एक भूभाग मात्र या व्यक्तियों का सम्मिश्रण मात्र या क्षेत्रीयताओं का योग मात्र नहीं है, वह इससे अधिक है। राष्ट्र में चार तत्वों का सम्मिलन है, प्रथम एक निश्चित भूभाग या भूखण्ड जो राष्ट्र में रहने तथा प्रगति करने के लिए आधार का काम दे, द्वितीय उस विशिष्ट भूभाग पर रहने वाला समाज जो यह अनुभव करे कि यह सम्पूर्ण भूभाग मेरा है। इस समाज को हम राष्ट्रीय कहेंगे। तृतीय विशिष्ट जीवन पद्धति या जीवन आदर्श जिसे हम संस्कृति कह सकते हैं और चतुर्थ स्वाधीनता का उपभोग करने की इच्छा। इस रूप में राष्ट्र एक 'जीवमान इकाई' है उसे जोडतोड कर नहीं बनाया जा सकता, उसकी अपनी एक प्रकृति और व्यक्तित्व है *जिसका विकास एक दिन में नहीं अपितु कालान्तर में होता है।*

[5] "It may be provisionally defined as a body of people who feel themselves to be naturally linked together by certain affinities, which are so strong and real for them that they can live happily together, are dissatisfied when disunited, and can not tolerate subjection to peoples who do not share these ties" Ramsay Muir, Nationalism and Internationalism P 31.

[6] A nation is a position of mankind united by common sympathies with each other, rather than other people with a desire to be under the same government. J. S. Mill Representative Government Ch. XVII.

राष्ट्रीयता (Nationality)

राष्ट्र पर विचार करने के पश्चात् राष्ट्रीयता का प्रश्न सामने आता है। राष्ट्रीयता क्या है? राष्ट्रीयता एक सशक्त और प्रभावशाली भावना है, पर इसे परिभाषित कर पाना सरल नहीं है। अपने स्वरूप में राष्ट्रीयता का विचार पर्याप्त सश्लिष्ट और रहस्यात्मक है।

राष्ट्रीयता एक भावना है, जिसका केन्द्र राष्ट्र है। इस भावना के कारण एक राष्ट्र में रहने वाले जन या समुदाय पारस्परिक एकता की भावना का अनुभव करते हैं। जे० एच० रोज (J. H. Rose) का कहना है कि 'राष्ट्रीयता हृदयों की वह एकता है जो एक बार बनने के पश्चात् कभी खण्डित नहीं होती।'[7] व्यक्त रूप में राष्ट्रीयता एक ऐसी भावना है जो व्यक्ति हित के स्थान पर राष्ट्रहित को प्राथमिकता देती है, आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्र के लिये सर्वस्व समर्पण करने के लिये तैयार करती है। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका' के अनुसार 'राष्ट्रीयता एक मनोदशा है जिसमें मनुष्य अपने राष्ट्रीय-राज्य के प्रति उच्चतम भक्ति का अनुभव करता है।'[8]

एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज में राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'अधिक व्यापक अर्थ में राष्ट्रीयता वह प्रवृत्ति है जो जीवन के मूल्यों के तारतम्य (उत्क्रम) में राष्ट्रीय व्यक्तित्व को एक उच्च स्थान प्रदान करती है।'[9]

'राष्ट्रीयता की भावना में देश प्रेम का महत्वपूर्ण स्थान होता है। मातृभूमि, पितृभूमि के प्रति असीम अनुराग इसमें समाहित है।'[10]

अपने महा पुरुषों के प्रति सम्मान का भाव और अपने इतिहास और परम्परा के प्रति सहज आकर्षण और उसकी महानता में विश्वास इसका गुण है। इस रूप में राष्ट्रीयता एक गतिशील और प्रेरक भावना है जीवन में जो भी महानतम है वह राष्ट्र

[7] A union of hearts once made never unmade J H. Rose: Nationality in Modern History p 147

[8] Nationalism is a state of mind in which the supreme loyalty of the individual is felt to be due to the nation-state. Encyclopaedia Britannica p. 150 A.

[9] Nationalism in its broader meaning refers to the attitude which ascribes to national individuality a high place in the hierarchy of values : Encyclopaedia of Social Sciences Vols XI XII p. 231.

[10] (a) 'जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'

(b) ईश्वर और हमारा देश अलग-अलग नहीं हैं। हमारा देश ईश्वर का ही एक रूप है, लोकमान्य तिलक : Tilak Writings and Speeches p 322

के सम्मुख नगण्य है यह विचार राष्ट्रीयता की भावना का परिणाम है। हन्स कोहन का कहना है कि 'राष्ट्रीयता एक विचार है एक विचार-शक्ति है जो मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय को नये विचारों और मनोभावों से भर देती है और उसे अपनी चेतना को संगठित क्रिया के कार्यों में परिवर्तित करने की प्रेरणा देती है।'[11]

राष्ट्रीयता को एक भावना के रूप में ही नहीं समझा जा सकता, इसका विभिन्न सन्दर्भों में विभिन्न प्रकार से प्रयोग किया जाता है। कानूनी अर्थ में राष्ट्रीयता नागरिकता के निकट है। इस रूप में राष्ट्रीयता का अर्थ राज्य की सदस्यता है। हम शासकीय प्रपत्रों में अथवा अन्य चाही गई जानकारी में अथवा पासपोर्ट के समय, राष्ट्रीयता के सम्मुख अपनी नागरिकता लिखते हैं। यह नागरिकता विविध पद्धतियों के द्वारा अंगीकार की जाती है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रिचर्ड डब्लू फ्लोरनो का कहना है राष्ट्रीयता 'उस व्यक्ति का स्तर है' जो राज भक्ति के बन्धन द्वारा राज्य से बंधा हुआ हो।'[12]

राष्ट्रीयता के प्रश्न पर विविध रूपों और दृष्टिकोणों से विचार किया जाता है। वस्तुतः राष्ट्रीयता का आधार विचार मूलक अवश्य है पर वह मूलतः भावनात्मक है। अतः इस प्रश्न पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण सर्वाधिक महत्वपूर्ण और उपयोगी है। इस रूप में राष्ट्रीयता वह भावना है जो राष्ट्र (सम्पूर्ण समाज) का सभी प्रकार का कल्याण चाहती है और उस कल्याण की अभिवृद्धि के लिए उसके अंगभूत सभी जनों को अहर्निश तत्पर करती है। प्रो० गिलक्राइस्ट की एक विशद् व्याख्या राष्ट्रीयता के भावात्मक पक्ष जो मूलतः आध्यात्मिक आधार को लिए है को स्पष्ट करती है। उनके अनुसार 'राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक भावना अथवा सिद्धान्त है, जिसकी उत्पत्ति उन लोगों में होती है जो साधारणतः एक जाति के होते हैं, जो एक भूखण्ड पर रहते हैं, जिनकी एक भाषा, एक धर्म, एक-सा इतिहास, एक-सी परम्पराएँ एवं सामान्य हित होते हैं तथा जिनके एक-से राजनीतिक समुदाय तथा राजनीतिक एकता के एक-से आदर्श होते हैं। भूखण्ड, जाति, भाषा, इतिहास एवं परम्पराएँ, धर्म, सामान्यहित, एक-से राजनीतिक समुदाय तथा एकसी राजनीतिक एकता की आकांक्षाएँ ऐसे तत्व हैं जिन पर राष्ट्रीयता आधारित होती है। ये सब राष्ट्रीयता के आधार हैं स्वयं राष्ट्रीयता

[11] 'Nationalism is an idea, an idea-force, which fills man's brain and heart with new thoughts and sentiments, and drives him to translate his consciousness into deeds of organized action' Hans kohn; The Idea of Nationalism p. 1~

[12] 'The nationality is the status of a person who is attached to a state by the tie of allegiance'. R. W. Flourny : Moral Code on the Law of Nationality : Encyclopaedia of Social Sciences Vol XI XII p. 249.

नही जो एक आध्यात्मिक सिद्धान्त है और जो उपर्युक्त तत्वो मे से कुछ अथवा सब की उपस्थिति के कारण अस्तित्व मे आती है। न तो उन सब तत्वों द्वारा मिलकर और न उनमे से कुछ के द्वारा और न उनमे से किसी के योग द्वारा ही राष्ट्रीयता का निर्माण हो सकता है। इनमे से कोई भी एक अनिवार्यत: आवश्यक नही है और न वे सभी मिलकर अनिवार्यतः आवश्यक हैं, किन्तु उनमे से कोई न कोई राष्ट्रीयता के आधार होते हैं, राष्ट्रीयता आध्यात्मिक है, भौतिक तत्व के साथ आध्यात्मिक का होना आवश्यक है, अन्यथा यह वैसा ही होगा जैसे बिना आत्मा का शरीर।'[13]

जिमर्न (Zimmern) का विचार है कि 'राष्ट्रीयता मेरे लिए एक राजनीतिक प्रश्न बिल्कुल नही है यह आवश्यक रूप से एक आध्यात्मिक प्रश्न है। राष्ट्रीयता धर्म की भाति व्यक्तिगत है, मनोवैज्ञानिक है, एक मानसिक स्थिति है तथा विचार करने, जीवित रहने और अनुभव करने का एक तरीका है।'[14] इस सदर्भ मे यह विचार भी महत्वपूर्ण है कि राष्ट्रीय कौन है ? साधारणतः हम कह सकते हैं कि, 'अपने देश राष्ट्र और उसकी परम्पराओ के प्रति, उसके ऐतिहासिक महापुरुषो के प्रति, उसकी सुरक्षा

[13] Nationality is a Spiritual sentiment or principle arising among a number of people usually of the same race, resident on the same territory, sharing a common language, the same religion, similar history and traditions, common interest, common political associations and common ideals of political unity. Territory, race, language, history and traditions, religion, common interest, common political associations and common hopes of political unity are the elements on which nationality is based They are the basis of nationality, not nationality itself, which is a spiritual principle supervening when some or all of these elements are present. Not all of these elements taken together nor any of them nor any combination of them will make nationality. Not any of the elements is absolutely essential nor are all of them taken together essential. But every nationality has as basis some of them. Nationality is spiritual. The Physical element must be accompanied by the spiritual otherwise there is a body but not soul. Gilchrist : Principles of Political Science P. 26.

[14] Nationality to me is not a political question at all. It is primarily and essentially a spiritual question. Nationality like religion is subjective, psychological, a condition of mind, a spiritual possession, a way a feeling, thinking, and living. Zimmern, Nationality and Government. P. 51.

और समृद्धि के प्रति, जिनकी अव्यभिचारी एवं एकान्तिक निष्ठा हो-वे जन राष्ट्रीय हैं। [15]

राष्ट्रीयतावाद (Nationalism)

राष्ट्रीयतावाद कोई पृथक से महत्वपूर्ण धारणा नहीं है। वाद (ism) किसी भावना अथवा विचार की सगठित अभिव्यक्ति का नाम है। राष्ट्रीयतावाद के रूप मे राष्ट्रीयता का विचार सगठित रूप मे अभिव्यक्त होता है। यह शब्द प्रयोग १९वी सदी मे बहुप्रचलित हुआ है। डान लुजी स्टर्जो (Don Luigi Sturzo) का विचार है कि— 'राष्ट्रीयतावाद (Nationalism) शब्द की उत्पत्ति पिछली शताब्दी में दर्म्यान तीन 'वादो' उदारतावाद, समाजवाद और साम्यवाद क तत्काल पश्चात हुई।' [16]

राष्ट्रीयता का इतिहास

राष्ट्रीयता की भावना अति प्राचीन है। वैदिक ऋचाओ मे वर्णित प्रेम की भावना से लेकर वर्तमान समय तक राष्ट्रीयता का विचार हमारे इतिहास की प्रेरक शक्ति रहा है।

प्राचीन समय मे जनपद अथवा नगर-राज्य के निर्माण म राष्ट्रीयता की भावना मूल कारण थी इसी भावना के कारण पूर्व अथवा पाश्चात्य जगत म इनका निर्माण हुआ। कालान्तर मे ये जनपद अथवा नगर-राज्य साम्राज्यो के अग बन गये। साम्राज्यो के निर्माण ने राष्ट्रीयता की भावना के विकास को काफी सीमा तक अवरुद्ध किया।

मध्ययुग मे राष्ट्रीयता की भावना प्राय. समाप्त सी रही। इस युग मे यूरोप मे राज्यो का निर्माण व्यक्तिगत महत्वाकाक्षा के आधार पर ही होता रहा, सामन्तवाद का भी प्रारम्भ इसी क्रम मे हुआ। भारत मे भी मगध साम्राज्य के पतन के पश्चात अनेक छोटे-छोटे राज्यो का निर्माण हुआ और राष्ट्रीयता का विचार कुछ भ्रमित सा रहा।

आधुनिक युग मे राष्ट्रीयता की भावना का विकास काफी तेजी के साथ हुआ। यूरोप मे राष्ट्रीयता की भावना ने सर्वप्रथम अंग्रेज जाति को प्रभावित किया, इस भावना के साथ ही इग्लैण्ड ने सुसगठित और सचेतन राष्ट्र का रूप धारण किया।

[15] म० स० गोलवलकर 'राष्ट्र की एकता और सुरक्षा की आधारभूत मान्यतायें' पृ० 4

[16] *The word Nationalism*, was born in the course of the past century, soon after the birth of three 'isms', liberalism, socialism and communism. Don Luigi Sturzo quoted by. Louis L. Snyder, The Dynamics of Nationalism P. 20.

फ्रांस मे जोन आफ आर्क (Joan of Arc) ने राष्ट्रीयता की भावना का विकास किया। मैकियावलो, लूथर और दान्ते ने राष्ट्रीयता के विचार को बलशाली बनाया

फ्रास की रक्तक्रांति के समय से राष्ट्रीयता के विचारो का तीव्रगति से विकास हुआ। इस युग से राष्ट्र के प्रति उत्कृष्ट निष्ठा प्रारम्भ हुई यह निष्ठा किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह से नही वरन समूचे समाज से प्राप्त की गई। हूस कोहन का विचार है कि 'फ्रास की राज्य क्रान्ति से प्रारम्भ होने वाले इतिहास के आधुनिक काल की यह प्रमुख विशेषता रही है कि इस युग मे और केवल इसी युग मे राष्ट्र ने व्यक्ति की सर्वोच्च निष्ठा की माग की है, कुछ अथवा निश्चित व्यक्ति नही अपितु सभी व्यक्ति इस सामान्य निष्ठा के अन्तर्गत आये और सम्पूर्ण सभ्यता (जिसने इस समय तक स्वय का विशृ खलित और व्यापक मार्ग प्राप्त कर लिया था) अब इस एक सर्वोच्च चेतना-राष्ट्रीयतावाद-से प्रभावित होने लगी।" [17] जब फ्रास का राजा लुई सोलहवा भागा तब कहा गया कि 'राजा भाग गया तो भाग जाने दो, फ्रासीसी राष्ट्र तो विद्यमान है।' यह कथन इस तथ्य का द्योतक है कि राजनीतिक एकता का वास्तविक *आधार व्यक्ति नही अपितु राष्ट्र है। अठारहवी सदी से राष्ट्रीयता के विचारो का* प्रसार यूरोप और उसके पश्चात विश्व के अन्य देशो मे निरन्तर होता गया। इसे सभी दूर व्यापक समर्थन मिला।

राष्ट्रीयता के विचार मे प्रत्येक देश द्वारा अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को प्राप्त करने की प्रेरणा निहित थी। इस प्रेरणा ने व्यापक रूप से समग्र विश्व को प्रभावित किया, ग्रीस ने टर्की की अधीनता समाप्त की और १८२९ मे पूर्ण स्वतन्त्रता को प्राप्त किया। स्पेन मे राष्ट्रीयता के विकास के साथ निरकुश शासन का अन्त हुआ। १८७५ मे वहा प्रजातन्त्रात्मक शासन की स्थापना हुई। राष्ट्रीयता की धारा ने पोलैण्ड, हॉलैण्ड, नीदरलैण्ड, आष्ट्रिया आदि अन्य यूरोपीय देशो को भी प्रभावित किया और सभी ने कालान्तर मे स्वतन्त्र राजनीतिक इकाइयो का रूप प्राप्त किया। स्वभावतः इस क्रम मे कुछ देशो की नीतियो ने दूसरे देशो को प्रभावित किया जैसे नेपोलियन की नीति ने रूस, इटली, जर्मनी, स्पेन आदि देशो मे राष्ट्रीयता की भावना को विकसित

[17] 'The modern period of history starting with the French Revolution; is characterized by the fact that in this period, and in this period alone, the nation demands the supreme loyalty of man, that all men, not only certain individuals or classes, are drawn into this common loyalty and that all civilization (which upto this modern period followed their own and frequently widely different ways) are now dominated more and more by this one supreme Group consciousness—Nationalism : Hans Kohn.

किया। बिस्मार्क ने 'लोह तथा रक्त नीति' (Iron & Blood Policy) द्वारा जर्मनी का एकीकरण किया, मैजिनी, गेरीवाल्डी ने इटली मे राष्ट्रीयता की भावना को विकसित किया, अमेरिका आदि कई देशो मे राष्ट्रीयता की भावना १८ वी सदी मे प्रारभ हुई, १६ वी सदी मे वह और भी प्रबल हुई।

राष्ट्रीयता की भावना ने ऐशिया और अफ्रीका के सभी देशो को प्रभावित किया एक समय था जबकि इन दोनो महाद्वीपो का कदाचित ही कोई देश स्वतन्त्र रहा होगा पर आज प्राय: सभी देश विदेशी शक्तियो से मुक्त हो पूर्ण राजनीतिक स्वातन्त्र्य को प्राप्त हैं। राष्ट्रीयता के इस विचार ने समाजवाद और साम्यवाद के सिद्धान्त को भी प्रभावित किया है। साम्यवाद का विचार जिसके बारे मे सामान्यत: कहा जाता है कि उसका राष्ट्रीयता मे विश्वास नही है, वह भी आज राष्ट्रीयता के विचार से पूर्ण प्रभावित है। साम्यवादी देशो की रीति-नीति और योजनाएँ राष्ट्रीयता के विचार से प्रभावित होती हैं।

वर्तमान समय मे राष्ट्रीयता की भावना उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, साम्यवाद, रगभेद और आर्थिक शोषण के विरुद्ध सघर्ष के लिए प्रेरणा का प्रबल श्रोत है।

राष्ट्रीयता के सहायक तत्व

राष्ट्रीयता एक भावना है, इसके विकास मे अनेक तत्व सहायक होते हैं, जिन मे निम्न प्रमुख हैं.—

१. भौगोलिक एकता

राष्ट्रीयता की भावना को जन्म देने मे भूमि का महत्वपूर्ण स्थान है। मातृभूमि और पितृभूमि का विचार इसी के साथ जुड़ा हुआ है। एक निश्चित भूभाग पर साथ-साथ रहने के कारण उसके प्रति निष्ठा का भाव स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाता है यही भाव एकता की अनुभूति को विकसित करता है, जिसके कारण राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव होता है। हम एक निश्चित भूमि पर रहने वाले जन को उसके साथ सम्बद्ध करके देखते हैं, इसी प्रकार बाहर जाने पर भी उस व्यक्ति को उस भूमि के आधार पर ही पहिचाना जाता है और सम्बोधित भी किया जाता है, जैसे भारत मे जन्मे व्यक्ति को भारतीय, अमेरिका मे जन्मे व्यक्ति को अमेरिकन और जापान मे जन्मे व्यक्ति को जापानी कहा जाता है।

२. नस्ल की एकता

नस्ल की एकता का प्रभाव उस भावना को विकसित करने मे सहायक होता है जिससे राष्ट्रीयता विकसित होती है, प्राय: नस्ल की समानता समान राष्ट्र के प्रति लगाव उत्पन्न करती हैं, गिलक्राइस्ट का कहना है कि 'एक नस्ल से उत्पत्ति का

विश्वास, चाहे वह वास्तविक हो या अवास्तविक राष्ट्रीयता का बन्धन होता है। प्रत्येक राष्ट्रीयता की ऐतिहासिक उत्पत्ति की पौराणिक कथाएँ होती हैं।'[18]

नस्ल की एकता या विचार राष्ट्रीयता के निर्माण के संदर्भ में पहिले बहुत अधिक किया जाता था पर आज यह विचार कम महत्व का रह गया है, इसका कारण यह है कि ऐसे भी उदाहरण हैं जब कि एक नस्ल के लोगो ने एक से अधिक राष्ट्रों का निर्माण किया हो जैसे इंग्लिश और स्कॉच न्यूनाधिक एक ही नस्ल के हैं पर उनकी राष्ट्रीयता अलग अलग है, इसी प्रकार ऐसा भी है कि कई नस्ल के लोगो ने एक राष्ट्र का निर्माण किया है और उनकी राष्ट्रीयता भी एक ही है जैसे आधुनिक इटली का निर्माण रोमन, ट्यूटन, इटरस्कन, ग्रीक तथा अरब आदि ने किया। फ्रांस का निर्माण गॉल, रोमन, ब्रिटिन ट्यूटन आदि लोगो से हुआ। अमेरिका मे कई नस्लो का सम्मिश्रण हो चुका है और उसका राष्ट्रीय स्वरूप एक सा ही है।

वस्तुतः नस्ल राष्ट्रीयता के निर्माण के अनेक तत्वो मे केवल एक भौतिक तत्व है, यही एक राष्ट्रीयता नहीं है राष्ट्रीयता इससे अधिक और व्यापक है, गोब्लेट का कहना है कि 'नस्ल तथा राष्ट्र को एक कर देने का अर्थ नैतिक आत्मा को भौतिक जीव के अधीन कर देना अथवा मनुष्य मे पाई जाने वाली पशुता को मानवता का रूप देना होगा।[19] इतना अवश्य है कि नस्ल की एकता राष्ट्रीयता के निर्माण का महत्वपूर्णतत्व है। 'खून पानी से गहरा होता है' इस कहावत मे काफी कुछ सच्चाई है। रक्त की एकता एक मनोविज्ञान को जन्म देती है। विश्व की कई घटनाएँ इस तत्व की प्रभावशीलता को स्थापित करती हैं अमेरिका मे राबर्ट कैनेडी की हत्या अरब नस्ल के व्यक्ति ने की कारण अरबो के प्रति राबर्ट कैनेडी की नीति से वह असहमत था, द्वितीय विश्व युद्ध के समय ब्रिटेन मे जर्मन नस्ल के कई नागरिको को गिरफ्तार किया गया यद्यपि वे इग्लिश नागरिक बन चुके थे।

सामान्य इतिहास

यह राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करने वाला प्रमुख तत्व है। अतीत से हम समान प्रेरणा ग्रहण करते हैं, ऐतिहासिक घटनाएँ और अनुभव सभी व्यक्तियो

[18] Belief in a common origin, either real or fictitious is a bond of nationality. Every Nationality has its legendary tales of its own origins. Gilchrist, Principles of Political science P. 28.

[19] To identify race and nations is to subordinate moral conscience to organic life and to make the animalism which is in man the whole of humanity. Goblet. Quoted by Garner, Political science and Government P. 117.

मे समान मनोभावना का सचार करती हैं अपने सामान्य पूर्वजो के कार्य, अतीत की सफलताएँ, असफलताएँ, सामान्य अनुभूतिया और अतीत का यशस्वी राष्ट्र जीवन लोगों को एक राष्ट्रीयता की भावना मे बांध देता है।

सांस्कृतिक एकता

सास्कृतिक एकता राष्ट्र निर्माण का सहायक तत्व है। बहुसस्कृतिवाद या द्वि सस्कृतिवाद राष्ट्रीयता के विचार को कमजोर करता है। सस्कृति जीवन के प्रति दृष्टिकोण को विकसित करती है, सामान्य सस्कृति से सामान्य जीवन दृष्टिकोण विकसित होता है जो समान राष्ट्रीयता के सूत्र मे बधा रहता है। सास्कृति एकता का भाव राजनीतिक एकता के लक्ष्य की प्रेरक शक्ति होता है इसी से सामान्य राष्ट्रीयता विकसित होती है।

भाषा और धर्म की एकता

भाषा की एकता राष्ट्रीयता के विकास मे सहायक होती है। फिक्टे भाषा की एकता को पर्याप्त महत्व देता है। स्टालिन का मत था कि 'राष्ट्रीय एकता की कल्पना बिना सामान्य भाषा के नहीं की जा सकती, जबकि राज्य के लिये सामान्य भाषा का होना आवश्यक नही है।' [20] भाषा एक सामान्य माध्यम है जिसके द्वारा लोगो मे मस्तिष्क हृदय और आत्मा की एकता स्थापित होती है। मैक्स हिल्डबर्ट बोह्म (Max Hildebert Boehm) ने भाषा को राष्ट्रीयता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व माना है। भाषा के समान धार्मिक एकता भी राष्ट्रीयता के विकास मे सहायक होती है। यूरोपीय देशो मे धर्म ने राष्ट्रीयता के निर्धारण म महत्वपूर्ण योग दिया है स्कॉच लोगो के राष्ट्रीय चरित्र का निर्धारण सन्त जॉन नोक्स के धार्मिक प्रभाव कारण हुआ ऐसा कहा जाता है। फ्रासीसी राष्ट्रीयता को उस समय काफी प्रोत्साहन मिला जबकि कैथोलिक चर्च ने जॉन ऑफ आर्क को अपना लिया। आज धार्मिक एकता का प्रभाव कम है, पर प्रारम्भिक समय मे धार्मिक एकता और राष्ट्रीयता मे निकट सम्बन्ध रहा है। मैक्स हिल्डबर्ट बोह्म के मतानुसार 'प्रारम्भिक अवस्था मे राष्ट्रीयता तथा जातीय धर्म मे निकट का सम्बन्ध तथा किसी नस्ल-सम्बन्धी जनसमूह म एकता के प्रति जागरुकता साधारणत. होती ही है।' [21]

[20] A national community is inconceivable withot a common language while a state need not have a common language J. Y. Stalin Stalin Works vol II (1907-13) P. 304.

[21] Under primitive conditions an intimate connection between national or tribal religion and the consciousness of solidarity of the given ethnic group is both possible and normal ! Hildebert Boehm Encyclopaedia of Social Sciences Vol. XI, XII P 236-237.

सामान्यतः राष्ट्रीयता के विकास मे उपरोक्त तत्व सहायक रहते हैं, पर ऐसा नही है कि इनके विना राष्ट्रीयता का आविर्भाव ही न होता हो। एक राष्ट्र और राष्ट्रीयता के *निर्माण और विकास में वाह्य परिस्थितियाँ कम 'एक साथ रहने' का भाव अधिक* महत्वपूर्ण है। इसी कारण समान भाषा और समान रहन सहन न होते हुए भी इजराइल राष्ट्र अस्तित्व मे आसका।

राष्ट्रवाद के गुण

राष्ट्रीयता एक प्रभावशाली भावना है। इतिहास में ऐसी अनेको घटनायें हैं जिनके निर्धारण मे राष्ट्रीयता का महत्वपूर्ण भाग रहा है। वस्तुत. अपने शुद्ध रूप मे यह वाछनीय और स्तुत्य है। उत्कृष्ट राष्ट्र जीवन की यह आधार शिला है, राष्ट्रीयता वरदान है, इस भावना के कई गुण हैं जिनमे निम्न प्रमुख हैं।

१ एकीकरण करने वाली शक्ति

राष्ट्रीयता की भावना ने एकता के विचार को शक्तिशाली बनाया। मध्ययुगीन यूरोप सामन्तवाद और पोपवाद के अभिशापो से उत्पीडित था। सर्वत्र युद्ध और सघर्ष हो रहे थे, *राष्ट्र छिन्न-विच्छिन्न थे, किसी भी देश मे राजनीतिक एकता नही थी।* राष्ट्रीयता की भावना ने लोगो को एकता के सूत्र में बाधा तथा लोगो मे सामन्तवादी व्यवस्था के विरूद्ध विचारो को फैलाया। राष्ट्रीयता की भावना ने एकीकरण के प्रयत्नों को बल दिया, इसी के परिणाम स्वरूप जर्मनी, पोलैण्ड, इटली आदि देश एकीकरण की ओर अग्रसित हुये। जो देश परतत्र थे राष्ट्रीयता की भावना ने उन देशो के नागरिको मे स्वातन्त्र्य प्रेम विकसित किया राष्ट्रीयता एकत्वयोजक शक्ति बनी।

२. देशभक्ति की भावना में वृद्धि

राष्ट्रीयता देशभक्ति और देश प्रेम की भावना मे वृद्धि करती है, देश प्रेम राष्ट्रीयता का अविभाज्य तत्व है, मातृभूमि और पितृभूमि के लिये सर्वस्व समर्पण का भाव राष्ट्रीयता विकसित करता है, व्यक्ति जिस देश मे जन्म लेता है उस भूमि के साथ आत्मीयता का भाव और उसकी प्रगति के लिये अहर्निश प्रयत्नशीलता का गुण स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है, यह मनोवैज्ञानिक है, राष्ट्रीयता इस गुण को और भी अधिक दृढ और स्थिर करती है।

३. क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिकता और ंकीर्णता की विरोधी

प्रबल राष्ट्रीय दृष्टिकोण क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिकता और सकीर्णता को समाप्त कर व्यापक और विशुद्ध राष्ट्रवादी आधार प्रस्तुत करता है। राष्ट्रीयता के अभाव मे जातीयता और क्षेत्रीयता का विकास होता है, ये तत्व इतने प्रभावशाली हो जाते हैं

कि देश की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। राष्ट्रीयता की भावना इन सब का अन्त कर देती है। एक राष्ट्रीय व्यक्ति के सम्मुख साम्प्रदायिक और सकीर्ण विचार रहते ही नही हैं, राष्ट्र का विशुद्ध चिन्तन और उसकी प्रगति का चिरतन विचार व्यक्तियो के मनोभावो को प्रभावित करता है जिसके परिणाम स्वरूप सद्भावना की स्थापना होती है और देश प्रगति करता है।

४. आर्थिक विकास में सहायक

राष्ट्रीय उत्पादन के लिये राष्ट्रीय भावना चाहिये, स्वदेशी के प्रति अनुराग और उसका प्रयोग करने के लिये प्रबल आग्रह चाहिये यह राष्ट्रीयता मे ही आता है। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय मे 'स्वदेशी' के प्रयोग के आन्दोलन ने भारत के अर्थतन्त्र को प्रभावित किया और उसे पूर्णतः बदल दिया। हम भारत मे निर्मित वस्तुओ का प्रयोग करने लगे भले ही ये वस्तुएँ तुलनात्मक दृष्टि से विदेशी वस्तुओ से घटिया ही क्यो न हो। इससे राष्ट्रीय व्यापार मे वृद्धि हुई। रोजगार के अवसर बढे और उद्योगो के विकसित करने की प्रवृत्ति मे वृद्धि हुई। राष्ट्रीयता की भावना उद्योग और व्यापार मे फैले भ्रष्टाचार को दूर करती है तथा समाज और राष्ट्र विरोधी प्रवृत्तियो को रोकती है।

५. साहित्य, विज्ञान और तकनीक के विकास में सहायक

साहित्य को समाजपरक राष्ट्रीयता ही बनाती है। राष्ट्रीयता की भावना साहित्य को प्रेम और शृंगार के क्षेत्र से निकालकर राष्ट्रोन्नति और देशोत्थान की ओर प्रवृत्त करती है वह समाज के लिये सम्पूर्ण समर्पण के भाव विकसित करती है। हमारे अन्त.करण मे जब यह भाव रहता है कि हमे और हमारे देश को प्रगति करनी है तो विज्ञान के नये-नये अनुसधान और उनका समाजोपयोगी उपयोग प्रारम्भ होना है हम साहित्य विज्ञान और तकनीक के विकास के लिये कार्य करते है। अपने राष्ट्र के गौरव और उसकी प्रतिष्ठा के लिये सम्पूर्ण शक्ति के साथ प्रयत्नशील रहते हैं। स्वय अपनी भाषा का विकास करते है उसमें उच्चतम साहित्य का सृजन करते हैं।

राष्ट्रीय भावना के विकास के कारण ही पिछली एक शताब्दी से विश्व मे अनेक नई भाषायें विकसित हुई हैं। नया साहित्य लिखा गया है।

६. व्यक्तिगत चरित्र के उत्थान में सहायक

राष्ट्रीयता की प्रबल भावना व्यक्ति के चरित्र मे निर्णायक मोड लाती है। साधारणतः जीवन का यह क्रम है कि व्यक्ति अपने लिये, अपनी इच्छाओ की पूर्ति और सुख सम्पन्नता प्राप्त करने के लिये जीता है, पर राष्ट्रीयता की भावना उसमे व्यापक दृष्टिकोण और समर्पण की भावना को जन्म देती है। व्यक्ति अपने तक सीमित तुच्छ

स्वार्थों से उठकर समाज के लिये बलिदान होने की सोचता है। अपने कार्यों का निर्धारण समाजहित और राष्ट्रहित के आधार पर करता है। अपने सुख सुविधा को त्यागकर राष्ट्र के लिये स्वयं को समर्पित करता है। राष्ट्रीयता व्यक्ति में अनुशासन कर्त्तव्यपरायणता और पारस्परिक सहानुभूति को विकसित करती है। जीवन में उदात्त और महानतम भावों को जन्म देती है। राष्ट्रीयता के ही कारण हममें मानवता के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। अरविन्द घोष के अनुसार 'इस समय मनुष्य जाति के लिये राष्ट्र का विकास अत्यधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि व्यक्तिगत स्वार्थ, पारिवारिक स्वार्थ, वर्गगत स्वार्थ की जड़ें अतीत में बड़ी गहरी फैली हुई हैं। मनुष्य को पहिले इनका दमन करके अपने को विशाल राष्ट्रीय जीवन में लगाकर देना सीखना है तभी मानवता में निहित ईश्वर का विकास हो सकता है।" [22]

७. अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक

राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की पहली सीढ़ी है। राष्ट्रीयता मानवता और विश्व को प्रेम करना सिखाती है, कुछ विचारकों की धारणा है कि राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की बाधक है ये दोनों परस्पर विरोधी हैं पर ऐसा सोचना भ्रामक है। जिस प्रकार परिवार के प्रति प्रेम राष्ट्रप्रेम के मार्ग में बाधक नहीं होता उसी प्रकार राष्ट्र के प्रति प्रेम विश्व मानवता अथवा अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधक नहीं होता। दोनों में स्वाभाविक सम्बन्ध है जो व्यक्ति परिवार को प्रेम नहीं करता वह राष्ट्र से प्रेम नहीं कर सकता। राष्ट्र प्रेम की भावना को लुप्त कर विश्वप्रेम का विकास करने की सोचना अप्राकृतिक, अव्यावहारिक और अदूरदर्शी है। यह मनुष्य की सहज और स्वाभाविक स्थिति के विपरीत है।

राष्ट्रीयता के दोष

राष्ट्रीयता का एक दूसरा भी रूप है यह उसकी संकीर्ण और संकुचित धारणा के कारण है। जब राष्ट्रीयता की भावना में अपना देश श्रेष्ठ है उसकी प्रगति के लिये दूसरे देशों का शोषण करना बुरा नहीं है, इस प्रकार की भावना आ जाती है तो उस समय राष्ट्रीयता का विचार विकृत हो जाता है। ऐसी राष्ट्रीयता में उत्तेजनात्मक कार्यों की प्रधानता रहती है वह राष्ट्रीयता अनेक दोषों से युक्त होती है। यूरोपिय देशों की आक्रामक और संकीर्ण राष्ट्रीयता के कारण ही एशिया और अफ्रीका के अनेक देश

[22] The evolution of the nation is the growth which is now most important of humanity because human selfishness, family selfishness having still deep roots in the past must learn to efface themselves in the large national self in order that the God in humanity may grow. Aurobindo. The Ideal of the Karmayogi P. 36.

गुलाम बने तथा शताब्दियो तक उनका शोषण होता रहा। इस प्रकार की राष्ट्रीयता के कुछ प्रमुख दोष निम्न प्रकार हैं।

१. शोषण और स्वार्थ साधन के भाव विकसित करता है

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने राष्ट्र को कृत्रिम और अस्वाभाविक माना है वे यह मानते हैं कि "शक्ति के लिये बनाये गये सगठन ही राष्ट्र हैं।"[23] उनका कहना है कि राष्ट्रीयता एक प्रकार की व्यावसायिकता है यह अपने राष्ट्र के हित के लिये दूसरे राष्ट्र का शोषण करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता है। हेज का विचार है कि "राष्ट्रवाद जाति या राष्ट्र के सम्बन्ध मे अभिमान और गर्वभरी एक मानसिक प्रवृत्ति है जिसमे अन्य राष्ट्रो के प्रति तुच्छता और विद्वेष के भाव रहते हैं।"[24] वस्तुत. उग्र राष्ट्रवाद दूसरो के शोषण के लिये उत्तेजित करता है व्यक्ति अपने राष्ट्र को सर्वोच्च समझकर दूसरे राष्ट्रो का शोषण करने को उद्यत हो जाता है।

२. सैन्यवाद और युद्ध की प्रवृति को जन्म देता है

जब दूसरे देश को जीतने की लालसा तीव्र हो जाती है तो अपने देश मे सैनिक तैयारियाँ की जाती हैं देशवासियो मे देशाभिमान के भावो को विकसित किया जाता है। वीरोचित गुणो का उपयोग दूसरे देशो को दास बनाने के लिये किया जाता है। इतिहास मे ऐसे उदाहरणो की कमी नही है जब राष्ट्रीयता की उन्नत भावना ने सैन्यवाद को जन्म दिया और महाविनाशकारी युद्ध कराये।

३. अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रतिकूल

राष्ट्रीयता का सकुचित और सीमित विचार अन्तर्राष्ट्रीयता के विपरीत जाता है जब केवल अपने ही देश की प्रगति का भाव लोगो के मन मे समा जाता है तब विकसित देश अविकसित देशों-को सहयोग देना बन्द कर देते हैं। पारस्परिक सहयोग और सद्भाव नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता का विचार गौण हो जाता है सकीर्ण और सकुचित भाव अन्तर्राष्ट्रीय विचारो की प्रगति को रोक देते है इसी कारण प्रो० बर्नार्ड जोसफ (Bernard Joseph) का विचार है कि, 'यह (राष्ट्रवाद) एक भयावह सिद्धात है और विश्व के विकास मे एक प्रधान बाधा है'।[25]

[23] Nations are organizations of Power! Tagore, Creative Unity P. 143

[24] It is a proud and boastful habit of mind about one's own nation accompanied by a supercilious or hostile attitude towards other nations. Hayes Essays on Nationlalism P. 9.

[25] It is a dangerous principle and constitutes a chief obstacle to world progress. Bernard Joseph.

४. साम्राज्यवाद की स्थापना में सहायक

उग्र या अंधी देशभक्ति झूठे देशाभिमान को जन्म देती है, यह देशाभिमान इस भावना को जन्म देता है कि 'मेरा देश सही हो या गलत मैं सदैव उसके लिये हू' यह भावना आक्रमण के लिये प्रोत्साहित करती है विकसित और समुन्नत राष्ट्र छोटे और अविकसित देशो को गुलाम बनाते हैं और अपना साम्राज्य स्थापित करते हैं। साम्राज्य स्थापना के पीछे उग्र राष्ट्रीयता बहुत बडा कारण होती होती है । एशिया और अफ्रीका महाद्वीपो मे इसी उग्र राष्ट्रीयता के कारण यूरोपिय देशो ने साम्राज्य स्थापित किये । रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कहना था कि 'पश्चिम के राष्ट्र लुटेरो के झुण्ड हैं शिकार की तलाश मे घूमा करते हैं ।'

५. व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अन्त करना

विचारको का यह मत है कि राष्ट्रीयता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को समाप्त प्रायः कर देती है व्यक्ति राष्ट्ररूपी मशीन का एक पुर्जा मात्र बन जाता है और वह अपने स्वय के व्यक्तित्व को खो देता है एक मनोवैज्ञानिक वातावरण तैयार किया जाता है । राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने की धुन मे व्यक्ति अपने आपको एक निश्चित ढाचे मे ढालने लगते हैं इसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति स्वयं के सम्बन्ध मे भी कुछ निश्चायात्मक रूप से नही सोच पाता और राष्ट्ररूपी देवता के श्री चरणो मे अपने को होम देने मे ही अपने जीवन की सार्थकता समझता है ।

राष्ट्रीयता के विचार की आलोचना काफी तीखे रूप मे की जाती है, अन्तर्राष्टीयता की हवा मे घूमने वाले विचारक और राजनीतिक इसकी कटु आलोचना करते हैं, पर उनकी आलोचना वास्तव मे राष्ट्रीयता के उग्र पक्ष की होती है अपने वास्तविक और शुद्ध रूप मे राष्ट्रीयता निःसन्देह वरदान है कोई भी देश उस समय तक प्रगति कर ही नहीं सकता जब तक कि उसमे प्रखर राष्ट्रीयता की भावना न हो वे राष्ट्र समाप्त हो जाते हैं जिनमे राष्ट्रीयता की भावना नही होती । देश प्रेम विकास का मूल है और देश रक्षा का भी । द्वितीय विश्व युद्ध के समय जब रूस मे जर्मन सेना का आक्रमण हुआ तो उनका सामना करने के लिये साम्यवादी रूस मे भी मातृभूमि-पितृभूमि के विचार को विकसित किया, देश प्रेम और राष्ट्रीयता का सहारा लिया । चीन के आक्रमण के बाद प० नेहरू ने कहा-कि अभी तक हम अन्तर्राष्ट्रीयता के काल्पनिक लोक मे विचरण कर रहे थे वास्तव मे विश्व के विभिन्न देशो को यदि प्रगति करनी है तो शुद्ध राष्ट्रीयता की भावना को स्वीकार करना ही पडेगा । प्रो हेज का कथन पूर्ण सत्य है कि "जब राष्ट्रवाद पवित्र देशभक्ति का पर्यायवाची बन

जाता है उस समय यह विश्व तथा मानव जाति के लिये एक असाधारण वरदान सिद्ध हो सकता है"।[26]

[26] Nationalism when it becomes synonymous with the purest patriotism will prove a unique blessing to humanity and the world." Hayes Essays on Nationalism P. 11.

सहायक पुस्तकें

1 The Future of Nations . **Carr**

2 The Idea of Nationalism ... **Hans Kohn**

3 Essays on Nationalism ... **Hayes**

4 The Dynamics of Nationalism ... **Snyder**

5 Nationality and Government ... **Zimmern**

6 Encyclopaedia of Social Sciences Vol. XI, XII

7 विचार-दर्शन ... म स. गोलवलकर (गुरु जी)

8 राष्ट्र की एकता और सुरक्षा की आधारभूत मान्यताएँ ... म. स. गोलवलकर (गुरु जी)

12
अन्तर्राष्ट्रीयता
(Internationalism)

वर्तमान युग मे अन्तर्राष्ट्रीयता को समझना महत्वपूर्ण ही नही अपितु युगधारा को समझने के लिये अपरिहार्य भी है। जीवशास्त्र का विकास के सम्बन्ध मे यह मत है कि वे समुदाय और जातिया जो अपने को परिवर्तित परिस्थितियो के अनुरूप नहीं बना सकी नष्ट हो गई हैं, यह तथ्य मानव सभ्यता और राष्ट्रो के विकास का भी है जो समाज या राष्ट्र परिवर्तित मूल्यो और नवीन आव्हानो को समझते हुए उनका सामना करने के लिए अपने को नही बदल सके तथा परम्परागत और पुरातन मान्यताओ का सहारा लेते रहे वे असफल रहे परिणामत. नवीन मानवीय मूल्यो के निर्धारण के क्रम से हट गये, इसके विपरीत जिन समाजो और राष्ट्रो ने परिवर्तित मूल्यो को समझा और उसके अनुकूल अपने को बनाया वे प्रगति के मार्ग पर अग्रसर रहे। अन्तर्राष्ट्रीयता आज के युग की प्रमुख धारा है, इसका कोई विकल्प नही है। अतः आवश्यक है कि हम अन्तर्राष्ट्रीयता के मूल विचार, उसके विचारात्मक आधार और उसकी अनिवार्यता को समझें तथा उसके सदर्भ मे जो भी अपर्याप्तता हममे हो उसे दूर कर स्वय को विकसित करते हुए प्रगति करें।

अन्तर्राष्ट्रीयता का अर्थ

अन्तर्राष्ट्रीयता एक विश्वास और आदर्श है, जिसका आधार यह भावना है कि, विश्व के सभी राष्ट्र पारस्परिक एकता और साहचर्य के साथ रहते हुए पारस्परिक स्वतन्त्रता और स्वाधीनता का सम्मान करें तथा जागतिक कल्याण और उन्नति के उच्च आदर्श को सामने रखकर भौतिक और सास्कृतिक क्षेत्रो मे परस्पर सहयोग कर लाभो को प्राप्त करें।

विश्व का कोई भी स्वतन्त्र राष्ट्र चाहे वह कितना भी विशाल और समुन्नत क्यो न हो, अपने ही प्रयत्नो और साधनो द्वारा अपने निवासियो की सम्पूर्ण आवश्यकताओ को पूरा नही कर सकता अतः सभी राष्ट्रो को विश्व के अन्य राष्ट्रो के साथ समानता और पारस्परिक सहयोग के आधार पर अपने सम्बन्धो को विकसित करना अनिवार्य है, इसी स्थिति मे अन्तर्राष्ट्रीयता की अनिवार्यता और उसका मूल विचार समाहित है। इस रूप मे अन्तर्राष्ट्रीयता वह भावना है जो एक ओर सीमितता, पृथ-

कलावाद और सकुचित राष्ट्रवाद की विरोधी है तथा दूसरी ओर उग्रराष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद और सैन्यवाद की भी विरोधी है।

इतना होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीयता को परिभाषित करना सरल नहीं है। यह विश्व प्रेम की भावना है, राष्ट्र की परिधि के आगे विश्व समुदाय का विचार इसमें आता है। पचतन्त्र मे जो कुछ प० विष्णु शर्मा (चाणक्य) ने कहा है वह अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास का आधार है।[1] वाल्टर थिमर एण्ड पीटर (Walter Theimar and Peter) ने एन्साइक्लोपीडिया ऑफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स मे अन्तर्राष्ट्रीयता को परिभाषित करते हुए कहा है कि, 'अन्तर्राष्ट्रीयतावादी मानवता की आधारभूत एकता मे विश्वास करते हैं और विभिन्न राष्ट्रो के बीच की बाधाओ को दूर या कम करना चाहते हैं। वे मानवता को विभक्त करने वाले तत्वो के स्थान पर एकता स्थापित करने वाले तत्वो पर जोर देते हैं। वे किसी भी प्रकार की राष्ट्रीय घृणा, अह और भाव का विरोध करते हैं, और घनिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का प्रतिपादन करते हैं। *उनका अन्तिम लक्ष्य है अन्तर्राष्ट्रीय सघ या एक वास्तविक विश्व राज्य के पक्ष मे* राष्ट्रीय सम्प्रभुता का अन्त करना। ईसाई मानवतावाद और नैतिक सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार हैं और युद्ध को रोकना इसका प्राथमिक व्यवहारिक उद्देश्य है।'[2] गोल्डस्मिथ (Goldsmith) के अनुसार 'व्यक्ति केवल अपने राष्ट्र का ही सदस्य नही वरन् समस्त विश्व का नागरिक है।'

[1] अयं निजः परो वेति गणना लघु चेतसाम्।
उदार चरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥ पचतत्र।

'यह मेरा है, वह तेरा है, इस प्रकार की भावना तो सकुचित हृदय के लोगो मे पाई जाती है। उदार चित्त के लोग तो सारी पृथ्वी को ही एक परिवार के समान समझते हैं।'

[2] "Internationalists believe in the essential unity of mankind and wish to remove or reduce barriers between the nations: they stress what unites the people rather than what divides them. They oppose national hatreds, prides and prejudices of any kind and advocate close international collaboration. Their ultimate ideal is the abolition of national sovereignty in favour of international federation—Indeed a world state. Christian humanism and ethical principles are the bases of internationalism and the prevention of war is its primary practical aim" Walter Theimar and Peter, Encyclopaedia of World Politics.

स्पष्टतः अन्तर्राष्ट्रीयता एक व्यापक दृष्टिकोण और राष्ट्रीय एव विश्व समुदाय के हितो मे सामञ्जस्य स्थापक भावना है। यह अतिरिक्त कुछ नही है पर शुद्ध राष्ट्रीयता का विकसित और स्वाभाविक परिणाम और स्थिति है। अन्तर्राष्ट्रीयता का अन्य कुछ शब्दो के साथ जो इससे मिलते जुलते पर अनिवार्यतः भिन्न अर्थो को प्रगट करते हैं अन्तर समझना आवश्यक है। उदाहरण के लिए अन्तर्राष्ट्रीयता सार्वभौमवाद (Universalism) से प्रथक् है। सार्वभौमवाद मे सम्पूर्ण मानवता की एकता की भावना निहित है। इस विचार को मानने पर प्रत्येक राष्ट्र के व्यक्तित्व की विशिष्ठता समाप्त हो जाती है। सम्पूर्ण विश्व को एक इकाई के रूप मे मानना पड़ता है, इसका प्रतिपादन रोम के जीनो सम्प्रदाय के दार्शनिको ने और १८ वी सदी के एनलाइटेनमेन्ट (Enlightenment)—प्रबोधन—आन्दोलन के फ्रांसीसी और जर्मन विचारको ने किया था। अन्तर्राष्ट्रीयता मे ऐसा कुछ नही है उसमे प्रत्येक राष्ट्र का अपना व्यक्तित्व और प्रथक् से अपना अस्तित्व कायम रहता है। अन्तर्राष्ट्रीयता विश्व के विभिन्न देशों के मध्य उनके पारस्परिक सम्बन्धों को व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न है इसमे प्रत्येक देश के विशिष्ट व्यक्तित्व की पूर्ण रक्षा होती है।

अन्तर्राष्ट्रीयता शान्तिवाद से भी प्रथक् है। शान्तिवाद मे एफ एस नार्येज, के अनुसार 'नैतिक आधार या उसके व्यावहारिक उपयोग के आधार पर सब युद्धो का विरोध किया जाना है,'[3] पर अन्तर्राष्ट्रीयता मे ऐसा कुछ नही है, वह युद्ध विरोधी अवश्य है पर उच्चतम लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय कानून की स्थापना के लिए और युद्ध तथा उसकी प्रवृत्ति को पूर्णतः समाप्त करने के लिए युद्ध को करना अन्तर्राष्ट्रीयता की दृष्टि से उचित है।

अन्तर्राष्ट्रीयता विश्व सरकार भी नही है। यद्यपि विश्व सरकार की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित करने मे सर्वाधिक सहायक है और अन्तर्राष्ट्रीयता के अभाव मे विश्व सरकार स्थापित भी नही हो सकती, तथापि दोनो भिन्न हैं।

अन्तर्राष्ट्रीयता के मूल लक्षणो पर विचार करने पर ऐसा लगता है कि वे सब तत्व जो शान्ति स्थापक और व्यापक हितो का सम्वर्धन करने वाले हैं अन्तर्राष्ट्रीयता मे समाहित हैं। मुख्यतः अन्तर्राष्ट्रीयता विश्व शान्ति की समर्थक है, युद्ध विरोधी है, युद्ध को वह अनावश्यक मानती है। अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्रीयता की विरोधी नही है, वह तो स्वयं राष्ट्रीयता के विकास का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है, जो भावना अपने देश से प्रेम सिखलाती है वह विश्व से घृणा कैसे सिखला सकती है। राष्ट्रीयता की भावना वह सीढी है जिससे अन्तर्राष्ट्रीयता को प्राप्त किया जाता है।

[3] एफ. एस. नार्येज, राजनीतिक शब्दावली पृष्ठ क्र: १.

जोसफ (Joseph) का कथन सत्य ही है कि, 'राष्ट्रीयता मानव और मानवता के बीच *एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कडी है*।'[4] *अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना एकत्व योजक*, अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव और सहयोग को विकसित करने वाली तथा राष्ट्रो के मध्य पारस्परिक मैत्री और समझदारी की समर्थक है।

अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास और संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना

प्रत्येक विचार और मान्यता के तत्व किसी न किसी रूप म प्राचीन काल मे देखने को मिलते हैं। मानव समस्याएँ और अनिवार्यताएँ जितनी प्राचीन हैं, उनके प्रति मानव चिन्तन और उनका समाधान भी उतना ही प्राचीन है। प्राचीन स्टोइक्स (Stoics) विचारक विश्व भ्रातृत्व की भावना के प्रतिपादक थे। प्राचीन भारतीय वाङ्मय मे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' जैसे उदात्त और व्यापक दृष्टिकोण मिलते हैं। वस्तुतः समूचे विश्व को अपना समझने का विचार काफी प्राचीन और आकर्षक है।

आधुनिक काल मे अन्तर्राष्ट्रीयता का उदय राष्ट्रीय राज्यो के विकास के साथ हुआ। राष्ट्रीय राज्यो के उदय के कारण पारस्परिक झगडे और युद्ध होने लगे अत ऐसी विश्व रचना की आवश्यकता को अनुभव किया गया जिसमे राष्ट्रीय राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो को व्यवस्थित रूप दिया जा सके। १६ वी सदी मे इसी विचार को ध्यान मे रख कर ह्यूगो ग्रोशियस (Hugo-Grotious) ने अन्तर्राष्ट्रीय प्रथाओ और नैतिक नियमो को सकलित करने का प्रयत्न किया। इस सकलन को युद्ध मे शान्ति के नियम (Laws of Peace in war) नाम दिया। १६४८ मे आयोजित 'वेस्ट फेलिया काग्रेस' (Westphalia Congress) ने ह्यूगो ग्रोशियस के इस सकलन को विधिवत् मान्य भी किया।

शान्ति की स्थापना और रक्षा के लिए यूरोप का एक सघ बनाने की योजना, डक डी सली (Ducca Dy Suly) ने बनाई, १७ वी सदी के प्रारम्भ मे इसे सम्राट हेनरी अष्टम को समर्पित भी की की गई, योजना का नाम 'ग्राण्ड डिजाइन' *(Grand desiga) था। इसी प्रकार एक योजना १७१३ मे यूट्रेक्ट (Utrecut)* की सधि के पश्चात अबे दी सेंण्ट पीयर (Abbe de st Pierre) ने बनाई इस योजना ने लोगो को प्रभावित तो किया पर कोई फलदायी परिणाम नही निकला।

इसके पश्चात भी इस दिशा मे कई विचारको ने अपने-अपने प्रयत्न किये, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की लालसा मे 'कॉन्सर्ट ऑफ यूरोप' (Concert of Europe) की योजना बनी, रूसो, काण्ट, बैन्थम जैसे विचारको ने भी अपनी-अपनी योजनाएँ बनाई परन्तु सभी असफल सिद्ध हुईं।

[4] 'Nationality is an important link between man and humanity.' B, Joseph.

कई ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन किये गये जिनमे नौकाचलन, 'युद्ध मे विषैली गैस', अस्त्र-शस्त्रो के प्रयोग को निषिद्ध करने के समझौते हुऐ। परिवर्तित समय ने और औद्योगिक क्रान्ति ने समझौते के द्वारा कार्य करने का वातावरण निर्मित किया और १६०७ मे हेग सम्मेलन के पश्चात् हेग मे ही 'अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय' की स्थापना इस उद्देश्य म की गई कि पारस्परिक झगडो मे न्याय की स्थापना हो और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित हो।

लीग ऑफ नेशन्स (League of Nations)

२० वी सदी के प्रारम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीयता की अनिवार्यता को गम्भीरता से अनुभव किया जाता रहा, पर इसी बीच कुछ ऐसा हुआ कि शान्ति स्थापक प्रयत्न असफल हो गये और १६१४ मे प्रथम विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया। प्रथम विश्व युद्ध मे जो नर सहार हुआ उसने अन्तर्राष्ट्रीयता के विचार को पर्याप्त बलशाली बनाया, अन्तर्राष्ट्रीयता के समर्थन मे विश्व जनमत तैयार हुआ इसके परिणाम स्वरूप अमेरिका के राष्ट्रपति विलसन और फ्रान्स के प्रधान मन्त्री क्लिमेशों के प्रयत्नो से लीग ऑफ नेशन्स (Lea ue of Nations) की स्थापना हुई। लीग ऑफ नेशन्स शान्ति स्थापना और अन्तर्राष्ट्रीयता को सुदृढ करने की दिशा मे पहिला प्रयत्न था, इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सघ भी स्थापित किया।

लीग ने काफी प्रभावशाली तरीके से कार्य करना प्रारम्भ किया पर कुछ ही समय पश्चात उसकी असफलताऐं सामने आने लगी जर्मन के प्रति विजेता राष्ट्रो के कठोर और अनुचित निर्णय, जर्मन मे नाजीवाद का विकास, जापान की साम्राज्यवादी नीति, अमेरिका का लीग का सदस्य न हो पाना और सोवियत रूस द्वारा लीग को छोड देना, कुछ ऐसे कारण बने कि लीग कमजोर होती हुई चली गई और द्वितीय विश्वयुद्ध की भूमिका तैय्यार होती चली गई। उपरोक्त तथ्यो ने स्थिति को इतना विचित्र बना दिया कि लीग इटली को अबीसीनियाँ को हडपने से, जापान को मचूरिया पर आक्रमण करने से और जर्मन को मनमानी करने से रोक नही सकी, परिणाम स्वरूप लीग का खोखलापन सामने आ गया और यह स्पष्ट हो गया कि उसमे अब इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह विश्व शान्ति स्थापित कर सकें, जब १६३६ मे द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ तो लीग समाप्त हो गई।

सयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations Organisation)

द्वितीय विश्व युद्ध के दर्म्यान स्थायी शान्ति की स्थापना पर विचार किया जाता रहा, बहुत ही कम समय मे विश्व दो विश्व युद्धो को देख रहा था, द्वितीय विश्व युद्ध मे जो नरसहार हुआ उसकी कोई तुलना नही, अतः स्थायी शान्ति की आशा और सदैव के लिए युद्धो को समाप्त करने के विचार से सयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना

१९४५ मे की गई, सयुक्त राष्ट्र सघ के उद्देश्यो का उल्लेख, घोषणा—पत्र (Charter) मे किया गया है, उसके अनुसार निम्न उद्देश्य प्रमुख हैं —

१. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखने, और उसके उद्देश्य के लिये : शान्ति को दी जाने वाली धमकियो को रोकने एव समाप्त करने, तथा आक्रामक अथवा शान्ति भग करने के दूसरे कृत्यो का दमन करने के लिये प्रभावी सामूहिक उपाय करना, और न्याय एव अन्तर्राष्ट्रीय-विधि के सिद्धान्तो के अनुरूप शान्तिपूर्ण साधनो द्वारा उन अन्तर्राष्ट्रीय विवादो या स्थितियो का निर्धारण अथवा समायोजन करना जो शान्ति भग कर सकते हो ।

२ ससार के राष्ट्रो व मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो का विकास व विश्व शान्ति को दृढ़ बनाने के लिए अन्य उपाय करना

३. आर्थिक सामाजिक व अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना

४ इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए उद्यत विविध राष्ट्रो के क्रिया-कलापो मे सामञ्जस्य उत्पन्न करने के लिए एक केन्द्र की स्थापना करना

सदस्यता

प्रारम्भ मे सयुक्त राष्ट्र सघ के ५१ सदस्य थे वर्तमान मे इसकी सदस्य सख्या १२७ है । सघ की सदस्यता सभी शान्ति प्रिय राज्यो के लिए खुली है, कोई भी शान्ति प्रिय राज्य जो सघ के चार्टर से सहमत हो सघ का सदस्य बन सकता है ।

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रधान अंग

सयुक्त राष्ट्र सघ के ६ प्रधान अग हैं, यथा (१) साधारण सभा (२) सुरक्षा परिषद (३) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (४) आर्थिक तथा सामाजिक परिषद (५) सरक्षण समिति (६) सचिवालय

साधारण सभा

यह सयुक्त राष्ट्र सघ का प्रधान अग है । प्रत्येक देश इसका सदस्य होता है प्रत्येक देश को एक मत देने का अधिकार होता है प्राय. वर्ष मे एक बार—सितम्बर माह मे—इसकी मीटिंग होती है पर सदस्य देशो के आग्रह पर विशेष अधिवेशन भी आयोजित किये जाते हैं

साधारण सभा के कार्य काफी विशाल और व्यापक हैं उन सभी को भली प्रकार सम्पादित करने के लिए साधारण सभा की सात समितियाँ कार्य करती हैं । मुख्यतः साधारण सभा के कार्यों को चार भागो मे बाटा जा सकता है यथा—

१ विश्व शान्ति स्थापना विषयक कार्य
२ संयुक्त राष्ट्र संघ के विविध पदाधिकारियों का निर्वाचन
३ संयुक्त राष्ट्र संघ की सभी संस्थाओं के कार्यों पर निगरानी करना
४ अन्य कार्य जैसे बजट स्वीकार करना, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, मानव अधिकार आदि का संरक्षण करना

सुरक्षा परिषद् Security Council

यह संयुक्त राष्ट्र संघ का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। चार्टर द्वारा विश्व शान्ति और सुरक्षा, का प्रमुख दायित्व इसी पर है। इसके सदस्य दो प्रकार के होते हैं यथा स्थायी, और अस्थायी। स्थायी सदस्य ५ हैं (संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, राष्ट्रवादी चीन, सोवियत रूस) अस्थायी सदस्य १० हैं इनका निर्वाचन साधारण सभा दो वर्ष के लिए करती है। स्थायी सदस्यों को निषेधाधिकार (Veto) प्राप्त है अर्थात सुरक्षा परिषद किसी प्रस्ताव को (कार्यविधि को छोड़कर) उसी समय पास कर सकती है जब कि स्थायी सदस्य उसे अपनी स्वीकृति दे दें। किसी के भी असहमति देने पर प्रस्ताव पास नही माना जायगा

सुरक्षा परिषद के कार्य तथा उसकी शक्तियाँ काफी महत्वपूर्ण हैं। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सुरक्षा का मूल दायित्व इसी का है। अतः परिषद ऐसे प्रत्येक प्रश्न पर विचार करती है जिसका सम्बन्ध शान्ति से हो, परिषद सम्बन्धित पक्षों से कह सकती है कि वे झगड़े का निपटारा वार्ता, मध्यस्थता, समझौता, पंच फैसला या अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा कर लें। परिषद देशों के खिलाफ सैनिक कार्यवाही का भी विचार कर सकती है। सैनिक कार्यवाही के लिए आवश्यक सेना का प्रबन्ध करना प्रत्येक सदस्य राज्य का कर्तव्य है। परिषद को परामर्श के लिए सैनिक अधिकारियों की एक समिति (Military Staff Committee) भी है।

परिषद् नये सदस्यों की सदस्यता की स्वीकृति, पुराने सदस्यों के निष्कासन आदि पर भी विचार करती है तथा सिफारिश करती है

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय International Court of Justice.

इसमे १५ न्यायाधीश होते है। सुरक्षा परिषद और साधारण सभा मिलकर पहिले १ वर्ष के लिए इनका निर्वाचन करती है, फिर प्रति ३ वर्ष पश्चात ५ न्यायाधीश अवकाश प्राप्त करते हैं और उनके स्थान पर ५ न्यायाधीशों का निर्वाचन होता है।

न्यायालय का न्याय क्षेत्र दो प्रकार का है, पहिला अनिवार्य इसके अन्तर्गत वे मामले आते हैं जिनमे राज्यों ने इस बात के लिए अपने को बाध्य कर लिया हो कि उनके सभी अन्तर्राष्ट्रीय मामले इस न्यायालय के सम्मुख अनिवार्यतः आवेंगे। दूसरा

वैकल्पिक न्याय क्षेत्र इसके अन्तर्गत वे मामले आते हैं जिनको सम्बन्धित राज्य अपनी सम्मति से न्यायालय के समक्ष लायें। न्यायालय सुरक्षा परिषद व साधारण सभा को मागने पर कानूनी सलाह भी दे सकता है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् Economic and Social Council.

इसमे १८ सदस्य होते हैं इनका निर्वाचन साधारण सभा करती है। परिषद का मुख्य कार्य परामर्श सम्बन्धी है। आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि विषयो पर परिषद साधारण सभा या किन्ही अगो के समक्ष अपनी रिपोर्ट या सिफारिश आवश्यक कार्यवाही के लिए प्रस्तुत करती है। परिषद साधारण सभा के अधीन कार्य करती है।

संरक्षण परिषद् (Trusteeship Council)

राष्ट्र सघ League of Nations मे मैण्डेट कमेटी (Mandate Committee) थी उसी के स्थान पर अब सरक्षण परिषद गठित की है इसकी स्थापना का उद्देश्य यह है कि सयुक्त राष्ट्र सघ के सरक्षण मे जो देश हैं अथवा आने वाले हैं उनके हितो की रक्षा की जाय। इस परिषद का यह कार्य है कि वह सरक्षण प्रदेशो के सम्बन्ध मे शासक देशो म प्राप्त प्रतिवेदनो पर विचार करे व कार्य करे।

सचिवालय (Secretariat)

यह अत्यन्त महत्वपूर्ण अग है। इसका प्रधान अधिकारी प्रधान सचिव होता है। प्रधान सचिव की नियुक्ति साधारण सभा सुरक्षा परिषद के परामर्श से करती है।

सचिवालय मे आठ विभाग हैं। ये सभी सहायक सचिवो के अधीन होते हैं इन के अतिरिक्त भी कई छोटे छोटे उप विभाग हैं सचिवालय के अधिकारी सयुक्त राष्ट्र सघ के अधीन कार्य करते हैं किसी सरकार के अधीन नही।

संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्य

सघ के सम्मुख कई महत्वपूर्ण प्रश्न आये जिनमे ईरान का विवाद सबसे प्रमुख प्रश्न है जो सबसे पहले सघ के सम्मुख आया। इसके पश्चात यूनान का विवाद, बर्लिन के घेरे का विवाद, फिलिस्तीन की समस्या, कश्मीर की समस्या, कोरिया, स्वेज नहर, हगरी, कागो, साइप्रस, यमन, वियतनाम, क्यूबा, रोडेशिया आदि की समस्याएँ सघ के सम्मुख आयी। सघ ने इन सब के सम्बन्ध मे काफी धैर्य और गम्भीरता से विचार किया, तथा भरसक समस्याओ के समाधान का प्रयत्न किया। सघ कई मामलो को सुलझाने मे सफल भी हुआ।

राजनीतिक कार्यों के अतिरिक्त सघ के अराजनीतिक कार्य और उनमें प्राप्त सफलताएँ भी प्रमुख हैं। आर्थिक और सामाजिक समस्याओ के समाधान की दिशा मे

एव अविकसित देशो की प्रगति की दिशा मे सघ के कार्य उल्लेखनीय हैं। संघ की सरक्षण समिति ने भी अच्छा कार्य किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए सघ ने कागो आदि देशों मे दृढता के साथ सैनिक कार्यवाही भी की है।

सास्कृतिक तथा सामाजिक क्षेत्र मे यूनेस्को (Unesco) के द्वारा शिक्षा, विज्ञान तथा साहित्य के विकास मे काफी योग दिया गया है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के पूर्ण सफल न हो पाने के कारण और उसका भविष्य

स्थापना के पश्चात से अभी तक सयुक्त राष्ट्र सघ ने कई महत्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त की हैं, परन्तु यह भी निर्विवाद रूप से सत्य है कि सघ को अभी तक पूर्ण सफलता नही प्राप्त हुई है उसके कई कारण हैं। सघ की अपनी मर्यादाएँ हैं, उसकी अपनी कुछ सीमाएँ हैं, मुख्य कारण ऐसे हैं जिनके कारण सघ वाछनीय सफलता प्राप्त नही कर सका।

सबसे प्रमुख कारण तो यह है कि सघ के सदस्य राज्यों मे आवश्यक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण और भावना का अभाव है, राष्ट्र समस्याओ पर सीमित और सकुचित दृष्टिकोण को त्याग कर विचार कर ही नही पाते। सघ के पास प्रभुसत्ता की कमी है इसके साथ ही सघ के पास अपनी कोई स्वतन्त्र सेना भी नही है, उसे आवश्यक सैनिक कार्यवाही के लिए सदस्य राज्यो की सेना पर ही निर्भर करना पड़ता है, निश्चित रूप से यह सैनिक कार्यवाही छोटे राज्यो के विरूद्ध तो की जा सकती है, पर किसी बड़े राज्य के विरूद्ध नही की जा सकती।

रचना की दृष्टि से भी सयुक्त राष्ट्र सघ कुछ दोषपूर्ण है। सुरक्षा परिषद का गठन पूर्णतः निर्दोष नही है आज भी उसमे बडे राष्ट्रों की चौधराहट कायम है, तटस्थ राष्ट्रो की बढती हुई शक्ति को सुरक्षा परिषद मे प्रतिनिधित्व प्राप्त नही है। सयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव की शक्तियां भी अनिश्चित है। यह एक गम्भीर तथ्य है कि सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर की धारा २ के अन्तर्गत 'आक्रमण' की परिभाषा निश्चित नही दी गई। चार्टर के अनुसार 'अन्यायोचित शक्ति प्रयोग' (Illegitimate use of force) ही आक्रमण है पर 'न्यायोचित शक्ति प्रयोग (Legitimate use of force) क्या है, यह स्पष्ट नही है। यह भी एक तथ्य है कि महाशक्तियों ने निषेधाधिकार का उचित प्रयोग नही किया है।

इतना होने पर भी एक बात निश्चित है, सयुक्त राष्ट्र सघ का आज कोई विकल्प नही है। अपने मे अनेक दोषो के होते हुए और अनेक प्रश्नों मे असफल रहते हुए भी संयुक्त राष्ट्र संघ सर्वाधिक उपयोगी और विश्व शान्ति का एकमेव आधार

है। वह एकमेव आशा का केन्द्र है जहाँ से और जिसके माध्यम से मानवता की रक्षा की जा सकती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने विश्व जनमत को पर्याप्त प्रभावशाली तरीके से अपनी ओर आकर्षित किया है, इसके कुछ कार्य काफी निर्णायक और महत्वपूर्ण रहे हैं। भविष्य की आशा का यह एक केन्द्र बना हुआ है।

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक तत्व

निम्न तत्व प्रमुखतः अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास मे सहायक रहे हैं।

विश्व बन्धुत्व और मानवाधिकार

विश्व बन्धुत्व की भावना काफी प्राचीन और प्रभावशाली रही है, विश्व बन्धुत्व यह राजनीतिक विचार बाद मे बना पहिले तो यह मानवीय और धार्मिक था। सभी धर्म विश्व बन्धुत्व की भावना का प्रतिपादन करते हैं। मनुष्य मात्र मे एक ही ईश्वर के दर्शन करने की बात पर्याप्त प्राचीन और महत्वपूर्ण है। मनुष्य के सद्‌गुणो का विकास मानवता और विश्व बन्धुत्व के महान आदर्श को सम्मुख रखकर ही होता है। विश्व-बन्धुत्व का आदर्श राजनीति का आध्यात्मिक आधार रहा है। इसी धारणा ने मानव अधिकार के सिद्धान्त को जन्म दिया, जिसे सभी समुन्नत और सभ्य देश स्वीकार करते हैं।

वैज्ञानिक आविष्कार

विज्ञान की इस क्षेत्र मे सबसे बडी देन यह है कि उसने सम्पूर्ण विश्व को परस्पर मे पर्याप्त निकट ला दिया। वायुयान, रेल, टेलिविजन, रेडियो, टेलीफोन आदि के माध्यमो ने दूरी और अवधि को लगभग समाप्त कर दिया। सम्पूर्ण विश्व घर आगन बन गया है। न कुछ समय मे सम्पूर्ण जगत से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। वैज्ञानिक आविष्कारो ने विश्व को एक नवीन रूप दे दिया। इस सब के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीयता का स्वाभाविक रूप से विकास हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून

विभिन्न देशो के पारस्परिक सम्पर्क और व्यवहार ने स्वभावतः अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो को जन्म दिया जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास हुआ ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रथाऐं, समझौते, सधिया आदि विकसित हुई जो परिवर्तित सम्बन्धो को सव्यूहित करें। इसी सब मे से राज्यो के मध्य पारस्परिक विवादो को शान्तिपूर्ण ढग से सुलझाने के लिये अनेको प्रक्रियायें विकसित हुई। धीरे-धीरे शान्ति, युद्ध, तटस्थता के नियम बने पारस्परिक झगडो को शान्ति के साथ हल करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का विकास हुआ। आज इस दिशा मे इतना अधिक विकास हो

चुका है कि सभी क्षेत्रों में शान्ति स्थापित हो इसके लिये अन्तर्राष्ट्रीय कानून बन चुके हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में कई पारस्परिक झगडे निबटाये गये हैं, एक चिर प्रतीक्षित और व्यवस्थित व्यवस्था का विकास अन्तर्राष्ट्रीय कानून के माध्यम से होरहा है।

आर्थिक पर-निर्भरता

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में आर्थिक पर-निर्भरता की स्थिति ने पर्याप्त योगदान दिया है। कोई भी देश यहा तक कि अमेरिका भी अपने नागरिको की सभी आवश्यकताओं को अकेला ही पूर्ण नही कर सकता है उसे अन्य देशो से किन्ही वस्तुओं का आयात करना ही पड़ेगा, मानो प्रकृति ने ही ऐसी व्यवस्था बना कर रखी है कि विश्व का कोई भी देश स्वय में पूर्ण और आत्म-निर्भर नही हैं।

इस क्रम में औद्योगिक क्रान्ति ने बहुत बडा योगदान दिया है, उसने सम्पूर्ण विश्व की अर्थ-व्यवस्था की काया-पलट ही कर दी है। एक देश में अत्यधिक वस्तुओं के उत्पादन ने स्वभावत. बाहर बाजार खोजने की भूमिका तैयार कर दी। व्यापार ने अन्तर्राष्ट्रीय रूप ले लिया है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा, विनिमय, पोस्ट आफिस, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ये सब इसके उदाहरण है। एक देश की आर्थिक स्थिति का प्रभाव अनिवार्यत. दूसरे देश पर पडने लगा है। पारस्परिक आर्थिक सम्बन्धो के कारण अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास हुआ है। आज सम्पूर्ण विश्व अनेको विभिन्न आर्थिक तरीको से आपस में गुथ गया है।

राजनीतिक कारण

राज्यो के पारस्परिक राजनीतिक सम्बन्धो ने भी अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को विकसित किया है। राजनीतिक-सम्बन्धो के कारण विभिन्न प्रकार के राजनीतिक तथा कूटनीतिक समझौते और सधिया हुई। प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय आधार पर सगठनो का निर्माण किया गया। सामान्य हितो के प्रश्नो पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किये गये। विभिन्न देशो के राज्याध्यक्ष अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क और सद्भाव विकसित करने के लिए यात्राए करने लगे, वार्ताओं के द्वारा पारस्परिक ऐक्य और अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास हुआ। राजनीतिक सम्बन्धो ने अन्तर्राष्ट्रीयता को केवल विकसित ही नही किया अपितु उन्हे आज वह बनाये भी हुए है।

समाचार-पत्र, रेडियो और साहित्य

कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति इस तथ्य से इंकार नही कर सकता कि समाचार-पत्र, रेडियो आदि आज की अनिवार्यतायें हैं। इन सब ने ऐसे मानसिक धरातल को विकसित किया है जिसमें से अन्तर्राष्ट्रीयता स्वतः ही विकसित होती है। समाचार-पत्र रेडियो आदि ऐसे समाचारो को प्रसारित करते हैं जिनसे अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास

में सहायता मिलती है। ये वे माध्यम हैं जिनसे अपने देश की ही नही अपितु विश्व की गतिविधिया मालूम पडती हैं। सही दिशा मे और सही तरीके से जनमत को प्रभावित करने म समाचार-पत्र और रेडियो आदि प्रभावशाली माध्यम हैं।

यही स्थिति साहित्य की है, वास्तविकता यह है कि राजनीति की तुलना म साहित्य स्थायी प्रभाव स्थापित करता है, यही कारण है कि यूनेस्को ऐसे साहित्य का प्रकाशन प्रचुर मात्रा मे कर रहा है जिसमे विश्व के विभिन्न देशो के निवासी पारस्परिक जीवन, सस्कृति और समस्याओ से परिचित हो और पारस्परिक सद्भावना को विकसित करें।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन

जटिलताओ से पूर्ण और तीव्र परिवर्तित स्थिति वाले विश्व म अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो का विशेष महत्व है। जितने अन्तर्राष्ट्रीय सगठन आज विश्व में सक्रिय हैं, उतने इससे पूर्व कभी भी विश्व मे सक्रिय नही रहे हैं। ये सगठन केवल राजनीतिक क्षेत्र मे ही नही अपितु आर्थिक, वैज्ञानिक, स्वास्थ्य, श्रम, सामाजिक और सास्कृतिक क्षेत्र मे भी प्रभावशाली हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास मे इन सब का योगदान अतुलनीय है। वर्तमान मे सयुक्त राष्ट्र सघ सर्वाधिक विशाल और प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय सगठन है।

अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधाएँ और उनको दूर करने के उपाय

कुछ ऐसे भी तत्व और परिस्थतिया हैं जो अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग मे बाधाओ को उपस्थित करती हैं जिनके रहते वे परिस्थितिया विकसित नही हो सकती जो वास्तविक रूप मे अन्तर्राष्ट्रीयता मे सहयोगी हो।

उग्र राष्ट्रवाद या जिसे सामान्यतः आक्रामक राष्ट्रवाद भी कहते हैं, अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग मे सबसे बडी बाधा है। अपने देश को श्रेष्ठ समझना बुरा नही है, पर अपने ही देश को श्रेष्ठ समझना उचित नही। अपन देश की प्रगति के लिये दूसरे देश को समाप्त करन की सोचना अच्छा नही, यह अन्तर्राष्ट्रीयता क विपरीत है, राष्ट्र की शक्ति के विकास के लिय युद्ध उचित नही है।

साम्राज्य स्थापना की लालसा अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विरुद्ध है। दोनो मे कोई साम्य और सह-अस्तित्व नही है। साम्राज्यवाद राष्ट्रो के शोषण और उत्पीडन का साधन है जब कि अन्तर्राष्ट्रीयता अमन और चैन का नाम है। इसी प्रकार क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति सीमित भावना को जन्म देती है जिसके परिणाम स्वरूप पारस्परिक अविश्वास और कटुता मे वृद्धि होती है। क्षेत्रीयता की प्रवृति को विकसित करने मे सीमिति और सकुचित स्वार्थ प्रमुख कारण है। आज सोवियत रूस

और अमेरिका दोनों इस प्रवृत्ति को बढावा दे रहे हैं। सीटो, नाटो, वारसा आदि सगठन इसी के परिणाम हैं। जातीय भेद और जातीय घृणा ने अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग मे बहुत बडी बाधा को उपस्थित किया है। रग और रूप के आधार पर विश्व मे उच्च और हीन मनोभावना को विकसित करने का प्रयत्न अनिवार्यतः अन्तर्राष्ट्रीयता और मानवता विरोधी है।

अन्तर्राष्ट्रीयता एक रूपता मे नही है, न यह राष्ट्रीय हितो को सदैव के लिये समाप्त करने मे है। अन्तर्राष्ट्रीयता तो विभिन्न देशो के प्रथक अस्तित्व और व्यक्तित्व को स्वीकार करती है। वह तो विभिन्न देशो के बीच उनके पारस्परिक सम्बन्धो को व्यवस्थित रूप देने का एक मनोविज्ञान है, यदि ऐसा है तो साम्यवाद भी अन्तर्राष्ट्री-यता के मार्ग मे उतना ही बडा व्यवधान है जितना कि साम्राज्यवाद और उपनिवेश वाद। साम्यवाद विभिन्न विचारों के सह-अस्तित्व मे और पारस्परिक सहयोग मे विश्वास नही करता वह वर्ग सघर्ष का समर्थक है यह अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विरुद्ध है उसके लिये अन्तर्राष्ट्रीयता कम्युनिस्ट देशो के बीच ही सम्भव है, आज तो यह भी कह पाना कठिन है कम्युनिस्ट देशो में परस्पर कटुता और विरोध है।

जहा तक अन्तर्राष्ट्रीयता क मार्ग की बाधाओ को दूर करने का प्रश्न है, यह आवश्यक है कि विश्व मे उन तत्वो के विरुद्ध सक्षम और प्रभावशाली जनमत तैयार किया जाय जो अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग मे बाधाओ को उत्पन्न करते हैं। उदार राष्ट्र-वाद की स्थापना और उसके विकास के बिना अन्तर्राष्ट्रीयता की स्थापना नही हो सकती है। सीमित राष्ट्रीय स्वार्थों को हमे उसी प्रकार त्यागना पडेगा जिस प्रकार राष्ट्रीयता के लिये हम सीमित क्षेत्रीय स्वार्थों को त्यागते हैं। साम्राज्यवाद, उपनिवेश वाद और साम्यवाद की प्रवृत्तियो के रहते भी अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना विकसित नही हो सकती। सकारात्मक रूप मे हमे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास करना चाहिए, सांस्कृतिक आदान-प्रदान द्वारा अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास हो सकता है, इसके परिणामस्वरूप पारस्परिक समझ और निकटता आती है तथा सह-जीवन की भावना विकसित होती है। विभिन्न हृदयो मे एकता और सद्भाव स्थापित होता है। सर्वाधिक प्रमुख और महत्वपूर्ण बात अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो को शक्तिशाली बनाया जाय। सयुक्त राष्ट्र सघ निश्चित रूप से अन्तर्राष्ट्रीयता की आशा और आकाक्षा को पूर्ण करने मे समर्थ है। यदि सयुक्त राष्ट्र सघ (U. N. O.) शक्तिशाली बनेगा तो अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास स्वतः होगा। संयुक्त राष्ट्र सघ देशों को निकट लाने का और परस्पर विरोधी देशो के प्रतिनिधियो को एक मंच पर एकत्रित करने का सशक्त रगमच है, जिसका कोई विकल्प नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीयता की स्थापना के लिए निरस्त्रीकरण, सेनाओ में कमी, सहारक शस्त्रो की समाप्ति और विश्व के विभिन्न देशो द्वारा युद्ध विसर्जन सधिया अत्यधिक उपयोगी हैं, जब तक यह कुछ नही होता तब तक कोई भी प्रयत्न इस दिशा मे फली-भूत नही हो सकता।

सहायक पुस्तकें

1 राजनीतिक शब्दावली ... मॉरिस क्रन्सटन
2. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ... डॉ. दीनानाथ वर्मा
3. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ... फ्रैडरिक एल. शूमा
4. Essays on Nationalism ... Hayes
5 Nationalism and Internationalism ... Earle
6. Encyclopaedia of Social Sciences .. Brailsford

13
साम्राज्यवाद
(Imperialism)

वर्तमान शताब्दी के सर्वाधिक निन्दात्मक शब्दो मे 'साम्राज्यवाद' भी एक शब्द है। कोई भी सभ्य देश अपने को साम्राज्यवादी नही कहलाना चाहता यह एक गुण नही अपितु मानवता विरोधी प्रवृत्ति हो गई है।

लगभग एक सदी पूर्व साम्राज्यवाद शब्द मे सत्ता और गरिमा दोनो निहित थी यह एक बडी चीज थी वेबस्टर्स इन्टरनेशनल डिक्शनरी के १८६० तक के सस्करणो में साम्राज्यवाद का अर्थ सम्राट की शक्ति या चरित्र, शाही अधिकार या सत्ता साम्राज्य की भावना यह था। पर आज परिस्थिति भिन्न है आज इस शब्द का अर्थ वदल गया है वेब्स्टर्स थर्ड न्यू इन्टर नेशनल डिक्शनरी के १९६१ सस्करण मे साम्राज्यवाद की निम्न परिभाषा दी गई है "वह नीति, कार्य या ऐसे कार्य का समर्थन जिनके द्वारा कोई देश नये प्रदेश पर अधिकार या नियन्त्रण जो सम्बन्धित देश की प्राकृतिक सीमाओ के बाहर पडते हो या कोई देश अन्य जातियो पर अपना शासन कायम करना चाहता है।" स्पष्ट है कि साम्राज्यवाद का यह अर्थ १९ वी सदी के अन्त और २० वी सदी के प्रारम्भ मे प्राप्त हुआ है।

इस अर्थ परिवर्तन के पीछे समूचा इतिहास है। एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रीय आन्दोलनो के विकास के साथ साम्राज्यवाद का प्रबल विरोध प्रारम्भ हुआ और इसे मानवता विरोधी निरकुश, परिणामतः निन्दनीय समझा गया वैसे किसी न किसी रूप मे यह विरोध पहले मे ही था रिचर्ड कोएवरन ने इस बात को समझाने का प्रयत्न किया है कि यूरोप मे इस शब्द ने निन्दात्मक अर्थ कब ग्रहण किया। कोएवरन के अनुसार साम्राज्यवाद को निन्दात्मक अर्थ उस समय प्राप्त हुआ जब कि १९ वी शताब्दी के मध्य मे नेपोलियन के फ्रास मे दूसरे साम्राज्य के लिये इसका प्रयोग किया गया। उस समय इग्लैण्ड के अन्दर नेपोलियन के साम्राज्य के लिये प्रबल शत्रु भाव था। अतः नेपोलियन तृतीय ने अपने साम्राज्य मे जो शासन व्यवस्था स्थापित की उसे "साम्राज्यवाद" कहा गया। इस शासन को अग्रेज असंसदीय और असवैधानिक मानते थे। अतः साम्राज्यवाद का अर्थ तानाशाही और स्वेच्छाचारी निरकुश सरकार माना गया। 'आक्सफोर्ड इगलिश डिक्शनरी' मे साम्राज्यवाद का जो अर्थ किया गया है वह उपरोक्त अग्रेज प्रतिक्रिया को प्रगट करता है।

डिक्शनरी के अनुसार 'साम्राज्यवाद' किसी सम्राट का शासन विशेष रूप से जब यह तानाशाही या निरंकुश हो '+' है [1]

साधारणतः साम्राज्यवाद की जितनी भी परिभाषायें की जाती हैं उन सभी मे उसकी निरंकुश प्रकृति का उल्लेख रहता ही है। इसमे एक राष्ट्र के व्यक्तियो का दूसरे राष्ट्र पर प्रभुत्व स्थापना का तत्व भी सम्मिलित रहता है।

मौरिट्स जूलियस बोन ने एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोश्यल साइंसेज मे साम्राज्यवाद की विभिन्न परिभाषा की है। "साम्राज्यवाद वह नीति है जिसका उद्देश्य एक साम्राज्य अर्थात् एक ऐसे राज्य का निर्माण करना, उसका सगठन करना तथा उसे बनाये रखना होता है जो आकार से सुविशाल हो, जिसमे न्यूनाधिक रूप से अनेक राष्ट्रीय इकाइया सम्मिलित हो।" [2]

सी० डी० बर्न्स (C D. Burns) का कथन दूसरे प्रकार का है। उसका कहना है कि 'विविध देशो तथा जातियो पर एक ही प्रकार के कानून तथा शासन की *व्यवस्था का नाम साम्राज्यवाद है।*' [3] उपरोक्त परिभाषा मे स्पष्ट है कि इसमे साम्राज्यवाद के कानूनी और प्रशासनिक स्वरूप और पक्ष पर जोर दिया गया है। इन दोनो परिभाषाओ मे साम्राज्यवाद का वास्तविक स्वरूप प्रकट नही हो पाता। ये परिभाषाए कुछ उदार दृष्टि लिए हैं। प्रो० शूमा की परिभाषा साम्राज्यवाद के वास्त- *विक स्वरूप को किसी सीमा तक प्रगट करती है। उसके अनुसार "शक्ति और हिंसा* के द्वारा अधीन जनता पर विदेशी शासन का लादा जाना ही साम्राज्यवाद है। चाहे इस कथन के विपरीत कितनी ही नैतिकता बघारी जाए और कितने ही बहाने बनाये जाय।" [4]

[1] मॉरिस क्रैन्सटन : राजनीति शब्दावली उद्धृत पृ० 104

[2] Imperialism is a Policy which aims at creating, organising and maintaining an empire, that is a state of vast size composed of various more or less distinct national units and subject to single *centralised will.*

Moritz Julius Boun. Encyclopaedia of Social Sciences
Vols. VII and VIII P 605.

[3] *Imperialism is a name given to single system of law and* government in many different lands and races
C. D Burns Political Ideals P. 198.

[4] Imperial is the imposition by force and violence alien rule upon subject people, despite all misalizing and Pretentions to the contrary. Schuman Quoted by E. Ashirvatham Political Theory P 472.

जॉन एटकिन्सन हॉब्सन ने साम्राज्यवाद की परिभाषा में एक और महत्वपूर्ण तत्वको जोड़ा। वह तत्व था 'आर्थिक शोषण'। हाब्सन ने अपने साम्राज्यवाद सम्बन्धि विचारो का उल्लेख १९०२ में साम्राज्यवाद' (Imperialism) शीर्षक से लिखित पुस्तक में किया है। वस्तुतः हाब्सन को बोर युद्ध से जो आघात पहुंचा उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उपरोक्त पुस्तक लिखी गयी थी।

हाब्सन ने इस तथ्य को प्रगट किया है कि यूरोपीय सरकारो ने ऐशिया और अफ्रीका मे जो साम्राज्य स्थापित किये उनके पीछे उन सरकारो को काम मे बढ़ावा देने का कार्य वहा के पूजीपतियो ने दिया। ये पूजीपति अपने सामान की खपत के लिए और कच्चेमाल की प्राप्ति के लिए जो कारखानो के लिए आवश्यक था नये-नये प्रदेशो की खोज मे थे। हाब्सन ने इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि साम्राज्यवाद, राज्य की एक सचेतन नीति के रूप मे वस्तुतः पूंजीवाद के एकाधिकार की अभिव्यक्ति है।

हाब्सन के विचारो को वी. आई. लेनिन ने ग्रहण किया। लेनिन ने १९१६ मे साम्राज्यवाद, पूजीवाद की चरमसीमा (Imperialism the highest stage of Capitalism) शीर्षक से एक पुस्तक लिखी, इस पुस्तक मे लेनिन का कहना है कि यदि साम्राज्यवाद की सक्षिप्ततम परिभाषा देना हो तो हम कहेगे कि 'पूजीवाद की इजारेदारी वाली अवस्था का नाम साम्राज्यवाद है।' और भी साम्राज्यवाद पूंजीवाद के विकास की वह अवस्था है, जिसमे पहुचकर इजारेदारियो तथा वित्तीय पूंजी का प्रभुत्व दृढ रूप से स्थापित हो चुका है। जिस अवस्था मे पूंजी का निर्यात अत्यधिक महत्व ग्रहण कर चुका है, जिस अवस्था मे अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्टो के बीच दुनिया का बटवारा प्रारम्भ हो गया है, जिस अवस्था मे सबसे बडी पूजीवादी ताकतो के बीच पृथ्वी के समस्त क्षेत्रो का बटवारा पूरा हो चुका है।"[5]

हाब्सन और लेनिन के उपरोक्त विचारो मे सत्यांश है। आर्थिक शोषण साम्राज्यवाद का मूल तत्व है। दूसरे देशों पर आधिपत्य नये बाजार खोजने, अपनी पूंजी की लागत के लिए नये क्षेत्र ढूढने, उद्योगो के लिए कच्चामाल प्राप्त करने तथा अन्य आर्थिक लाभो को प्राप्त करने के लिए किया जाता है। आर्थिक लाभो को प्राप्त करने के लिए, दूसरे शब्दो मे आर्थिक शोषण करने के लिए दूसरी जाति पर राजनीतिक आधिपत्य स्थापित किया जाता है तथा दूसरी जातियो को गुलाम बनाया जाता है उसकी राजनीतिक स्वतन्त्रता को समाप्त किया जाता है तथा उस पर अपना

[5] लेनिन, साम्राज्यवाद पूंजीवाद की चरम अवस्था पृष्ठ १०९–११०

शासन बलपूर्वक स्थापित किया जाता है। साम्राज्यवाद मे यह सब होना है। इतना ही नही, विजित देशो की सस्कृति और सभ्यता को भी समाप्त कर दिया जाता है।

इतिहासकार टेसीटस ने कहा है कि जब रोमन लोगो ने ब्रिटेन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया तो उन्होने उस देश के प्रमुख लोगो के पुत्रो को रोम के साहित्य और विज्ञान मे दीक्षित करना तथा उन्हे रोम की सभ्यता का स्वाद देना प्रारम्भ किया परिणामत: जो लोग रोम के कट्टर शत्रु थे वे रोम के विश्वसनीय मित्र बन गये।[6] वस्तुत हर युग के साम्राज्यवादियो ने रोम की इस नीति का अवलम्बन किया है।

साम्राज्यवाद की विशेषताएं

साम्राज्यवाद की उपरोक्त व्याख्याओ से स्पष्ट है कि साम्राज्यवाद की निम्न विशेषताए प्रमुख हैं।

१ साधारणत साम्राज्यवाद का आकार बडा होता है, इसमे विविध राष्ट्रीय इकाइयो पर एक ही राष्ट्र का आधिपत्य स्थापित रहता है। बौन का कथन है कि "राष्ट्रीय एकता नही, वरन् राष्ट्रीय विभिन्नता तथा आकार साम्राज्यवाद के प्रमुख लक्षण हैं।"[7] साम्राज्यवाद अपने राष्ट्र की सीमाओं को बढाने मे विश्वास करता है।

२ साम्राज्यवाद के दो पक्ष होते हैं। साम्राज्यवाद अधीन राज्य के लिए दासता का प्रतीक है उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है वह आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से अधिपति राज्य की इच्छा पर निर्भर रहता है। साम्राज्यवाद अधिपति राज्य को असीमित अधिकार और शक्तिया प्रदान करता है।

३. साम्राज्यवादी देश अपने हितो की रक्षा के लिए सतर्क रहते हैं उनका उद्देश्य अधीन राज्यों का विकास करने का नहीं होता वरन् उसका शोषण कर अपना लाभ उठाने का होता है। शूमा-(Schuman) का कथन सही है कि 'साम्राज्यवाद का उद्देश्य अपने अधीन देशो को लाभ पहुचाना नही वरन् अपने देश को लाभ पहुंचाना होता है।'[8]

[6] सत्यनारायण दुबे, आधुनिक राजनीतिक विचार धारायें से उद्धृत पृष्ठ ३७२

[7] National diversities not national uniformity and size make an empire.

Moritz Julius Boun

[8] It is not more the purpose of the Imperialism to confer benefits upon home country.

Schuman

४. साम्राज्य स्थापना में शक्ति तथा निम्न श्रेणी के तरीको का प्रयोग किया जाता है। छल, कपट, और दमन पूर्ण कार्यों को प्रयोग मे लाया जाता है अधीनस्थ देश की सस्कृति, सभ्यता का सम्मान करना तो दूर रहा उल्टे उसे समाप्त किया जाता है। विश्व मे कही भी साम्राज्य बिना हिंसक शक्ति के प्रयोग के स्थापित नही हुए हैं। बल प्रयोग साम्राज्य स्थापना का अनिवार्य साधन है। स्थापना के पश्चात् भी शक्ति के बल पर ही साम्राज्यवादी शक्तियां अपने को अधीनस्थ देशों में बनाए रखती हैं।

५. साम्राज्यवाद का विश्वास केन्द्रीयकृत व्यवस्था मे होता है।

साम्राज्यवाद का स्वरूप

यह एक आकर्षक प्रश्न है कि साम्राज्यवाद का स्वरूप क्या है? सामान्यतः इसके सम्बन्ध मे तीन प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित हैं जो निम्न हैं।

१. साम्राज्यवाद का दार्शनिक सिद्धान्त

यह प्राकृतिक नियम है कि सबल निर्बल पर शासन करता है, सम्पूर्ण प्रकृति मे यह तथ्य विराजमान है। यह सर्व व्यापी और सनातन है। केवल मनुष्य मे ही नही वरन् पशु, पक्षी और वनस्पतियो मे भी यही नियम पाया जाता है। इस मान्यता के सदर्भ मे साम्राज्यवाद की स्थापना प्राकृतिक जगत मे प्रचलित सर्वव्यापी सिद्धान्त का स्वाभाविक परिणाम लगती है। यह स्वाभाविक ही है कि सबल और समुन्नत देश कमजोर और अविकसित देशो को अपने अधीनस्थ करके रखें।

२. साम्राज्यवाद का ऐतिहासिक सिद्धान्त

इस मान्यता के अनुसार साम्राज्यवाद एक ऐतिहासिक तथ्य है। ऐतिहासिक तथ्य साम्राज्यवाद का सदैव समर्थन करती है। इतिहास हमे बताता है कि पृथ्वी पर सदैव साम्राज्य स्थापित रहे हैं। साम्राज्य स्थापना मनुष्य की विजय भावना और युद्ध प्रियता के गुण का परिणाम है। प्राचीन काल मे सीरियन, बैबीलोनियन, परशियन साम्राज्यों का उल्लेख मिलता है। मध्यकाल मे रोमन, मगध साम्राज्य थे। आधुनिक काल मे साम्राज्यवाद अनेको रूपो मे यथा उपनिवेश (Dominiam,) कोलोनी (Colony) सरक्षित राज्य (Protectorare) आदि मे देखने को मिलते है।

साम्राज्यवाद का आर्थिक सिद्धान्त

यह सिद्धान्त इस विचार को स्थापित करता है कि साम्राज्य स्थापना के पीछे आर्थिक शोषण प्रमुख प्रेरक शक्ति है। आर्थिक सिद्धान्त अनेको उपमतों को लेकर चलता है। एक मत यह है कि साम्राज्यवाद कृषि प्रधान सभ्यता और औद्योगिक सभ्यता के सम्पर्क का परिणाम है। इस विचार के अनुसार औद्योगिक दृष्टि से सम्पन्न

देश वैज्ञानिक साधनो से सम्पन्न होते हैं और वे कृषि प्रधान देशो पर सहज ही अपना आधिपत्य स्थापित कर लेते हैं।

दूसरा मत यह है कि पूजीवादी देश अपनी पूजी की खपत के लिए अविकसित देशो मे अपनी पूजी लगाते हैं, वहा कारखाने और उद्योग चलाते हैं तथा कालान्तर मे अवसर पाकर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेते हैं। जैसे टर्की मे हुआ। तीसरा मत हाब्सन का है जिसे लेनिन ने और भी विकसित किया है तथा जिसके अनुसार 'साम्राज्यवाद पूजीवाद की अन्तिम अवस्था है।' पूजीवादी देश अपने यहा औद्योगिक विकास मे वृद्धि करके अपने माल की खपत के लिए नये प्रदेशो को देखते हैं, वहा अपना माल भी खपाते हैं और वहा से कच्चा माल भी प्राप्त करते हैं। इस प्रकार साम्राज्य स्थापित करते हैं। आर्थिक उप विचार कितने भी हो सभी मे महत्वपूर्ण बात यह है कि साम्राज्य स्थापना मे देश राजनीतिक पहलू को इतना महत्व नही देते जितना कि उसमे आर्थिक पहलू को देते हैं।'

साम्राज्यवाद के विकास का इतिहास

साम्राज्यवाद के विकास का इतिहास काफी मनोरंजक और महत्वपूर्ण है। दुनिया की लडाइयो की बातें, युद्ध मे बहे हुए खून, और अगणित मौतो की कहानिया साम्राज्य स्थापना के प्रयत्नो मे छिपी हैं। प्रारम्भ मे साम्राज्य नही थे, नगर राज्य (City State) और जनपद थे। पर बहुत कम समय तक यह सब रहा। जनपद और नगर राज्यो के अस्तित्व मे आने के साथ ही साम्राज्यवाद की प्रकृति विकसित हुई और शीघ्र नगर राज्यो के स्थान पर विशाल साम्राज्यो की स्थापना प्रारम्भ हो गई।

इजिप्ट मे ३४०० ई० पू० साम्राज्य स्थापित हुए, अनेक राज्य मिलकर साम्राज्य बने। मैसोपोटामिया मे भी यही हुआ। वहा भी यूफ्रेटिस तथा टाइग्रिस नदियो के प्रदेशो को जीतकर बेबीलोनियन साम्राज्य स्थापित हुआ। भारत आदि देशो मे भी ऐसा ही हुआ।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय मे साम्राज्य स्थापना का उल्लेख मिलता है। 'चक्रवर्ती' 'सार्वभौम' और सम्राट' शब्दो का प्रयोग प्राचीन साहित्य मे हुआ है। ये शब्द साम्राज्य सूचक हैं। मौर्य साम्रटो ने मगध साम्राज्य स्थापित किया।

समय के साथ प्राचीन साम्राज्य समाप्त हो गये। मध्ययुग मे नए साम्राज्यो का निर्माण हुआ शार्ले मैन (Charle magn) जैसे राजाओ ने यूरोप के बड़े भूभाग पर आधिपत्य स्थापित किया। भारत में भी हर्ष वर्धन पुलकेशीन द्वितीय, महिपाल *आदि राजाओ ने साम्राज्य स्थापित किये। मुगल आक्रमण के साथ तुगलक व मुगल* वंशो ने भारत में साम्राज्य स्थापित किये।

पन्द्रहवी सदी मे यूरोप की शक्तियो ने समुद्री व्यापार के नये मार्ग खोले, इनके साथ ही साम्राज्य स्थापना का आधुनिक क्रम प्रारम्भ हुआ और शीघ्र ही अमेरिका, अफ्रीका, ऐशिया महाद्वीप मे कई साम्राज्य स्थापित किये गये। ये सब साम्राज्य यूरोपिय शक्तियो के द्वारा स्थापित किये गये। अठारवी सदी की औद्योगिक क्रान्ति ने साम्राज्य स्थापना मे काफी सहयोग दिया। १६ वी सदी तक विश्व का बहुत बड़ा भू-भाग विभिन्न साम्राज्यो के अधीन आ गया। इसमे ब्रिटेन का साम्राज्य इतना विशाल था कि उसके सम्बन्ध मे यह तथ्य प्रचलित हो गया कि 'ब्रिटेन साम्राज्य मे सूर्य कभी अस्त नहीं होता।' वास्तविकता यह थी कि ब्रिटिश साम्राज्य सम्पूर्ण पृथ्वी के लगभग ⅕ भू-भाग पर फैला हुआ था तथा कुल जनसंख्या का ¼ भाग इसकी आधीनता मे था।

वर्तमान समय मे प्रथम महायुद्ध के पश्चात् साम्राज्यो का ह्रास प्रारम्भ हुआ तथा द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् बडी तेजी से साम्राज्यवाद समाप्त हो चला है। धीरे-धीरे ऐशिया और अफ्रीका के लगभग सभी देश स्वतंत्र होते जा रहे हैं। यह क्रम अभी भी चल रहा है।

आधुनिक युग में साम्राज्यवाद के विभिन्न प्रकार

आधुनिक युग मे साम्राज्यवाद के अनेक प्रकार हैं, जिनमे निम्न प्रमुख हैं।

१. आधीनस्थ राज्य (Subject Countries)

इसके अन्तर्गत अधिपति देश अन्य देशो को पूर्णत: अपने अधीन कर लेता है। वहा की शासन व्यवस्था और सेना पर अधिपति का पूर्ण अधिकार होता है। इसका उदाहरण भारत, वर्मा, श्रीलंका है। इन पर ब्रिटेन का आधिपत्य था। इसी प्रकार इण्डोचाइना पर फ्रास का आधिपत्य था। इन देशों मे अधिपति द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि शासन करता था।

२. उपनिवेश (Dominions)

इस व्यवस्था मे अधीन देशो को औपनिवेशिक स्तर (Dominion Status) प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका तथा न्यूजीलैण्ड आदि ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेश थे। उपनिवेशों मे यह व्यवस्था होती है कि ये देश आन्तरिक मामलो मे पूर्ण स्वतत्र होते हैं। पर विदेश सम्बन्ध ब्रिटिश सरकार की नीति के अनुसार होते हैं।

३. कॉलोनी (Colony)

जब अधिपति देश अन्य देशो के छोटे-छोटे भू-भागो पर स्वयं अपने हितो के सरक्षण के लिए अधिकार स्थापित कर लेते हैं तो वह कॉलोनी कहलाते हैं। उदाहरणार्थ माल्टा, जिब्राल्टर आदि क्षेत्र ब्रिटिश कॉलोनी थे।

४ संरक्षित राज्य (Protectorates)

यह वह व्यवस्था है जहा कि किसी देश की अपनी सरकार होती है । उसका अपना व्यक्ति राजा होता है, या राज्य का प्रमुख होता है पर जिसे अधिपति देश अपने आधीन रखता है । इसमे पर राष्ट्र सम्बन्ध, रक्षा और वित्तीय आदि विषयो पर अधिपति देश का नियत्रण होता है । १६२२ से पूर्व मिस्र ब्रिटेन का एक सरक्षित प्रदेश था ।

५ आदेशित राज्य (Mandated Territory)

यह व्यवस्था प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् अस्तित्व मे आयी है । इस व्यवस्था के अन्तर्गत यह व्यवस्था थी कि कुछ छोटे राज्य राष्ट्र सघ (League of Nations) द्वारा कुछ प्रभावशाली और बडे देशो के सुपुर्द कर दिये गये थे तथा इन छोटे राज्यो को उस समय तक शासक राज्यो के आधीन रहना था जब तक ये स्वय शासन करने के योग्य नही हो जाते । शासक देशो पर राष्ट्र सघ का कुछ नियत्रण था प्रत्येक शासक देश को इन देशो के शासन के सम्बन्ध मे अपना प्रतिवेदन प्रतिवर्ष राष्ट्र सघ को देना पडता था आज भी यह व्यवस्था कई स्थानो पर प्रचलित है । सयुक्त राष्ट्र सघ की (U. N. O.) ट्रस्टी शिप (न्यास) परिषद् (Trusteeship Council) आज भी इन राज्यो की देख भाल के लिए उत्तरदायी है ।

६ पट्टेदारी (Leasehold)

इस व्यवस्था के अन्तर्गत अधिपति देश अन्य राज्यो के कुछ प्रदेशो को पट्टे पर प्राप्त कर लेता है और उसकी व्यवस्था अपने हाथ मे रखता है । पोर्ट आर्थर और डोरियम क्षेत्र जापान के पास पट्टेदारी मे थे । पनामा के पास की भूमि सयुक्त राज्य अमेरिका के पास पट्टे पर थी ।

७. संयुक्त नियंत्रण (Condominium)

इस व्यवस्था के अन्तर्गत एक से अधिक साम्राज्यवादी देश किन्ही प्रदेशो पर अपने हितो की पूर्ति के लिए सम्मिलित अधिकार स्थापित कर लेते हैं तथा वहा की व्यवस्था अपने पास रखते हैं । न्यू हेब्रीडस पर फ्रास तथा ब्रिटेन का सम्मिलित अधिकार था इसी प्रकार सूडान पर ब्रिटेन और मिश्र का तथा शघाई पर अमेरिका एवं फ्रास का अधिकार था ।

८. बहिर्देशीयता (Extra-Territoriality)

इस व्यवस्था के अन्तर्गत किसी देश की सीमा के अन्तर्गत बाहरी देश के अधिकार क्षेत्र को स्वीकार किया जाता है । वैसे यह अधिकार विदेशो के राजदूतो आदि को भी प्राप्त होता है । पर ऐसा भी होता है कि साम्राज्यवादी देश के कुछ

लोग व्यापार आदि के लिए दूसरे देशों मे जाते हैं और वहा जाकर वे लोग बस जाते हैं उसके पश्चात् यह मांग करते हैं कि उन पर जिस देश मे वे बसे हैं वहा के कानून लागू न किये जाय, ऐसा करके वे अपने को तथा जितने प्रदेश मे वे रहते हैं उस प्रदेश को उस देश के न्याय क्षेत्र व विधि से अलग कर लेते थे । भारत मे भी अंग्रेजो शासन स्थापित होने के पूर्व अंग्रेजो को व्यापारिक कोठियो के क्षेत्रो मे ऐसे ही अधिकार प्राप्त थे ।

९. आर्थिकक नियंत्रण

इस *व्यवस्था के अन्तर्गत होता यह है कि जब कोई पिछड़ा अथवा अविकसित* देश किसी देश का कर्जदार हो जाता है और सुविधा से वह कर्जा नही पटा पाता, तो कर्जदाता देश कर्जदार देश के राजकीय आय के किसी अश पर अपना अधिकार कर लेता है । प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात जब जर्मन कर्ज न पटा पाया तो मित्र राष्ट्रों ने उसके आय के कई साधनो पर अधिकार कर लिया था ।

१० प्रभाव क्षेत्र

इस व्यवस्था के अन्तर्गत साम्राज्यवादी देश किसी देश के भू-भाग पर तो अधिकार नही करते पर उस देश के विविध भागो पर व्यापार व्यवस्था आदि की सुविधायें प्राप्त कर लेते हैं । इस रूप मे यह प्रादेशिक न होकर व्यापार व्यवसाय से सम्बन्धित होता है । ईरान मे ब्रिटेन को वहा के तेल के कुओ को प्रयुक्त करने का अधिकार प्राप्त था । यह प्रभाव क्षेत्र का उदाहरण है ।

साम्राज्य के उदय के कारण

साम्राज्य स्थापना के पीछे कोई एक निश्चित कारण नहीं है । समय और परिस्थिति के कारण परिवर्तन के साथ इसके कारणो मे बदल होती रही है ।

प्रारम्भिक साम्राज्य विजय की लालसा और युद्ध प्रियता के परिणाम थे । उग्र राष्ट्रवाद और आर्थिक लाभ भी इसके कारणो मे प्रमुख रहे हैं । संक्षेप मे साम्राज्यवाद के लिये उत्तरदायी कारणो पर यदि विचार करें तो निम्म कारण प्रमुख है ।

१. मानव स्वभाव :—मानव का यह स्वभाव रहा है कि वह सदैव अपने अधिकार क्षेत्र मे वृद्धि करना चाहता है । कुछ अधिकार प्राप्त करने के पश्चात और भी अधिक अधिकार प्राप्त करने की उसको लालसा रहती है । इसी प्रकार कमजोर को अधीन करके रखने की प्रकृति भी मानव स्वभाव में रही है । मानव का प्रारम्भिक जीवन भी इसी प्रकार का रहा है । प्रारम्भिक काल मे भोजन, निवास आदि की खोज मे निकला मानव एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता रहता था और कमजोर को दबा कर अथवा उसे मारकर उसके भाग पर अधिकार करने की भावना उसमे थी ।

तभी से आक्रमण करने एवं अधिकार स्थापित करने की भावना मानव के मन में बस गई। और इस प्रकार यह उसका स्वभाव बन गया। इस स्वभाव ने साम्राज्य स्थापना में बहुत बड़ा योग दिया।

आधिपत्य स्थापित करने की भावना और विजयलिप्सा

डॉ आर्शीवादम् का कथन है कि "विश्व के मानचित्र को लाल या किसी अन्य रंग से भर देने की उत्कट इच्छा ही निस्सदेह वर्तमान, साम्राज्यवाद निर्माण की शक्तिशाली प्रेरणा रही है।"*

उपरोक्त कथन साम्राज्य स्थापना के एक सही और वास्तविक कारण का उद्घाटन करता है। वर्तमान समय में समूचे विश्व को एक निश्चित व्यवस्था अथवा विचार धारा के अन्तर्गत ले आने की कुटिल अभिलाषा साम्राज्य स्थापना का मुख्य कारण है। प्रत्येक साम्राज्यवादी देश चाहता है कि विश्व में ऐसा कुछ हो कि उसका विरोध नही हो यह तभी सम्भव है जब कि सम्पूर्ण विश्व उसकी विचारधारा अथवा नीति का अवलम्बन करे। बस इसी ध्येय से सम्पूर्ण विश्व को अपने जैसा बनाने की लालसा साम्राज्य स्थापना का कारण बनती है। इसके साथ ही विजय लिप्सा भी बहुत बड़ा कारण है प्रो० शूमा का यह कथन सत्य है कि नवीन साम्राज्य का उदय शक्तिशाली बनने की इच्छा एवं विजय प्राप्त करने की लालसा के परिणामस्वरूप हुआ है।

३ अतिरिक्त जनसंख्या के लिये स्थान

यदि किसी देश की जनसख्या मे वृद्धि हो जाय तो उसके सामने यह समस्या रहती है कि वह अतिरिक्त जनसख्या को कहा बसाये। उसके खाद्यान्न, उद्योग आदि की व्यवस्था कहा और कैसे करे। जनसख्या के भार को कम करने की इच्छा ने भी साम्राज्य स्थापना मे सहयोग दिया गया है। जापान द्वारा कोरिया, मंचूरिया तथा फारमोसा पर किये गये आक्रमण के पीछे यही प्रमुख कारण था। इटली ने इथेपिया लीबिया आदि पर आक्रमण इसी कारण किया।

४. उग्र राष्ट्रवाद

उग्र राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद को जन्म देता है। उग्र राष्ट्रवाद अंधविश्वास और झूठे अहकार के भाव को जन्म देता है इसका यह विचार रहता है कि किसी भी

* "The inordinate desire to paint the map of the world with red or some other colour has no doubt been one of the powerful incentives to the building up of modern imperialism.

Dr. Ashirvatham.

प्रकार अपने राष्ट्र के गौरव की वृद्धि की जाय उसकी सीमाओ को बढाया जाय और उसको आर्थिक दृढता प्रदान की जाय । इस सब के लिये छोटे, कमजोर और अविकासित देशो को जीता जाना है और उन्हे अपने अधीन किया जाता है, अपनी प्रतिष्ठा बढाने के लिए उनका शोषण किया जाता है अपने को शक्तिशाली और महान बतलाने के लिऐ अपनी सीमाओ मे विस्तार किया जाता है और बलात् दूसरे अन्य देशो को दास बनाया जाता है । शक्तिशाली देशो की साम्राज्यवादी नीतियों का मूल कारण उग्रराष्ट्रवाद होता है ।

आर्थिक आवश्यकताऐं

आर्थिक आवश्यकताऐं साम्राज्य स्थापना के लिऐ देशो को प्रोत्साहित करती हैं । जो देश औद्योगिक क्षेत्र मे प्रगति कर चुके हैं, उनको अपना अतिरिक्त माल खपाने के लिऐ अविकसित देशो के बाजारो की आवश्यकता रहती है परिणामतः साम्राज्य स्थापित करने का वे देश प्रयत्न करते हैं इसी कारण कहा जाता है कि साम्राज्य एक व्यापार है । कच्चे माल की प्राप्ति के लिये भी दूसरे देशो की आवश्यकता रहती है । इसके अतिरिक्त और भी कई आर्थिक लाभ हैं जो साम्राज्य स्थापना मे सहायक हैं, जैसे अधीनस्थ देश मे सस्ते मजदूरो का मिलना, भूमि का मिलना, पूंजी लगाने के अवसर, व्यापार मे वृद्धि आदि । स्पष्टतः आर्थिक उद्देश्य साम्राज्य स्थापना मे सहायक रहते हैं ।

धर्मप्रचार तथा मानवतावाद

यह भी साम्राज्य स्थापना का एक कारण है । यद्दपि कोई भी धर्म साम्राज्य स्थापना का आदेश नही देता, तथापि धर्मों के प्रचार और प्रसार के लिऐ साम्राज्य स्थापित किये गये हैं तथा बाद मे राजनीतिक लाभ प्राप्त किये गये हैं । रोमन धर्म-साम्राज्य धर्म प्रचार के आधार पर स्थापित हुए साम्राज्यवाद का एक ज्वलत उदाहरण है । कई देशो मे ऐसा भी हुआ कि प्रथमतः वहाँ धर्म प्रचार किया गया, प्रचारको ने वहाँ वातावरण और पृष्ठभूमि का निर्माण किया उसके पश्चात राजनीतिक और आर्थिक साम्राज्यवाद बनाया, जैसा श्याम में यहूदी पादरियों ने पृष्ठभूमि तैयार की तथा बाद मे फ्रासीसी साम्राज्य की स्थापना हुई ।

मानवतावाद का कारण पर्याप्त आकर्षक और धोखा देनेवाला है । इसका प्रगट उद्देश्य तो महान पर आन्तरिक उद्देश्य काफी गूढ, कूटनीतिक और साम्राज्य-वादी रहा है । प्रायः कहा जाता है कि साम्राज्यवाद की स्थापना पिछड़े देशों का परोपकार करने के उद्देश्य से की जाती है इसका यह ध्येय है कि अविकसित और पिछडी जातियाँ समुन्नत और प्रगतिशील जातियो के सम्पर्क मे आयें और उच्चतम मानवीय मूल्यो को प्राप्त करें तथा प्रगति करें । पर वास्तविकता इसके विपरीत है,

किसी भी साम्राज्यवाद मे अधीन देश की प्रगति नही हुई है। न तो पूर्ण व्यवस्थित एव सुलभ शिक्षा की ही व्यवस्था की जाती है और न उनके जीवन स्तर को उठाने के प्रयत्न किये जाते हैं, उनके स्वास्थ्य की भी कोई चिन्ता नही की जाती उल्टे उनका शोषण किया जाता है।

वास्तविकता यह है कि मानवतावाद का तर्क तो बाद मे साम्राज्यवाद के औचित्य को सिद्ध करने के लिए गढा गया तर्क है। सत्य तो यह कि साम्राज्यवादी कभी भी मानवतावादी हो नही सकता किसी को दास बना कर रखना, सबसे बडा मानवता विरोधी कर्म है।

साम्राज्यवाद से लाभ और हानियां

पार्कर मून (Parker Moon) का कहना है कि "साम्राज्यवाद हमारे युग की सबसे अधिक चित्ताकर्षक सिद्धि और सबसे महान समस्या है।"

मानव सभ्यता के विकास का बहुत बडा इतिहास साम्राज्यवाद के साथ जुडा है। साम्राज्यवाद के लाभ और हानियो से विश्व जितना सम्बद्ध है और जितना प्रभावित रहा है किसी और व्यवस्था अथवा विचार से नही रहा है। साम्राज्यवाद के दो पक्ष हैं अधिपति देश और अधीन देश दोनो ही पक्षो को कुछ लाभ और कुछ हानिया है उनमे से प्रमुख निम्न हैं।

अधिपति देशों को लाभ

१ आर्थिक लाभ

साम्राज्य स्थापना का अधिपति देश को सबसे बडा और प्रमुख लाभ आर्थिक है। आर्थिक लाभ के प्रकार और स्वरूपो मे अन्तर समय-समय पर आता रहा है। अति प्राचीन काल मे अधिपति उपहार, भेंट तथा करो के रूप मे आर्थिक लाभ प्राप्त करता है। यह प्रथा भारत और रोम दोनो स्थानो पर प्रचलित थी। वर्तमान समय मे भी अधिपति देश आर्थिक लाभ प्राप्त करते हैं। उनके उद्योगो को बाजार मिलता है। उद्योगो को कच्चा माल और सस्ती मजदूरी मिलती है।

२ अतिरिक्त आबादी के लिये स्थान

साम्राज्य स्थापित करने का यह एक सुलभ लाभ है। अपने देश की अतिरिक्त आबादी को अधीन राज्यो मे बसाया जा सकता है। और उनकी प्रगति की नयी सम्भावनाओ को जुटाया जा सकता है ब्रिटेन ने ऐसा ही किया है उसने अपनी अतिरिक्त आबादी को अधीन देशो मे बसाना प्रारम्भ कर दिया वहा इन लोगो ने काफी प्रगति की। इस प्रकार ब्रिटेन के सामने अपनी अधिक आबादी को बसाने की समस्या

ही पैदा नहीं हुई। दूसरी ओर जिन देशो के पास अधीन देश नही थे उनके सम्मुख सदैव ही यह समस्या रही है।

३. सत्ता एवं शक्ति वृद्धि में सहायक

अधीनस्थ देश अधिपति देश की शक्ति और सता की वृद्धि मे सहायक रहे हैं। अधीनस्थ देशो से सैनिक प्राप्त होते हैं जिनका रक्त साम्राज्यीय हितों की रक्षा करता है, साम्राज्य की सीमाओ की वृद्धि करता है प्रथम और द्वितीय महायुद्ध मे भी साम्राज्यवादी शक्तियो ने अधीनस्थ देशो मे गठित सेनाओ का प्रयोग अपने हितो के सरक्षण मे किया था। भारत के सैनिकों का खून अफ्रीका और यूरोप के मोर्चों पर बहा था।

४. धर्म, संस्कृति एवं भाषा का प्रचार

साम्राज्यवादी शक्तिया अधीनस्थ देशो में अपने धर्म, अपनी सस्कृति और भाषा का प्रचार और प्रसार करते हैं। स्वाभाविक रूप से विजेता और विजित मे उच्च और हीन भावना रहती है। अतः विजेता की सस्कृति और धर्म उच्च माना जाता है अपने धर्म का प्रचार कर विजेता अपने विचार और जीवन पद्धति का विस्तार करता है। यह सब मानसिक दासता को जन्म देता है। भारत सहित सभी अधीनस्थ देशो मे अंग्रेजो ने यही किया इसका प्रभाव राजनीतिक गुलामी से भी अधिक स्थायी रहता है। हम आज भी उस के कुप्रभाव से पूर्णतः मुक्त नही हो पाये हैं।

अधिपति देशों को हानि

१. स्वेच्छाचारिता का विकास

अधिपति देश जिन लोगो को शासन करने के लिये अधीन देशो मे भेजते हैं उनमे स्वेच्छाचारिता और निरकुशता की प्रवृत्तिया विकसित हो जाती हैं। उनका व्यवहार रुखा और अमानवीय हो जाता है। अन्ततः यह प्रवृत्ति अधिपति देश के भी हित में नही रहती शासन समाप्त करने के पश्चात् जब ये प्रशासक अपने देश मे वापिस जाते हैं तो वहां भी इनका यही व्यवहार रहता है इसके कारण अधिपति देश के समाज मे विकृतियाँ विकसित होने लगती हैं।

२. विलासवृत्ति का विकास

शासक वर्ग मे विलास वृत्ति विकसित होने लगती है। सभी भौतिक सुख, ऐश्वर्य, आराम सहज ही उपलब्ध रहता है। अतः जीवन मे विलासिता आ जाती है। भोग विलास से पूर्ण जीवन का प्रभाव स्वय शासको पर और उसके परिवार पर पडता है। उसकी सतति पर पडता है यह प्रवृति शक्ति का क्षय करती है, और सामर्थ्य एवं पौरुष को समाप्त करने वाली होती है। प्रो० हॉकिंग्स (Hockings) का कथन अर्थ

पूर्ण है कि "किसी भी जाति के लिये एक लम्बे समय तक ऐसी जनता के बीच रहना जिसे वह हेय दृष्टि से देखती है, विशेष रूप से घातक होता है। इससे नैतिकता का स्तर गिर जाता है। अन्त करण अशुद्ध हो जाता है।"

३. पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता का विकास

प्रायः साम्राज्यवादी देशो मे पारस्परिक प्रतिद्वन्दिता उत्पन्न हो जाती है इसका परिणाम युद्धो के रूप में होता है। पारस्परिक ईर्ष्या और कटुता के कारण महायुद्ध तक हो जाते हैं।

अधीनस्थ देशों को प्राप्त लाभ

१. राष्ट्रीय एकता के विकास में सहायक

साम्राज्यवाद का अप्रत्याशित और सर्वाधिक प्रभावशाली लाभ अधीनस्थ देशो को यह है कि साम्राज्यवाद 'राष्ट्रीय एकता' के भाव उत्पन्न करने मे सहायक होता है। प्रायः साम्राज्य वहाँ स्थापित होते हैं जहाँ राजनीतिक चेतना नही होती, अथवा लुप्त हो चुकी होती है, या पारस्परिक कलह के कारण राष्ट्रीय एकता का भाव समाप्त हो चुका होता है। साम्राज्यवाद सभी व्यक्तियो और वर्गों का समान शत्रु होता है, अत. पारस्परिक मतभेदो को भूलकर राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य को प्राप्त करने के लिये राष्ट्रीय एकता स्थापित हो जाती है।

२. भौतिक और वैज्ञानिक प्रगति में सहायक

साम्राज्यवाद के कारण विकसित राष्ट्र अविकसित देशो के सम्पर्क मे आते हैं यह सम्पर्क बहुत बडी सीमा तक अविकसित देशो के हितो मे ही होता है। अधीनस्थ देशो मे यातायात के साधनो का विकास, शिक्षा की प्रगति और वैज्ञानिक उपलब्धियो का उपयोग होने लगता है इससे नागरिको को लाभ होता है और वे समुन्नत लोगो के सम्पर्क मे आते हैं। धीरे-धीरे व्यापार, प्रशासन, राजनीति मे वे निपुणता प्राप्त कर लेते हैं और अन्त मे स्वातन्त्र्य प्राप्त कर औद्योगिक दृष्टि से समुन्नत बनने का प्रयत्न करते हैं।

अधीनस्थ देशों को होने वाली हानियाँ

साम्राज्यवाद के कितने भी लाभ गिनाये जावें, उसका स्वरूप त्याज्य और अवाछनीय है। साम्राज्यवाद की कुछ हानिया अधीनस्थ देश को निम्न हैं।

१. साम्राज्यवाद आर्थिक शोषण का पर्यायवाची

साम्राज्यवाद की व्यवस्था किसी देश मे कितनी भी सुन्दर क्यो न हो उसमे आर्थिक शोषण अवश्यम्भावी है। बिना इसके साम्राज्य स्थापित करने का प्रश्न ही

उपस्थित नही होता । अधीनस्थ देश का पूर्ण शोषण साम्राज्यवाद मे किया जाता है । अधीनस्थ देश का वे कभी भी आर्थिक विकास नही होने देते उसे अपना बाजार बना कर रखते हैं । भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य के बारे मे गाधी जी का कहना था कि "भारतवर्ष मे कानून के अनुसार जो ब्रिटिश सरकार स्थापित हुई है उसका मूल उद्देश्य जन साधारण का शोषण करना है ।"

२ साम्राज्यवाद राजनीतिक दासता का प्रतीक

राजनीतिक दासता तो साम्राज्यवाद है ही साम्राज्यवादी देश अधीनस्थ देश मे कभी भी राजनीतिक चेतना नही फैलने देता । वह स्वय यह प्रयत्न करता है कि अधीनस्थ देश राजनीतिक दृष्टि से पिछडा बना रहे, स्वशासन का इसे ज्ञान न हो इसी कारण कोई भी साम्राज्यवादी अधीनस्थ देश मे जन प्रतिनिधित्व को स्वीकार नही करता । नागरिको के मौलिक अधिकारो की बात तो काफी दूर की बात है । उल्टे वह कानून बना कर दमन करता है और क्रूरतम प्रयत्नो से राजनीतिक चेतना को दबाता है ।

३. नैतिक और सांस्कृतिक विकास

साम्राज्यवाद स्वय मे अनैतिक है यह सबसे बडी अनैतिकता है कि अन्य देशो को दास बनाकर रखा जाय । साम्राज्यवादी देश किसी देश पर आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात् पहिला कार्य विजित प्रदेश की सस्कृति और सभ्यता को समाप्त करने का करते हैं । वे यह प्रयत्न करते हैं कि विजित प्रदेश की भाषा, साहित्य, सस्कृति, और सभ्यता को समाप्त कर अपनी भाषा, सस्कृति, साहित्य व सभ्यता का प्रचार किया जाय । इस प्रयत्न मे बहुत बडा रहस्य यह है कि ऐसा करने से विजित प्रदेश की नयी संतति विजेता देश की भाषा, सभ्यता और संस्कृति में रंग जाती है । परिणामतः उन का विरोध कम हो जाता है । इसी प्रकार यदि व्यक्ति अपनी भाषा को भूल जाय तो उसका प्राचीन परम्पराओ और गौरवशाली अतीत से सम्बन्ध टूट जाता है । ऐसी अवस्था मे उसकी राष्ट्रीय प्रेरणायें समाप्त हो जाती हैं ।

४. जातीय विभेद को बढ़ाता है

साम्राज्यवाद जातीय भेद भाव को बढ़ाता है । विजित देश की विभिन्न जातियो मे पारस्परिक फूट डाल कर सघर्ष प्रारम्भ करता है । इसका परिणाम यह होता है कि अधीनस्थ देश की जनता एक जुट हो कर साम्राज्यवादी देश से संघर्ष करना तो दूर उल्टे आपस मे सघर्ष करने लगती है । अविश्वास की वृद्धि होती है और इसी कारण शक्ति का क्षय होता है भारत में ऐसा ही हुआ । विजेता अग्रेजों ने फूट डालो और राज्य करो (Divide and rule) की नीति अपनाई । अफ्रीका मे भी जाति भेद को बढाया ।

५. युद्ध के समय विजित प्रदेश की जन-शक्ति का अपने हित के लिये प्रयोग

युद्ध और महायुद्धो के समय साम्राज्यवादी शक्तिया, विजित प्रदेश की जन-शक्ति और सम्पत्ति का प्रयोग अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये करती हैं। दोनो विश्व युद्धो मे ऐसा ही हुआ। ब्रिटेन ने भारत की जन-शक्ति और सम्पत्ति का प्रयोग दोनो विश्व युद्धो मे किया।

सहायक पुस्तकें

1 *Political Theory* ... *Asirvatham*
2. Imperialism ... Hobson J A.
3. Economic Imperialism ... Walf
4. Political Ideals .. Burns E D.
5 Encyclopaedia of social sciences ...
6 राजनीतिक शब्दावली ... मॉरिस क्रेन्सटन
7 अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ... फ्रेडरिक एल. शूमा
8 साम्राज्यवाद पूंजीवाद की चरम अवस्था ... लेनिन

14
गांधीवाद
(Gandhism)

गाधीवाद बहुचर्चित और जन प्रिय विचार धारा है। व्यक्तिगत शुभ से लेकर जागतिक कल्याण की प्राप्ति की समस्त सम्भावनाएँ गाधीवाद मे हैं ऐसा दृढ़ विश्वास समाजशास्त्रियो, राजनीतिज्ञो एव अनेको अर्थशास्त्रियो का है पर गाधीवाद वास्तव मे क्या है ? यह एक जटिल प्रश्न है।

गाधीवाद' शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम १९३१ मे गाधी-इर्विन समझौते के पश्चात कराँची मे सम्पन्न हुए काग्रेस अधिवेशन मे एक सार्वजनिक सभा मे स्वयं गांधीजी ने किया था, उनने कहा था कि, 'गांधी मर सकता है पर गांधीवाद सदा जीवित रहेगा' उसी समय से गाधीवाद शब्द प्रचलित हो गया। प्रत्यक्षतः उस समय गांधीजी ने सत्य और अहिंसा पर आधारित अपने विचारो को 'वाद' नाम की संज्ञा दी थी।

गाधी जी एक कर्मयोगी थे, अतः उन्होने अपने जीवन मे राजनीति का कोई क्रमबद्ध सिद्धान्त न तो प्रस्तुत किया और न कभी करने की चेष्टा ही की। परिस्थिति के परिवर्तन के साथ उनके कार्य बदलते गये परिणामतः उनके विचार और उनका कहना भी बदलता गया, गाधी जी ने कहा भी है कि, 'लोग कहते हैं मेरे विचार बदल गये हैं और आज मैं वर्षों पूर्व कही हुई बातो से भिन्न बातें कहता हूँ। सच बात यह है कि परिस्थितिया बदल गई हैं मैं तो वही हूँ मेरे शब्द और कार्य परिस्थितियो के अनुसार ही होते हैं। जिस वातावरण मे मैं रहता हूँ, उसका विकास होता रहा है और सत्याग्रही होने के नाते मुझ पर उसकी प्रतिक्रिया होती रही है।'

गाधीवाद शब्द के प्रयोग मे एक कठिनाई यह भी है कि स्वयं गांधीजी अपने को किसी नये वाद या सम्प्रदाय का प्रवर्तक नही कहना चाहते थे स्वयं उन्होने गाधी-वाद शब्द का विरोध किया। १९३७ मे सावली मे गाधी-सेवा-सघ के सदस्यों के बीच भाषण देते हुए गाधीजी ने कहा, "गांधीवाद नाम की कोई चीज नही है और न ही अपने पीछे मैं कोई ऐसा सम्प्रदाय छोड जाना चाहता हूँ। मैं कदापि यह दावा नहीं करता कि मैंने किन्ही नये सिद्धान्तो को जन्म दिया है। मैंने तो अपने निजी तरीके मे शाश्वत सत्यो को दैनिक जीवन और उसकी समस्याओ पर लागू करने का

प्रयत्न मात्र किया है ..... मुझे ससार को कुछ नया नही सिखाना है।" गाँधीजी ने 'यग इडिया' मे लिखा था कि 'मैने किसी नये सिद्धान्त की सृष्टि न करके प्राचीन सिद्धान्तो को ही नवीन ढग से दुहराने की चेष्टा की है।'

ऐसी परिस्थिति मे हम गाँधीवाद को किसी नवीन मान्यता या नवीन व्यवस्था का प्रवर्तक नही कह सकते जैसा कि सामान्यत वाद के सम्बन्ध मे समझा जाता है। इतना सब सत्य होते हुऐ भी गांधीवाद वास्तव मे है जैसा कि डॉ. पट्टाभि सीतारमैय्या का कहना है कि, "यह (गांधीवाद) एक नवीन धारणा की ओर सकेत करता है या जीवन के परिणामो के प्रति पुरानी धारणा का पुनः प्रतिपादन करता है और 'वर्तमान समस्याओ के लिऐ पुरातन समाधान' उपस्थित करता है।' इसी सदर्भ मे डॉ. महादेव प्रसाद शर्मा का कथन है कि 'गांधीजी के प्राचीन सिद्धान्तो के अनुयायी होते हुए भी, 'गाँधीवाद की बात हम इसलिये कहते हैं कि उन्होने इन सिद्धान्तो को एक नवीन रूप दिया और उनको एक नये क्षेत्र मे प्रयुक्त किया।' इस रूप मे गांधीवाद के होने की बात स्वीकार की जाती है। वास्तव मे जैसा कि डॉ महादेव प्रसाद शर्मा का कहना है, "गांधीवाद वह सिद्धान्त है जो सब प्राणियो को भगवद्रूप और इस कारण समान जान कर सत्य और अहिंसा पूर्ण साधनों द्वारा सभी के कल्याण अथवा सर्वोदय का प्रयत्न करता है और जिसके मतानुसार सभी व्यक्तिगत और सार्वजनिक समस्याएँ सत्य और अहिंसा के द्वारा सुलझाई जा सकती हैं।" गाधीवाद अपनी प्रकृति मे एक ओर वर्ग-सघर्षवादी सभी विचारधाराओ का विरोधी है तथा दूसरी ओर युद्ध, हिंसा आदि सभी छद्मपूर्ण साधनो का भी विरोधी है। ऐसा कहा जा सकता है कि सकारात्कक रूप मे गांधीवाद सत्य, प्रेम, अहिंसा आदि का समर्थक है और नकारात्मक रूप मे वर्ग-सघर्ष, हिंसा, द्वेष, वैमनस्य आदि भेदकारी और विनाशक तत्वो का विरोधी है। डा पट्टाभि सीतारमैय्या के शब्दो मे 'गांधीजी ने अपने सम्बन्ध में (गांधीवाद के सम्बन्ध में) कोई दावे किये हो या न किये हो तथ्य यह है कि एक नवीन विश्व-व्यवस्था के सर्वमान्य संस्थापक के रूप मे उनकी स्थिति से इंकार नही किया जा सकता और विश्व इसकी भी उपेक्षा नही कर सकता कि गांधी और गांधीवाद अपनी सीमाहीन सम्भावनाओ के साथ मानवीय उन्नति के घटक हैं।"

इसमे सन्देह नही कि गांधीजी ने समय समय पर जो भी कुछ कहा उसमे विरोधाभास है पर यह विरोधाभास स्थल रूप से ही देखने मे लगता है गांधीजी ने जो कुछ भी कहा है उसमें आन्तरिक एकरूपता का आभास होता है यह गांधीवाद की प्रमुख विशेषता है। गांधीवाद की मुख्य प्रवृत्तियो का अध्ययन करने के लिऐ आवश्यक है कि हम गांधीजी के स्वय के जीवन, उनकी उक्ति, कार्य आदि का

अध्ययन करें पर यह काफी व्यापक और विशद् प्रक्रिया है, अतः गांधी-सेवा-संघ के प्रधान किशोरलाल जी मश्रूवाला ने निम्न आधारभूत सिद्धान्त बतलाए हैं जिनके आधार पर गांधीवाद की मुख्य प्रवृत्तियो का अध्ययन किया जा सकता है, यथाः—(अ) सेवामय जीवन (ब) उच्च चरित्र और महान उद्देश्य, (स) आत्म सयम एवं नियत्रण और तुच्छ भोग-विलास पूर्ण जीवन के प्रति अनासक्ति तथा (द) उच्चतम सादगी और गरीबी का कठोर जीवन एव शारीरिक-श्रम के लिये सदा तत्परता। जहा तक गांधीवाद की आधारभूत प्रवृत्तियों का सम्बन्ध है अथवा गांधीवाद की आधारभूत मान्यताओ का प्रश्न है यह कह पाना अत्यन्त कठिन है कि हम इस क्रम मे किन किन मान्यताओं को सम्मिलित करें। स्टीफन हावहाउस ने महात्मागांधी के विचारो की कुछ मूलभूत मान्यताओ को लिपिबद्ध किया है उनमे से निम्न प्रमुख हैं।

१. अहिंसा (किसी को हानि न पहुँचाना) इसका अभिप्राय है असीम प्रेम। यह सबसे बड़ा नियम है केवल इसी के द्वारा ही मानव जाति को बचाया जा सकता है।

२. अहिंसा और सत्य एक दूसरे से अभिन्न हैं और दोनो एक दूसरे की पूर्व कल्पना करते हैं।

३. केवल मौखिक शब्दों से अहिंसा का पाठ नही पढाया जा सकता। भगवान की असीम कृपा के फलस्वरूप हमारी सच्ची प्रार्थना प्रत्युत्तर में यह हमारे हृदय में ज्योतित होती है।

४. सत्याग्रह पवित्रता की प्रार्थना द्वारा सब शारीरिक और स्वकेन्द्रित इच्छाओ के नियंत्रण की अपेक्षा रखता है।

५. मानवीय प्रकृति सारतः एक है और इसलिऐ आक्रान्ता (अन्त में) अवश्यमेव प्रेम का प्रत्युत्तर देगा आदि।

उपरोक्त मान्यताओ के अतिरिक्त, ईश्वर में विश्वास, धर्म और राजनीति का समन्वय, राज्य एवं सरकार के प्रति विचार, न्याय पद्धति मे विश्वास गांधीवाद की मान्यताओ मे हैं।

गांधीवाद का तत्वज्ञान

गांधीवाद के तत्वज्ञान का आधार अद्वैतवेदान्त है। गांधीजी इस विश्व के नियन्ता के रूप मे ब्रह्म या ईश्वर को स्वीकार करते थे तथा उसकी सत्ता पर विश्वास करते थे। उनका कहना था कि, 'एक रहस्यमय वर्णनातीत शक्ति है जो प्रत्येक वस्तु मे व्याप्त है। मैं उसे देखता तो नही हूँ परन्तु उसको अनुभव करता हूँ।'

गांधीजी ने इस शक्ति को सत्य के रूप मे पहिचाना है, उनका विचार था कि परमात्मा ही सत्य है और सत्य ही परमात्मा है। गांधी जी का ईश्वर सत् रूप है और उनका सत्य ज्ञान मे हैं हम इसे चित् भी कह सकते हैं और जहा सत्ज्ञान है वही आनन्द ही नही परमानन्द भी है, गांधीजी का ईश्वर सच्चिदानन्द है वे कहा करते थे कि सत्य को पूर्ण रूप से पा लेना ही अपने स्वरूप को समझना है और अपने उद्देश्य को पहिचानना है अर्थात पूर्ण पुरुष बनना है।

प्रश्न यह है कि सत्य क्या है ? गाधीजी का कहना है कि यह अत्यन्त कठिन प्रश्न है, पर स्वय अपने लिये मैंने इसे हल कर लिया है। हमारी अन्तरात्मा जो कहती है वही सत्य है। पर सस्कार भेद के कारण अन्तरात्मा की आवाज मे अन्तर हो सकता है, तब क्या होगा ? ऐसी स्थिति मे शुद्ध अन्तरात्मा की आवाज ही सत्य है। पर शुद्ध अन्तरात्मा कौन-सी है ? अथवा अन्तरात्मा शुद्ध कैसे होती है ? इसके लिये आत्म शुद्धि आवश्यक है, और आत्म शुद्धि सात्विक साधनों से ही हो सकती है, ये सात्विक साधन हैं अहिंसा ब्रह्मचर्य, प्रेम, अस्तेय अपरिग्रह आदि। इन सात्विक साधनो से तथा इनको जीवन मे प्रयोग करते हुए जीवन को निस्पृह एव महान बनाने से अलौकिक शक्ति का प्रस्फुटन होता है और तब अतरात्मा शुद्ध रूप मे आती है। ऐसी स्थिति मे हम सत्य को प्राप्त कर सकते हैं। गांधीजी ने हरिजन मे लिखा था, 'विशुद्ध अन्त.करण एक निश्चित समय पर जो अनुभव करता है वह सत्य है, उस पर दृढ होकर ही हम उसको प्राप्त कर सकते हैं।' क्या सत्य को सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता है ? गांधीजी का कथन था कि नहीं, वह तो स्वत: सिद्ध है। जिस प्रकार अग्नि मे दाहकत्व प्रमाणित करने के लिये अथवा बर्फ की शीतलता प्रमाणित करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती उसी प्रकार सत्य को प्रमाणित करने लिए किसी भी प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। सत्य केवल उपदेश अथवा भाषण मे नही अपितु व्यक्ति के आचरण मे भी प्रकट होता है।

सत्य का इतना विश्लेषण स्वाभाविक रूप से इस प्रश्न को जन्म देता है कि अन्ततः सत्य की प्राप्ति कैसे होगी ? हम कैसे सत्य को प्राप्त कर सकते हैं ? गाधीजी ने सत्य की प्राप्ति का मार्ग अहिंसा मे बतलाया। हम अहिंसा से ही सत्य की प्राप्ति कर सकते हैं। हिंसा से नहीं, जो हिंसा है वह असत्य है। गाधी जी का विचार था कि 'सत्य अहिंसा के बिना सत्य नही अपितु असत्य है।'[1] अहिंसा अपने आप मे सत्य है। सत्यान्वेषी को गाधीजी के शब्दो मे अहिंसक और सत्याग्रही (सत्य का आग्रह करने वाला) होना चाहिये।

[1] Truth without non-violence is not truth but untruth.

मानव जीवन के चरमोच्च उद्देश्य को बतलाते हुए गाधी जी ने स्पष्ट किया था कि मानव जीवन का चरम उद्देश्य भगवान की प्राप्ति है। हमें प्रत्येक कार्य उसी उद्देश्य से प्रेरित होकर करना चाहिए। भगवान की प्राप्ति के लिये हमे अपने अहं को त्यागना होगा और निरहकार रूप के साथ अपने को एकाकार करना होगा। गाधी जी समाज को ईश्वर के रूप मे देखते थे और लोक सेवा द्वारा ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है उनका विचार था 'मैं सम्पूर्ण का अश हू और मैं भगवान को मानव–समाज से पृथक नही पा सकता। मेरा धर्म भगवत्सेवा है और इसी कारण मानव सेवा है।'

अहिंसा

अहिंसा गाँधीवाद की मूलभूत मान्यता है। सत्य की प्राप्ति मे अहिंसा माध्यम है इसका स्थान अत्यन्त महान है सत्य और अहिंसा अन्योन्याश्रित हैं।

अहिंसा की उत्पत्ति और व्याख्या

मौलिक रूप से यह सिद्धान्त प्रत्येक भारतीय 'दार्शनिक और दर्शन' के साथ जुडा हुआ है। इसकी पूर्णता भगवान गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी की शिक्षाओ में देखने को मिलती है। गाधीजी का विचार था कि अहिंसा की उत्पत्ति निषेधात्मकता के परिणामस्वरूप नही हुई, अर्थात किसी की हिंसा न करने से अहिंसा उत्पन्न नही हुई, अहिंसा प्रेम से उत्पन्न होती है। यह हिंसा का या हत्या का विलोम नही है, दादा धर्माधिकारी के शब्दों मे यह प्रेम से उत्पन्न होती है। प्रेम का प्रारम्भ ममत्व से होता है। जब व्यक्ति समष्टि से एकाकार करता है तब 'मैं' और 'तू' का भेद समाप्त हो जाता है और प्रेम का जन्म होता है।

हिंसा के मूल मे वैमनस्य, द्वेष, पार्थक्य, स्वार्थ और घृणा का निवास होता है जब कि अहिंसा के मूल में प्रेम, सहिष्णुता; आत्मीयता रहती है। अहिंसा मे तो शत्रु के प्रति भी प्रेम का भाव रहता है।

साधारणतः हिंसा पाप है पर जीवन निर्वाह के लिये जितनी हिंसा करनी पड़ती है वह क्षम्य है। जैसे हम जीवित रहने के लिए, भरण-पोषण के लिए, आश्रितों की रक्षा के लिए कुछ न कुछ किसी सीमा तक हिंसा करते ही हैं अतः यह हिंसा क्षम्य है और इसी कारण यदि हम अपने आश्रितो की रक्षा के लिये आक्रमणकारी आततायी की हिंसा करते हैं तो वह निन्दनीय नही है।

अहिंसा। मनसा, वाचा, कर्मणा

अहिंसा केवल मात्र निषेधात्मक भावना नहीं है, यह एक निषेधात्मक कार्य है। 'आख के बदले आख' और 'दात के बदले दांत' के सिद्धान्त का निषेध मात्र नही है,

अपितु डॉ० पट्टाभि सीतारमैय्या के शब्दो मे यह (अहिंसा) बुराई को अच्छाई से जीतने का, जो तुम्हारे साथ बुराई करें उनके साथ भलाई करने का, जो तुम्हारे विरोध में उठ खडे हो उन्हें क्षमा करने का और जो तुम्हारा कोट चुरायें उन्हे अपने कोट देने का सिद्धान्त है।' अहिंसा के सिद्धान्त के अन्तर्निहित भाव को प्राप्त करने के लिये मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसा का भाव रखना आवश्यक है,[२] और यही अहिंसा का मर्म भी है अर्थात अहिंसा मे बदले की भावना अश मात्र भी नही होती, हम अपने मन तक मे कुविचार नही लाते, किसी को बुरा नही कहते, किसी को हानि नही पहुँचाते। साधारणतः मनसा, वाचा, कर्मणा की बात अतिमानवीय सी लगती है पर कठोर परिश्रम और अभ्यास के द्वारा इसे प्राप्त किया जा सकता है। हम हिंसा को उत्पन्न करने वाले विचार, भाव, प्रवृत्ति, आदि को समाप्त कर सकते हैं उनके स्थान पर दया,प्रेम, सौहार्दता और धैर्य को प्राप्त कर सकते हैं। इसी से अहिंसा सिद्ध होती है। गाधीवाद मे अहिंसा केवल आदर्श नही है अपितु यह एक मानवीय भावना और क्रियाशील सद्गुण है।

अहिंसा निष्क्रियता और कायरता नहीं है

अहिंसा के उदात्त भाव को जीवन मे लाने का तात्पर्य निष्क्रियता नही है। अहिंसा मे शत्रु के प्रति उपेक्षित होने का भाव नही है अपितु बुराई को न पनपने देने का विचार है। अहिंसा कायरता भी नहीं है कायरता और हिंसा मे गाधी जी ने हिंसा को चुना, गाधी जी कायरता की तुलना मे शस्त्र उठाकर मरना पसन्द करते थे। अहिंसा निर्बलो का नही अपितु अहिंसा सबलो का शस्त्र है निर्बल कायर होता है पर सबल ही वास्तव में अहिंसा का स्वामी होता है। कायरता झुकना सिखाती है पर अहिंसा अत्याचारी की आज्ञाओ का सामना करती है और उनका उल्लघन करती है इसमे यदि कष्ट और मुसीबतें झेलनी पड़ें तो अहिसा उन्हे झेलना सिखाती है। कायरता और अहिंसा मे अन्धकार और प्रकाश जैसा अन्तर है।

अहिंसा जीवन का निर्जीव नही वरन् एक क्रियाशील सिद्धान्त है यह व्यक्ति और समाज दोनो को परम शुभ की प्राप्ति में सहायक होता है। गाधीजी ने अहिंसा को सर्वव्यापी माना है गाधीजी ने उसे सामाजिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत सभी क्षेत्रो मे लागू किया है। गाधीजी का अटूट विश्वास था कि अहिंसा ही विश्व को विनाश से बचा सकती है।

[२] *Gandhiji defined non-violence as "avoiding injury to anything on earth in thought, word or deed."* Harijan September 7, 1935 P. 234

गांधीजी ने अहिंसा की तीन श्रेणियों का उल्लेख किया है:—

(i) सर्वोत्तम अहिंसा.–इस अहिंसा को सबल व्यक्ति प्रयुक्त करता है सबल लाचारी के कारण नही वरन् अपने पूर्ण नैतिक विश्वास के कारण अहिंसा को अपनायेगा।

(ii) व्यावहारिक अहिंसा:–यह परिस्थिति विशेष में उचित नीति के रूप में स्वीकार की जाती है। इसे निष्क्रिय विरोध भी कह सकते हैं इसमें हिंसा को नैतिक विश्वास के कारण नहीं अपितु दुर्बलता के कारण त्यागते हैं।

(iii) निकृष्ट कोटि की अहिंसा:–यह वास्तव में अहिंसा तो नही होती पर इसमे अहिंसा का भ्रम होता है। कायर लोग विपक्षी से घृणा करते हैं और उसको हानि पहुचाना चाहते हैं पर उनमे साहस नही होता अत. वे अहिंसा को अपना लेते हैं। अपनी कायरता छिपाने के लिये अहिंसा का आवरण अपना लेते हैं। गांधीजी ने *कायर व्यक्ति की तुलना में हिंसक व्यक्ति को पसन्द किया है, वे कहते हैं, "कायरता* को छिपाने लिए अहिंसा का आवरण धारण करने की अपेक्षा हमे हिंसाशील होना अधिक अच्छा है।'[3]

मूलतः सत्याग्रह शब्द संस्कृत का है। यह दो शब्दों से मिल कर बना है, सत्य और आग्रह। सत्याग्रह का अर्थ होता है 'सत्य पर दृढ रहना' या 'सत्य का आग्रह करना'। सत्य वह शाश्वत सिद्धान्त है जो विश्व के घटना-चक्र के पीछे किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है।

सत्य के लिये आग्रह उसी समय सम्भव है जब उससे प्रेम किया जाय और उसके लिये कष्ट सहा जाय गांधीजी तभी सत्याग्रह को प्रेम-बल (Love force) या आत्म-बल (Soul-force) कहते थे। गांधीजी के सत्याग्रह सम्बन्धी विचार एकदम पूर्णता को प्राप्त नहीं हुऐ अपितु उनका विकास क्रमशः हुआ। गांधीजी ने सर्व प्रथम इसे दक्षिण अफ्रीका मे खोजा जहा इसे 'निष्क्रिय विरोध (Passive Resistance) नाम दिया और पीड़ित एव पीड़क दोनो को ही समान रूप से ईश्वर तक पहुंचाने वाले साधन के रूप मे स्वीकार किया। वस्तुतः 'निष्क्रिय विरोध' सत्याग्रह नहीं है। निष्क्रिय विरोध मे हिंसा का प्रयोग इस कारण नही किया जाता क्योंकि विरोध करने वाले अपेक्षाकृतः दुर्बल होते हैं वे शक्तिशाली विपक्षी से डरते हैं। पर मौके पर वे हिंसा का प्रयोग कर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। इसके विपरीत सत्याग्रह साहसी

[3] It is better to be violent if there is violence in our breasts than to put on the cloak of non-violence to cover impotence. **Harijan Oct 21, 1939 P. 310.**

और शक्तिशाली का साधन है, सत्याग्रही किसी का भय नहीं मानता वह सत्य के लिए बलिदान देने की तैयारी रखता है साथ ही प्रतिपक्षी के प्रति वह बुरे विचार नहीं रखता अपितु उसके प्रति प्रेम रखता है। सत्याग्रही मानव आत्मा की एकता में विश्वास रखता है। उसका उद्देश्य हृदय-परिवर्तन का होता है उसके कार्यों और जीवन में घृणा, द्वेष, पार्थक्य का कोई स्थान ही नहीं होता वह इन मनोविकारों से प्रभावित नहीं होता निष्क्रिय विरोध में प्रेम और सौहार्दता को कोई स्थान नहीं है। निष्क्रिय विरोध नकारात्मक और स्थिर है जब कि सत्याग्रह सकारात्मक और गतिशील है।

सत्याग्रह का पूर्व इतिहास

सत्याग्रह के ऐतिहासिक आधार और उसकी प्राचीनता को बतलाते हुए गांधीजी ने कहा है कि 'जब डेनियल ने अपनी अन्तरात्मा को क्षुब्ध करने वाले मीड और परसियन के नियमों का अनादर किया और उनकी अवज्ञा के दण्ड को विनय पूर्वक सहा तब उसने शुद्धतम रूप में सत्याग्रह किया। सुकरात एथेंस के युवकों के आगे सत्य का प्रतिपादन करने में जरा भी विचलित नहीं हुआ और उसने बहादुरी से मृत्यु का आलिंगन किया, इस दशा में वह सत्याग्रही था। प्रह्लाद, मीरा सत्याग्रही थे।' सत्याग्रह में सत्य के स्वरूप को बतलाते हुए गांधीजी ने कहा 'हमें याद रखना चाहिये कि न तो डेनियल, न सुकरात, न प्रह्लाद और न मीराबाई का अपने अत्याचारियों के विरुद्ध कोई द्वेष-भाव था।'

सत्याग्रह के सिद्धान्त की गांधीवाद में उत्पत्ति

गांधीजी ने सत्याग्रह के सिद्धान्त को पारिवारिक वातावरण में ही सीखा, इसके पश्चात इस शस्त्र का प्रयोग उन्होंने सामाजिक जीवन में किया। गांधीजी को यह सिद्धान्त उनकी पत्नि कस्तूरबा से मिला। गांधीजी ने कस्तूरबा को अपनी इच्छा के सामने झुकाने का प्रयत्न किया पर कस्तूरबा ने गांधीजी की इच्छाओं का दृढ़तापूर्वक विरोध किया अन्त में गांधीजी ने अपनी गलती को अनुभव किया। यह ऐसी घटना है जिसमें गांधीजी ने सत्याग्रह का पाठ पढ़ा।

सत्याग्रही के गुण

सत्याग्रही में निम्न गुण होने चाहिये।

१. *सत्याग्रही में पूर्ण सत्यता और ईमानदारी होनी चाहिये।* 'भगवान के निर्देशन में चलाये जाने वाले हमारे पवित्र युद्ध में किसी रहस्य को हमें छिपाना नहीं है, उसमें धूर्तता को कोई स्थान नहीं है, झूठ के लिए कोई जगह नहीं है। शत्रु के सामने सब कुछ खुले में किया जाता है।'[4]

[4] स्टीफन हाउस द्वारा संग्रहीत गांधीजी के उपदेश से

२ सत्याग्रही मे पूर्ण अनुशासन होना चाहिये, सयम भी इसी मे आता है। इस अनुशासन को बनाऐ रखने के लिए गांधीजी ने सत्याग्रही को जो प्रतिज्ञा-पत्र बनाया उसमे अनेक नियम दिये जिनका सत्याग्रही को पालन करना होगा।[5]

३. सत्याग्रही मे त्याग होना चाहिये, सत्याग्रह (सत्य-शक्ति या आत्मिक शक्ति) पवित्रता की प्रार्थना द्वारा सब शारीरिक और स्व-केन्द्रित इच्छाओ के नियंत्रण की अपेक्षा रखता है।

४. सत्याग्रही के मन में कभी भी प्रतिपक्षी को हानि पहुँचाने की भावना नहीं रहती।

सत्याग्रह की विधि

गाधीजी ने अपने जीवन में अनेक प्रकार से सत्याग्रह के सिद्धान्त का प्रयोग किया था। सत्याग्रह के निम्न स्वरूप प्रमुख हैं, असहयोग, हड़ताल, उपवास, प्रार्थना, प्रतिज्ञा, कर-बन्दी, धरना, सविनय अवज्ञा, हिजरत, अनशन आदि.

धर्म और राजनीति

गाधीवाद राजनीति और धर्म मे समन्वय का समर्थक है। गाधीवाद का विचार है कि 'धर्म रहित कोई भी राजनीति नही है।' गांधीजी ने अपने कार्यों के पीछे प्रेरक शक्ति के रूप मे धर्म को स्वीकार किया है। वे कहते थे 'मेरा प्रेरक भाव विशुद्ध धार्मिक है। वस्तुतः धर्म और राजनीति को अलग-अलग मानकर चलना यह पाश्चात्य विचार है।'

राज्य और सरकार

राज्य के सम्बन्ध मे गाधीजी के विचार अराजकतावादी हैं। गाधीजी को विवेक पूर्ण अराजकतावाद (Enlightened Anarchism) का समर्थक कहते हैं। गाधीजी का लौकिक आदर्श वर्गविहीन और राज्य विहीन समाज की स्थापना है। इस व्यवस्था मे किसी भी प्रकार के नियत्रण की आवश्यकता नही है। गांधीजी का कहना है कि, 'ऐसी व्यवस्था (विवेकपूर्ण अराजकतावाद) मे प्रत्येक व्यक्ति स्वयं पर शासन करता है। वह स्वयं पर इस प्रकार शासन करता है कि वह अपने पडोसी के लिये भी कभी

[5] सत्याग्रह प्रतिज्ञा की पहिली प्रतिज्ञा इस प्रकार है "मैं शुद्ध मन से घोषणा करता हूँ कि जब तक मैं एक सक्रिय सत्याग्रही हूँ, मैं वाचा और कार्यों से अहिंसक रहूँगा और अपने इरादे से अहिंसक बनने का सच्चे हृदय से प्रयत्न करूंगा।"

बाधा नही बनता । अतएव आदर्श व्यवस्था मे कोई राजनीतिक शक्ति नही रहती क्यो कि उसमे कोई राज्य नही होता ।'[6]

गाधीजी ने स्वीकार किया है कि यह तो पूर्ण आदर्श स्थिति है पर आज राज्य आवश्यक है पर वे राज्य को अधिक शक्तियां देने के समर्थक नही थे वे राज्य की शक्तियों की वृद्धि को काफी आशका की दृष्टि से देखते थे राज्य को वे केन्द्रित और सगठित हिंसा (Concentrated and organised violence) मानते थे । अत वे सत्ता के विकेन्द्रीकरण के पक्ष मे थे । गाधीजी राजनीतिक, प्रशासनिक और आर्थिक तीनो विकेन्द्रीकरणो के समर्थक थे ग्राम पचायतो का इसी आधार पर गाधीवाद मे समर्थन मिलता है । गांधीवादी राज्य का कार्यक्षेत्र काफी सीमित और छोटा है ।

गाधीवाद एक ऐसे राज्य की स्थापना का समर्थक है जिसमे प्रत्येक गाव पूर्ण गणराज्य हो, वह अपनी आवश्यक वस्तुओ के लिये पडोस पर निर्भर न रहे, गाव के झगड़े तथा अन्य सभी मामले पचायत सुलझाया करे । गाधीवाद ग्राम मे स्वय की पाठशाला होगी, नाट्यशाला होगी, वर्तमान जैसी अस्पृश्यता नही होगी, जाति-पाति नही होगी । राज्य के ध्येय के सम्बन्ध मे गाधीवाद का विचार है कि राज्य का ध्येय सर्वोदय की स्थापना करना है । इस क्रम मे राज्य स्वयं साध्य न होकर व्यक्ति की प्रगति और उन्नति मे साधन का कार्य करेगा । क्योकि राज्य के कार्य काफी कम होगे अत: ऐच्छिक समुदायों का महत्व पर्याप्त बढ जायगा ।

जहाँ तक राज्य और व्यक्ति के सम्बन्धो का प्रश्न है गाधीवाद यह स्वीकार करता है कि दोनो के सम्बन्ध मधुर होने चाहिये पर यदि व्यक्ति और राज्य मे विरोध आता है तो ऐसी स्थिति मे गाधीजी दोनो (व्यक्ति और राज्य) को अहिंसात्मक ढग से एक दूसरे के विरुद्ध कार्य करने की सलाह देते हैं । पर साथ ही विशेष परिस्थितियो मे व्यक्ति के विरुद्ध राज्य द्वारा शक्ति-प्रयोग को भी स्वीकार करते हैं । गाधीवाद राज्य की राजनीतिक व्यवस्था मे मृत्युदण्ड का विरोधी है ।

आर्थिक विचार

गाधीवाद बडे-बडे मिल और कारखाने खोलने का पक्षपाती नही है । वह सदैव कुटीर उद्योग और आर्थिक विकेन्द्रीकरण का समर्थक है । गाधीजी का विचार था कि मशीनें मनुष्य के लिये हैं मनुष्य मशीनें के लिये नही है । मशीनो से शोषण प्रारम्भ हुआ है अतः गाधीवाद बडी-बडी मशीनो का विरोधी है । जो मशीन सर्व साधारण के

[6] In such a state (of enlightened anarchy) every one is his own ruler He rules himself in such a manner that he is never a hindrance to his neighbour. In the ideal state, therefore there is no political power because there is no state. Gandhiji Yourg India July 2, 1931. p 162.

हित का साधन है वह उचित है, जो नही है गाधीवाद मे उसका विरोध है। गाधी जी का कहना था कि, 'मैं गृह उद्योगो मे काम आने वाली मशीनो के प्रत्येक सुधार का स्वागत करूंगा।'

सम्पत्ति को गाधीवाद समाज की धरोहर समझता है गाधीवाद न्यास (Trusteeship) पद्धति का समर्थक है सम्पत्ति के वितरण के लिये जोर जबर्दस्ती या राज्य की हिंसक नीति का समर्थक नही है गाधीवाद इसके लिये हृदय परिवर्तन मे विश्वास रखता है इस विधि मे सपत्तिवान लोग स्वयं स्वेच्छा से सम्पत्ति-दान देगें जैसे कि वर्तमान मे विनोवा भावे इस कार्य को कर रहे हैं।

आर्थिक क्षेत्र मे गाधीवादी अर्थ व्यवस्था पूर्णतः भारतीय तत्व ज्ञान और आदर्शों पर आधारित है गाधीवाद त्यागपूर्ण भोग का समर्थक है और ईशोपनिषत् के मत्र के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने की सलाह देता है वह मत्र निम्नप्रकार है:—

"ॐ ईशावास्यमिद सर्वं यत्किञ्चित जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यचिद्धनम्॥"

अर्थात् "यह समस्त जगत और इसमे जो कुछ भी है वह ईश्वर से व्याप्त है। इसका त्याग के साथ भोग करो। जो कुछ दूसरे का धन या भाग है उसका लालच मत करो।"

रोटी के लिये श्रम (Bread Labour)

गाधीवाद का प्रमुख सिद्धान्त है इसके अन्तर्गत इस बात की व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आजीविका के लिये कुछ न कुछ शारीरिक परिश्रम करना ही चाहिये। फिर चाहे वह गरीब हो या अमीर हो। गाधीजी ने बौद्धिक या मानसिक श्रम को इस श्रेणी मे नही गिना। गाधीजी स्वेच्छा से 'रोटी के लिये श्रम' का आर्थिक और शारीरिक महत्व स्वीकार करते थे इससे लोगो मे नैतिक अनुशासन और बुनियादी परिवर्तन आवेगा।

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीयता

गाधीवाद राष्ट्रीयता का समर्थक है। किन्तु गाधीवाद की राष्ट्रीयता सकुचित या सीमित नही है और न वह अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग मे बाधा ही है। गांधीजी का विचार था कि राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता का आधार है स्वय गाधी जी के शब्दो मे, 'मेरे विचार से बिना राष्ट्रवादी हुये अन्तर्राष्ट्रीयतावादी होना असम्भव है अन्तर्राष्ट्रीयतावाद तभी सम्भव है जबकि राष्ट्रवाद यथार्थ बन जाय, जबकि विभिन्न देशो के व्यक्ति अपने को संगठित करके एक हो जायें।' [7]

[7] *In my opinion*, *it is impossible for one to be internationalist* without being nationalist. Internationalism is possible only when nationalism becomes a fact i. e. When people belonging to different countries have organised themselves and are able to act as one man.

राष्ट्रीयता विश्व मे सत्य की स्थापना मे सहयोगी है वह असत्य को है। दूसरे को गुलाम बनाकर रखना असत्य और गलत है राष्ट्रीयता राज्यो को मुक्त करके ऐसा होने से रोकती है यही कारण था कि गाधीजी स्वराज्य के सघर्ष मे उपनिवेशवादियो के विरोधी थे भारत के स्वतन्त्रता सग्राम मे गाधीजी ने कहा था "मैं भारत की मुक्ति के द्वारा पश्चिम के शोषण के घातक एडियो से पृथ्वी के तथाकथित दुर्बल लोगो (देशो) का उद्धार करना चाहता हूँ।"[8]

गाधीवाद अन्तर्राष्ट्रीयता का भी समर्थक है मानव कल्याण के लिए अन्तर्राष्ट्रीयता अनिवार्य है। गाधीजी इसके लिये भारत के परम्परागत आदर्श के अनुकूल कार्य करने की बात कहते हैं। उनका कहना है कि हमारी यह परम्परा है कि व्यक्ति स्वय के हितो का बलिदान परिवार की भलाई के लिये करता है, परिवार के हितो का बलिदान ग्राम की भलाई के लिए करता है, ग्राम के हितो का बलिदान मण्डल के लिए और मण्डल का प्रान्त के लिए तथा प्रान्त के हितो का बलिदान राष्ट्र के लिए करता है इसी क्रम मे उसे राष्ट्र हितो का बलिदान विश्व के लिए करना चाहिए।

गांधीजी स्वय ऐसे विश्व सघ की स्थापना के समर्थक थे जिसमे छोटे से छोटा देश भी बडे से बडे देश के साथ समानता का अनुभव करे। गाधीजी ने साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का सदैव विरोध किया।

गांधीवाद की आलोचना

गांधीवाद आधुनिक राजनीतिक चिन्तन मे विशेप स्थान रखता है पाश्चात्य विचारो के आधार पर सगठित समाज प्रणाली असफल होकर सतुलित और व्यवस्थित स्थिति को प्राप्त करने के लिए गांधीवाद की ओर देख रही है स्थायी शाति इसमे मिल सकती है ऐसा लगता है पर इतना होने पर भी गाधीवाद की कुछ अपनी कमजोरिया हैं आलोचको का कहना है कि गांधीवाद भी पूर्ण नही है इसके निम्न कारण हैं

१. गाधीवाद ने मानव स्वभाव का चित्रण अतिरजित तरीके से किया है। गांधीवाद प्रत्येक व्यक्ति की अच्छाइयो मे तो विश्वास करता है पर उसने व्यक्ति की बुराइयो को देखने का प्रयत्न नही किया।

२. गांधीवाद का पूर्ण रूप या पूर्ण विचार भावात्मक अधिक है यथार्थ कम है पूर्ण अहिंसक समाज की स्थापना असम्भव है पर गाधीवाद उसी पर जोर देता है। इस रूप मे गाधीजी उतने ही काल्पनिक विचारक लगते है जितना कि प्लेटो था।

गाधीवाद का राजनीतिक दर्शन कभी भी व्यवहार मे नहीं आ सकता वह अतिवादी है, अव्यवहार्य और अत्युक्तिपूर्ण है।

[8] Through the deliverance of India, I seek to deliver the socalled *weaker races of the earth from the crushing heels of western* exploitation". Gandhiji Young India Vol. III p. 548.

३. आर्थिक योजनाएँ एव नीतियां किसी सीमा तक ठीक हैं परन्तु आज यह सम्भव नही कि एक पूंजीपति उदारतापूर्वक अपनी सपत्ति का दान समाज हित मे कर देगा भूदान या सम्पत्ति दान आन्दोलन सफल हुए हैं ऐसा कहा नहीं जा सकता उल्टे गाधीव द का प्रन्यास सिद्धान्त तो प्रच्छन्न रूप से पूँजीवाद का समर्थक ही लगता है इसके माध्यम से पूँजीवाद का विनाश असम्भव ही लगता है आज के युग मे यह अव्यवहार्य है। गाधीवाद पूँजीवाद के दो मूल श्रोतों को समाप्त करने मे लगभग असफलसा है वे श्रोत हैं अतिरिक्त मूल्य की प्राप्ति और अधिक उत्पादन।

४ गांधीवाद यन्त्रीकरण का विरोधी है, पर जिस प्रकार के विश्व मे हम रह रहे हैं उससे पृथक रह पाना भी अपने अस्तित्व के लिये उपयोगी नही है आजका युग है यन्त्रीकरण और औद्योगीकरण का इसके बिना काम नही चल सकता है कुछ क्षेत्र तो ऐसे हैं कि वहा बिना औद्योगीकरण के काम नही चल सकता।

५. गाधीवाद कुछ ऐसी मूलभूत बातो पर विश्वास करता है जिनको अपनाने की अपेक्षा हम समाज के सभी वर्गों और लोगो से नही कर सकते। गांधीवादी विचारो को कुछ चुने हुये लोग ही कार्यान्वित कर सकते हैं जैसे अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अपरिग्रह आदि। जन साधारण के लिए यह कदापि सम्भव नही कि वह अपने जीवन को इन महान तत्वो के द्वारा पूर्णतः सचालित कर सके। प्राचीन काल मे भी ये सिद्धान्त सामान्य जन के जीवन के लिये नही थे और न ऐसा कोई उदाहरण है जब कि सम्पूर्ण समाज इन सिद्धान्तों को आचरण मे ला सका हो।

६ गांधीवाद की योजनायें और विचार शीघ्र लाभ पहुँचाने वाले नही लगते उनके लिये समय चाहिये लेकिन उस समय तक असतोष कितना बढ जायगा इसकी सहज कल्पना करना अत्यन्त कठिन है वैसे भी आज की परिस्थितियो मे यंत्र विहीन ग्रामीण अर्थ व्यवस्था और पूर्णतः स्वावलम्बित जीवन एक निरर्थक प्रलाप है।

सहायक पुस्तकें

1. An Autobiography or the story of my Experiments, with truth ... ... **M. K. Gandhi**
2. Satyagraha in South Africa ... **M. K. Gandhi**
3 The political Philosophy of Mahatma Gandhi . **Gopi Nath Dhawan**
4. Mahatma Gandhi ... **Romain Rolland**
गाधी और गाधीवाद भाग १ व २, .. पट्टाभि सीता रमैय्या
6 आधुनिक राजनीति के विभिन्न वाद .. महादेव प्रसाद शर्मा
7. गाधीवाद की रूप-रेखा रामनाथ सुमन